भक्ति काव्य में प्रेमाभिव्यक्ति के
ध रूपों अ

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि
हेतु प्रस्तुत

शोध
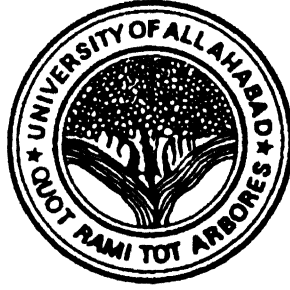
निर्देशिका :
डॉ० शैल पाण्डेय
रीडर, हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

प्रस्तुतकर्त्री :
कु० गीता देवी त्रिपाठी
शोध छात्रा, हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

हिन्दी विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

2002

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

- भूमिका i-v

अध्याय–1

- भक्ति आन्दोलन 1–22

अध्याय–2

- प्रेम का स्वरूप 23–42

अध्याय–3

- भक्ति का स्वरूप विवेचन 43–57

अध्याय–4

- भक्ति काव्य में प्रेमाभिव्यक्ति के विविध रूप 58–212

अध्याय–5

- भक्ति काव्य में प्रेम वर्णन के विभिन्न प्रतीक 213–253
- सहायक ग्रंथ सूची 254–267

भूमिका

मनुष्य एक चेतनाशील प्राणी है। मनुष्य के समस्त कार्य चेतन एंव अचेतन जगत के तत्वों से अनुप्राणित हैं। यही चेतना जागतिक कार्य व्यापारों से ऊपर उठकर परम चेतन तत्व से अपनी सम्बद्धता स्वीकार करने की स्थिति में स्वयं परम चेतन हो जाती है।

ससीम से असीम होने की यही साधना भारतीय मनीषा का अन्तः प्राण है। सन्तों ने भी अपनी चेतना को यही तात्विक ऊँचाई दी। इन्हीं सन्तों एवं भक्तों के सरल निःस्पृह जीवन ने हिन्दी साहित्य की धारा को नया मोड़ दिया, जिसके प्रेम, भक्ति, सर्वसमभाव से रसप्लावित हो जन जीवन नवीन स्फूर्ति एवं चेतना से भर उठा तथा इस वेगवान धारा में उसके समस्त विकार चूर–चूर होकर बह गये। संतमार्ग का पहला सूत्रवाक्य ही है–अहंकार का नाश। यही अहंकार समस्त दोषों का कारण स्वरूप है। स्वयं के दोषों दुर्बलताओं को दूर करके, दृढ़ विश्वास, प्रेम एंव हृदय की शुद्धता के द्वारा सन्तों एंव भक्तों ने अपने काव्य में ईश्वर के प्रति प्रेम को विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त किया है।

भक्त और भगवान के बीच शाश्वत आध्यात्मिक संबंधों की लौकिक भूमिका की जैसी मार्मिक परिकल्पना की गयी है उसे देखते हुये यह जिज्ञासा सहज ही जागृत होती है कि इसका मूल भूत आधार क्या है? ईश्वर से प्रेम करने का जो मधुर स्वाद है वह 'गूंगे के गुड़ की भाँति' अनुभवगम्य है और उस ईश्वर को समझने के लिये प्रेम दृष्टि ही अपेक्षित है, जिसके द्वारा अगम्य ब्रह्म प्रेम का याचक बनकर प्रत्यक्षानुभव का विषय बन जाता है।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध पाँच अध्यायों में विभक्त है।

प्रथम अध्याय "भक्ति आन्दोलन" है। भक्ति आन्दोलन के संबंध में विभिन्न विद्वानों के मतों की संक्षिप्त में चर्चा करते हुये भक्ति की प्राचीनता को सिद्ध किया गया है। वैष्णव भक्त आलावारों ने जिस भक्ति–आन्दोलन को चलाया था उनमें भक्ति आन्दोलन को तीव्र करने वाले भक्ति के विविध सम्प्रदायों की विवेचना करते हुये यह बताया गया है कि सभी सम्प्रदायों का मूल उद्देश्य एक ही है–वह है प्रेमाभक्ति के द्वारा ईश्वर की प्राप्ति जिसमें आध्यात्मिक उन्नति के साथ–साथ सामाजिक उत्थान के तत्व भी निहित हैं।

द्वितीय अध्याय का शीर्षक 'प्रेम का स्वरूप' है–जिसके अन्तर्गत प्रेम के स्वरूप की विवेचना करते हुये प्रेम का सौन्दर्य से संबंध एवं प्रेम का काम से भी संबंध को दर्शाया गया है। प्रेम के महत्वपूर्ण पक्ष संयोग एवं वियोग की विवेचना करते हुये भक्ति काव्य में संयोग की अपेक्षा वियोग की व्यापकता पर प्रकाश डाला गया है।

तृतीय अध्याय का शीर्षक 'भक्ति का स्वरूप विवेचन' है। इसके अन्तर्गत भक्ति के स्वरूप की विवेचना करते हुये प्रेम को भक्ति का मूल तत्व सिद्ध किया गया है तथा इस बात पर भी प्रकाश डाला गया है कि बाह्य दृष्टि से भक्ति एवं प्रेम में भले ही भिन्नता दिखाई देती हो लेकिन तत्वतः दोनों एक ही हैं। शोध–प्रबन्ध का चतुर्थ अध्याय है "भक्ति काव्य में प्रेमाभिव्यक्ति के विविध रूप"। यह शोध–प्रबन्ध का महत्वपूर्ण अध्याय है। इसके अन्तर्गत प्रेम के विविध रूपों का अध्ययन कबीर, जायसी, सूर, तुलसी एवं मीरा के विशेष संदर्भ में किया गया है।

कबीर की प्रेम भावना आत्मानुभूति प्रेरित होने के कारण स्वाभाविक बन पड़ी है। इनके दाम्पत्य प्रेम में संयोग की अपेक्षा वियोग की प्रधानता है। कबीर की विरहिणी कोई साधारण लौकिक

नारी नहीं है परन्तु आध्यात्मिक परिणय में आबद्ध उसकी आत्मा ही है।

कबीर की भाँति जायसी का प्रेम निराकार परमेश्वर के प्रति होता है। अन्तर केवल इस बात में है कि जहाँ कबीर आदि सन्तों ने ईश्वर को पति के रूप में मानकर प्रेम किया वहीं जायसी आदि सूफियों ने ईश्वर को पत्नी के रूप में स्वीकार किया। सूफियों की भक्ति अलौकिक प्रेम की व्यंजना का माध्यम होने पर भी विरहानुभूति उनके जीवन और काव्य की मूल चेतना सिद्ध होती है।

जहाँ सूर के काव्य में प्रेम के वात्सल्य, सख्य एवं माधुर्य तीनों भावों की उत्कट व्यंजना हुई है, किन्तु इनके काव्य में दाम्पत्य प्रेम की ही प्रधानता है। जबकि तुलसी के प्रेम में दास्य भाव ही प्रधान है।

मीरा ने कृष्ण को पति मानकर उनके प्रति अपने प्रेम को अभिव्यक्त किया है। मीरा के प्रेम में संयोग की अपेक्षा वियोग पक्ष ही प्रधान है।

पंचम अध्याय का शीर्षक है–"भक्तिकाव्य में प्रेम वर्णन के विविध प्रतीक"। इसके अन्तर्गत भक्तिकालीन कवियों के प्रेम वर्णन के विविध प्रतीकों को दर्शाने का प्रयास किया गया है। प्रेम के क्षेत्र में ये प्रतीक मुख्य से चातक, खंजन, चकोर, चकवा, मीन, जल आदि हैं। भक्त एवं सन्तों ने इन्हीं प्रतीकों के द्वारा अपने प्रेम को व्यंजित किया है।

इस शोध प्रबन्ध की पूर्णता के अवसर पर मेरा मन विभिन्न विद्वानों एवं महानुभावों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने की भावाकुल हो रहा है।

शोध प्रबन्ध के पूर्ण होने में निर्देशिका श्रद्धेया डॉ० शैल पाण्डेय (रीडर, हिन्दी विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद) का असीम

स्नेह संबंल है, जिन्होंने समय–समय पर अपना बहुमूल्य सुझाव देते हुये अपने ज्ञान से हमारे शोध में सहायता पहुँचायी। उनके वैदुष्यपूर्ण निर्देशन का प्रतिफलन ही यह शोध–प्रबन्ध है। अतः मैं उनके प्रति आजीवन श्रद्धावनत एवं ऋणी हूँ।

तदुपरान्त मैं हिन्दी विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद के गुरूवर प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र के प्रति अपनी आत्मिक श्रद्धा अर्पित करती हूँ जिन्होंने समय–समय पर हमारे मनोबल को ऊँचा किया एवं विचलित क्षणों में भी कार्यरत रहने का सुझाव दिया। उनकी कृपा का मूल्यांकन शब्दों की परिधि से परे है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के विभागाध्यक्ष प्रो० राजेन्द्र सिंह एवं रीडर डा० राम किशोर शर्मा के प्रति ह्रदय से आभारी हूँ जिन्होंने समय–समय पर अपने व्याख्यानों के द्वारा मुझे प्रभावित किया।

मैं आदरणीय श्री आर०सी० सिन्हा जी के प्रति ह्रदय से आभार प्रकट करती हूँ जिनका सत्परामर्श एवं सद्भाव इस शोध–प्रबन्ध की पूर्णता में उपकारक बना है।

इस अवसर पर परिवारजनों का स्मरण करना मैं अपना परम कर्तव्य समझती हूँ। सर्वप्रथम आदरणीय माता–पिता के प्रति मैं अपना हार्दिक आभार प्रकट करती हूँ। श्रद्धेय पितृ तुल्य भ्राता श्री स्वराज भूषण त्रिपाठी एवं आदरणीया भाभी अनिता त्रिपाठी के प्रति अपनी आत्मिक श्रद्धा अर्पित करती हूँ जो मेरे शैक्षिक एवं व्यवहारिक जीवन के प्रेरणा स्रोत रहे हैं। मैं भाई विजय बहादुर त्रिपाठी एवं अजय कुमार त्रिपाठी के प्रति ह्रदय से आभारी हूँ जिन्होंने समय–समय पर शोध–सामग्री उपलब्ध करवाने में सहायता की। मैं श्रीमती मीनू त्रिपाठी के प्रति हृदय से आभारी हूँ जिनका सद्भाव हमारे साथ रहा है। मैं संजय पाण्डेय के प्रति हृदय से आभार प्रकट करती हूँ जिन्होंने शोध–प्रबन्ध की पूर्णता में हमारा साथ दिया।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग इलाहाबाद के संग्रहालयाध्यक्षा साधना चतुर्वेदी के प्रति एवं हिन्दी विभाग की पुस्तकालय में कार्यरत कुमार वीरेन्द्र जी के प्रति भी आभार प्रकट करती हूँ, जिन्होंने शोध के लिये सामग्री उपलब्ध करायी। साथ ही मैं "जय दुर्गे माँ कम्प्यूटर प्वांइट" के समस्त कर्मचारियों के सहयोग के लिए आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने मेरे शोध–प्रबन्ध को पूर्ण करने में सहायता प्रदान की।

अन्त में मैं उन समस्त आदरणीय एवं सुहृद्जनों का पुनः स्मरण करती हूँ जिनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सद्‌भाव इस शोध–प्रबन्ध की पूर्णता में उपकारक बना है।

गीता देवी त्रिपाठी

दिनांक : 24-12-2002 **(कु० गीता देवी त्रिपाठी)**

अध्याय–1

भक्ति आन्दोलन

भक्ति आन्दोलन का उद्देश्य आध्यात्मिक उन्नति के साथ–साथ सामाजिक उत्थान भी था। भक्ति मार्ग की प्राचीनता के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किये हैं। भक्ति मार्ग को केवल भागवत धर्म के साथ एकात्म करके नहीं देखा जाना चाहिये। शैव, शाक्त, जैन, बौद्ध तंत्र, योग आदि सम्प्रदायों की साधना प्रणालियों में भी भक्ति किसी न किसी रुप में प्रकाशित होती रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि भक्ति भाव अन्तः सलिला के रुप में इस देश के लोक जीवन में बराबर प्रवाहित रही है और उसके सोते फूटते रहे हैं। पर इतना अवश्य है कि भागवत धर्म के साथ भक्ति का सम्बन्ध प्रारम्भ से ही अधिक घनिष्ठ रहा है।

भारतीय भक्ति आन्दोलन का बहुत ही महत्वपूर्ण विस्तृत इतिहास है। भारतीय भाषाओं में मध्य युग में जो विपुल भक्ति साहित्य निर्मित हुआ है वह भक्ति आन्दोलन की महती देन है। वैदिक काल से लेकर भक्ति–आन्दोलन के काल तक भक्ति–भावना का विकास कई अवस्थाओं में हुआ है। आज वैष्णव भक्ति का जो स्वरुप है, वह बहुत कुछ वैष्णव भक्ति आन्दोलन का परिणाम है–जिसका नेतृत्व वैष्णव भक्त आलावरों ने ईसा की छठी शताब्दी से नवीं शताब्दी तक किया था। कालान्तर में मध्य युग में वैष्णव भक्ति आन्दोलन उत्तरोत्तर प्रबल होकर एक ब्यापक जन आन्दोलन बन गया।

वैष्णव भक्ति–आन्दोलन के प्रेरक आकर्षक तत्वों ने ही मध्य युग में भक्ति आन्दोलन को लोकप्रिय और देशव्यापी रुप प्रदान कर भक्तिमय वातावरण का सृजन किया, जिसके फलस्वरुप हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में विशाल वैष्णव भक्ति साहित्य का प्रणयन हुआ।

भक्ति मार्ग में प्रेम की साधना सारे लोक जीवन के लिये ग्रहणीय शक्ति बनकर उदित होती है। समन्वय एवं सामंजस्य की प्रवृत्तियों से ओत–प्रोत इस समाज में भक्ति का यह मार्ग सगुण को स्वीकार करने के बाद भी निर्गुण का प्रत्याख्यान नहीं करता एवं निर्गुण की बात उठाकर उसे प्रियतम के अनेक गुणो से विभूषित भी कर देता है। यहाँ केवल एक बात रह जाती है। वह है प्रेम। जैसे भी

बने प्रेम होना चाहिये, इसके अतिरक्ति भक्ति काल का कुछ भी काम्य नहीं रहा जाता है। जप,तप, व्रत, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, ज्ञान वैराग्य सब इसी ओर उन्मुख आदर्श हैं।

हिन्दी साहित्य में भक्ति आन्दोलन के विषय में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं श्रीगुलाबराय ने भक्ति आन्दोलन का आविर्भाव को राजनैतिक पराजय से उद्भूतहीन मनोवृत्ति का प्रतिफलन और मुसलमानी शासन की प्रतिष्ठापना की प्रतिक्रिया स्वरुप माना है। आचार्य शुक्ल लिखते हैं–"अपने पौरुष से हताश जाति के लिये भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था"।

गुलाब राय का कहना है कि–"मनोवैज्ञानिक तथ्य के अनुसार–हार की मनोवृत्ति में दो बातें सम्भव हैं या तो अपनी आध्यात्मिक श्रेष्ठता दिखाना या भोग–विलास में पड़कर हार को भूल जाना। भक्ति काल में लोगों में प्रथम प्रकार की प्रवृत्ति पायी गयी" इन उक्तियों को दृष्टि में रखकर जब भक्ति कालीन साहित्य पर दृष्टिपात करते हैं तो पता चलता है कि उसमें भारतीय संस्कृति और आचार–विचारों का पूर्ण प्रतिपादन है। उसमें जहाँ उच्चतम धर्म की व्याख्या हुई है, वहीं हिन्दी साहित्य के आज की तुलना में भी, अतुलनीय और उच्च कोटि के काव्य की रचना हुई है, जिसमें आडम्बरहीन, शुचि एवं सरल जीवन की झलक मिलती है। जो लोक परलोक को स्पर्श करता हुआ मन हृदय और आत्मा की क्षुधा को तृप्त करने की क्षमता रखता है। अतः इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि शुक्ल जी एवं गुलाब राय जी द्वारा पराजित मनोवृत्ति का प्रतिपादन समीचीन नहीं प्रतीत होता है। डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उचित शब्दों में इस मत का खण्डन किया है। "कुछ विद्वानों ने इस भक्ति आन्दोलन को हारी हुई हिन्दू जाति की असहाय चित्त की प्रतिक्रया के रुप में बताया है। यह बात ठीक नहीं है। प्रतिक्रिया तो जातिगत कठोरता और धर्मगत संकीर्णता के रुप में प्रकट हुई थी। उस जातिगत कठोरता का एक परिणाम यह हुआ कि इस काल में हिन्दुओं में वैरागी साधुओं की विशाल वाहिनी खड़ी हो गयी, क्योंकि जाति के कठोर शिंकजे से निकल भागने का एक

मात्र उपाय साधु हो जाना ही रह गया था। भक्ति–मतवाद ने इस अवस्था को सँभाला और हिन्दुओं में नवीन और उदार आशावादी दृष्टि प्रतिष्ठित की।"

वेवर, कीथ, ग्रियर्सन एवं विल्सन आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भक्ति के उदय को ईसाई धर्म की देन कहा है और एक अन्य पाश्चात्य विद्वान ने तो भगवान कृष्ण को लार्ड क्राइस्ट का रुपान्तर तक कह डाला है। इन विद्वानों द्वारा प्रचारित भ्रम संबंधी मान्यताओं के मूल में किसी भी महत्वपूर्ण वस्तु को महत्वहीन और उपेक्षित सिद्ध करने की दुरभिसन्धि मात्र है। हालाँकि श्री बालगंगाधर तिलक, डा0 एच.राय. चौधरी, श्री आयंगर प्रवृत्ति भारतीय मनीषियों ने इन पाश्चात्य मतों का तक्र पूर्ण खण्डन कर भक्ति का मलोद्भव प्राचीन भारतीय स्रोतों से सिद्ध कर दिया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भक्ति आन्दोलन पर ईसाई धर्म के प्रभाव की चर्चा करते हुये अपनी पुस्तक "हिन्दी साहित्य की भूमिका" में लिखा है– "इस प्रकार के अवतारवाद का जो रुप है इस पर महायान सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव है। यह बात नहीं कि प्राचीन हिन्दू चिन्तन के साथ उसका संबंध एकदम हो ही नहीं, पर सूरदास आदि भक्तों में उसका जो स्वरुप पाया जाता है, वह प्राचीन चिन्तनों से कुछ ऐसी भिन्न जाति का है कि एक जमाने में, ग्रियर्सन, केनेडी आदि पंडितों ने उसमें ईसाईपन का आभास पाया था। उनकी समझ में नहीं आ सका कि ईसाई धर्म के सिवाय इस प्रकार के भाव कहीं और से मिल सकते हैं लेकिन आज की शोध की दुनिया बदल गयी है। ईसाई धर्म में जो भक्तिवाद है वही महायानियों की देन सिद्ध होने को चला है क्योंकि ऐसे बौद्धों का अस्तित्व ऐशिया की पश्चिमी सीमा में सिद्ध हो चुका है और कुछ पंडित तो इस प्रकार के प्रमाण पाने का दावा, भी करने लगे हैं कि स्वयं ईसामसीह भारत के उत्तरी प्रदेशों में आये और बौद्ध धर्म में दीक्षित भी हुये थे।" कुछ विद्वान भक्ति और अवतारवाद के बीज वैदिक साहित्य में ही मानते हैं। डा0 भण्डारकर का मत इस बात का समर्थन करता है–"यदि वैदिक ईश्वर एक हे और उस एक के अनेक रुप मिल सकते हैं फलतः इसी से अवतार वाद की भावना का जन्म हुआ"। डा0 सत्येन्द्र ने "भक्ति द्राविड़ी उपजी लाये रामानन्द" कहकर एक गहन सत्य की ओर संकेत किया है। इधर नवीन विचारकों का मत भी यही बनता जा रहा है कि भक्ति का मूल द्रविड़ों में ही रहा है। केवल

दक्षिण के द्रविड़ों में ही नहीं बल्कि उनके पूर्वज मोहन जोदड़ों और हड़प्पा के द्रविड़ों में भी या जो एकेश्वरवाद पर आस्था रखते थे और उनके ईश्वर का नाम शिव था। आर्यो ने भक्ति का भाव दक्षिण से ही लिया।

भारतीय धर्म साधना के क्षेत्र में भक्ति की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है महाभारत के शान्ति पर्व एवं भीष्म पर्व में तथा गीता में इसका प्रतिपादन है। शांडिल्य और नारद भक्ति सूत्रों में भक्ति के स्वरुपों की सांगोपांग विवेचना है। भक्ति के सिद्धान्त–पक्ष का विकास तो सूत्र ग्रंथों में हुआ, लेकिन व्यवहारिक पक्ष का पुराण साहित्य में हुआ और पौराणिक धर्म वास्तव में भागवत धर्म का परिवर्धित रुप था। जिसमें भक्ति –भावना को प्रमुख स्थान देने के साथ ही साथ उसमें ऐसे तत्वों का समावेश किया गया, जिसमें वह बौद्ध और जैन धर्म की अपेक्षा प्रतिस्पर्धा में खड़ा रह सके।

कुमारिल और शंकर के विरोधों और अकाट्य तर्को द्वारा सगुण भक्ति के विकास में व्यवधान उपस्थित करने पर भी आठवीं–नवी शताब्दी तक दक्षिण भारत में पौराणिक धर्म का प्रचार हो चुका था। दक्षिण के वैष्णवों ने भक्ति को पूरा–पूरा संरक्षण दिया जैसे–आलवार भक्तों ने जिनकी संख्या बारह मानी जाती है, शंकर के अद्वैतवाद की उपेक्षा कर भक्ति की धारा को प्रवाहमान रखा। आचार्य द्विवेदी ने भी इन्हें ही भक्ति आन्दोलन का श्रेय दिया है। इन आलवार भक्तों में, जिनका समय प्रथम शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक माना जाता है, भक्ति का व्यवहारिक पक्ष विद्यमान था। इस आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि भक्ति का सिद्धान्त पक्ष वहाँ बहुत पूर्व ही विद्यमान रहा हो।

दसवीं–ग्यारहवीं शताब्दी में आचार्य नाथ मुनि हुये जिन्होंने वैष्णवों का पुनर्गठन आलवारों के गीतों का संग्रह, मंदिरों में कीर्तन एवं वैष्णव सिद्धान्तों की दार्शनिक व्याख्या कर भक्ति परम्परा को एक नया बल और नवीन मोड़ दिया।[1] इन्हीं के उत्तराधिकारी रामानुजाचार्य हुये, जिन्होंने विशिष्टाद्वैत मत का प्रतिपादन

---

1. हरेन्द्र प्रताप सिन्हा–हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ०–73

कर दास्य भाव से विष्णु की उपासना पर बल दिया। इन्होंने शंकर के अद्वैत मत का खण्डन करते हुये बताया कि जीव ईश्वर का अंश है। ईश्वर को भक्ति या प्रपत्ति के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

इसी परम्परा में स्वामी रामानन्द हुये थे जिन्होंने राम को अवतार मानकर उत्तरी भारत में राम भक्ति का प्रचार किया। आगे चलकर इसी शाखा में प्रसिद्ध भक्त कवि तुलसीदास हुये। बाद में इस भक्ति शाखा में कृष्ण भक्ति की सरसता का समावेश कर राम–रसिक सम्प्रदाय के नाम से एक नया सम्प्रदाय भी चल पड़ा। जहाँ एक ओर विशिष्टाद्वैत मत का प्रचार हो रहा था वही दूसरी ओर मध्वाचार्य के द्वैतवाद, निम्बार्काचार्य के द्वैताद्वैतवाद और बल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत वाद का प्रचार भी जोर–शोर से हो रहा था। आचार्य बल्लभ ने यदि कृष्ण के बाल रुप की उपासना का प्रचार किया तो महाप्रभु चैतन्य के चैतन्य सम्प्रदाय, स्वामी हरिदास के सखी सम्प्रदाय, हितहरिवंश के राधा बल्लभ सम्प्रदाय ने कृष्ण–भक्ति में माधुर्य भाव का समावेश कर प्रचार किया। सूर इसी वर्ग में आते हैं जिन्होंने कृष्ण के प्रति अपनी प्रेमाभक्ति का प्रतिपादन किया। तत्कालीन बौद्ध सिद्ध एवं नाथ पंथ में ऊंच–नीच का भेद–भाव नहीं था। इन्होंने कर्मकाण्ड को निःसार ठहराते हुये वेद के अध्ययन को ढकोसला बताया साथ ही यौगिक प्रक्रियाओं पर बल देकर ईश्वर को घट के भीतर खोजकर प्राप्त करने का आदेश दिया। इस प्रकार सन्त मत की पृष्ठिभूमि बहुत कुछ इनके सिद्धान्तों के आधार पर ही तैयार हुई थी साथ ही साथ सन्तों पर शंकर के अद्वैतवाद का भी प्रभाव था। इस्लाम धर्म के एकेश्वरवाद और निराकार उपासना पद्धति का प्रभाव भी सन्त मत के उन्नयन में सहायक बना।

नामदेव, दादू, नानक आदि कवि–भक्तों ने निराकार ब्रह्म की उपासना और एकेश्वरवाद का भक्ति के रुप का आगे चलकर विकास किया। इसी समय कुछ सूफी मुसलमानों ने हिन्दुओं में प्रचलित रोमानी लोककथाओं के माध्यम से ईश्वर के प्रेम स्वरुप का प्रचार किया। इस प्रकार इन्होंने हिन्दू और मुसलमान हृदयों के बीच की दूरी को कम किया तथा हिन्दू और इस्लाम धर्म के बीच आ गई लम्बी गहरी खाई को पाटने का प्रयास एवं सांस्कृतिक समन्वय किया। इस प्रकार देखा गया कि

भक्ति के आवश्यक उपकरण– ईश्वर के प्रति वैयक्तिक संबंध और अवतारवाद पर आस्था की भावना इस देश की जनता में बद्धमूल थी। यह भक्ति का पौधा न विदेश से लाया गया है और न ही उनके द्वारा सिंचित और पल्लवित किया गया है, न तो इसका जन्म निराशाजन्य है और न ही इस्लाम धर्म के प्रतिक्रिया स्वरुप। बल्कि यह प्राचीन दर्शन–प्रवाह और सांस्कृतिक परम्परा की एक अविच्छिन्न धारा है। इस धारा के प्रस्फुटन–स्वरुप जो साहित्य रचा गया वह विराट साधना और प्रेमोल्लास की देन है जिसे मनन–श्रवण कर जीवन के सभी विषाद, नैराश्य और कुंठायें मिट जाती हैं।

हिन्दू जाति सदैव से आशावादी रही है। इस जाति का सुखान्त साहित्य उसके आनन्दवादी दृष्टिकोण का परिचायक है। कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी जूझकर अपने को जीवित रखने की क्षमता है। अतएवं यह कहना उचित नहीं लगता कि भक्ति आन्दोलन इस्लाम धर्म की प्रतिक्रिया का परिणाम है। अथवा मुसलमानी आतंक से भयभीत होकर एवं निराशा के काले बादलों से घिरकर अन्ततोगत्वा ईश्वर के शरण में जाकर रक्षा के लिये अति पुकार का प्रतिफलन है। क्योंकि सभी मुसलमान शासक क्रूर और अन्यायी नहीं थे। उनमें से कई उदार और सहिष्णु थे, भारतीय साहिब साहित्य, संस्कृति और कला को यथेष्ट प्रोत्साहन देने वाले थे। तभी इन्हीं मुसलमानी शासकों के शासन–काल में ही शंकर,मध्व, निम्बार्क, रामानन्द, चैतन्य एवं वल्लभाचार्य जैसे आचार्य, चिन्तक और विचारक पनपे और कबीर, नानक, सूर, तुलसी, नन्ददास और मीराबाई इत्यादि भक्त कवियों ने पावन भक्ति की पवित्र धारा प्रवाहित कर भारतीय हृदय को स्फूर्तिमय चेतना से स्पंदित किया।

इस प्रकार सन्तों एवं भक्तों के काव्य में प्रेम तत्व की प्रधानता ही दिखाई देती है। प्रेम ही मुक्ति प्राप्ति का एक साधन था तथा प्रेम के द्वारा ही ऊँच–नीच तथा जाति–पाँति का भेद मिटाया जा सकता था। इसी कारण छोटे, उपेक्षित, अपढ़, निर्धन एवं अकुलीन भी इस युग में पूज्य बने। इसीलिये जुलाहे कबीर, अंधे सूरदास, निर्धन तिरस्कृत तुलसीदास, बेलीक चलने वाली मीरा–ये सभी प्रभु सेवा ओर

प्रभु–प्रेम के गुण गाकर ही सामान्य जन का हृदय जीत सके थे। भक्ति आन्दोलन के समय जितने भी मत प्रचलित थे वे किसी न किसी रुप में प्रेम पर ही बल देते हैं।

पूर्वी भारत में तन्त्र–मत एवं वैष्णव–मत का समन्वय जिस महायान भूमि पर हुआ था, उसमें भी प्रेम का अतिशय महत्व था। दक्षिण की आलवार भक्ति में प्रेम का भाव अत्यन्त समृद्ध था ही तथा सूफी साधना प्रेम की पीर की प्रचारक–रुप में प्रसिद्ध ही है। राधा–कृष्ण लीला की साहित्यिक परम्परा भी रति–भावना के आधार पर खड़ी थी। इधर स्मार्त विचारधारा में श्रद्धा और उदारता का जो अंश है, उसने इन सभी प्रेम–प्रभावों को ग्रहण करने में सहायता दी। इस प्रकार 15वीं शताब्दी में भक्ति आन्दोलन[1] में प्रेमा भक्ति का स्वर अत्यन्त प्रबल रुप में ग्रहण होता है। परिणाम स्वरुप इस युग में प्रेमाभक्ति के अनेक सम्प्रदाय एवं साधक उभरते दिखाइ देते हैं। जिनमें रामानन्द बल्लभ, चैतन्य हितहरिवंश, हरिदास आदि प्रमुख थे।

विविध सम्प्रदाय :– निम्बार्क और रामानन्द ये दो प्रारम्भिक सेतु हैं जिन्होंने भक्ति के क्षेत्र में दक्षिण और उत्तर को मिलाया है। बलदेव उपाध्याय एवं आधुनिक विद्वान उन्हें वैष्णव सम्प्रदायों में प्राचीनतम मानते हैं। भण्डारकर ने इनका समय रामानुज के बाद माना है इनकी भक्ति पद्धति पर रामानुज का स्पष्ट प्रभाव भण्डारकर को मान्य है। इस अर्थ में वे सर्वप्रथम आचार्य अवश्य हो जाते हैं कि राधा कृष्ण की भक्ति उत्तर भारत में उनके द्वारा ही प्रचारित हुई। उन्हीं की शिष्य परम्परा में आगे चलकर हरिव्यास देव ने निर्म्बाक सम्प्रदाय को अत्यधिक उन्नत किया। आगे चलकर घनानन्द, रुपरसिक देव, रसिक गोविन्द जैसे श्रेष्ठ कवि निम्बार्क के मतानुयायी हुए हैं। पर माधुर्य का पूर्व विकास संभवतः बाद में इस सम्प्रदाय में हुआ और वह भी इस सीमा तक नहीं पहुंचा जिस तक सखी, राधाबल्लभीय या गौड़ीय–वैष्णव सम्प्रदाय में वह पहुंच सका। मार्धुय के साथ ही अन्य भावों को भी निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्यो ने मान लिया है। परन्तु कृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति का उपदेश स्वयं निम्बार्क ने पहले ही दिया था।

---

1. भक्ति आन्दोलन का तृतीय उत्थान उत्तर भारत में 15वीं शती के आरम्भ से होता है। (पं० बलदेव उपाध्याय–भागवत सम्प्रदाय, पृ0–233)

रामानन्द :– वैष्णव साहित्य एवं भक्ति साहित्य के इतिहास में स्वामी रामानन्द का स्थान अनुपम है। इनके जीवन के संबंध में बहुत कम ही प्रमाणिक सामग्री उपलब्ध है। रामानन्द सम्प्रदाय के अनुसार स्वामी रामानन्द का जन्म सवंत् 1356 ई0 और मृत्यु 1467 में हुई[1]। वे एक सौ ग्यारह साल तक जीवित रहे। कई विद्वान रामानन्द को दक्षिणात्य समझते थे। पर अब यह प्रायः निश्चित हो गया है कि उनका आविर्भाव प्रयाग में हुआ था।[2] रामानन्द के पिता का नाम अगस्त्य संहिता के आधार पर पुण्य सदन और माता का नाम सुशीला देवी था।

रामानुज सम्प्रदाय से सम्बद्ध होते हुए भी रामानन्द ने अपना दार्शनिक चिंतन और उपासना पद्धति अलग ही रखी। वे रामानुज की अपेक्षा अधिक उदार चेता और अधिक क्रांतिदर्शी थे। हिन्दी भक्ति काव्य की दो सशक्त धाराएं उनके उदात्त व्यक्तित्व के उत्स से निःसृत हैं। एक तरफ वे कबीर जैसे उदग्र चित्तवृत्ति वाले क्रांतिकारी कलाकार के प्रेरणास्रोत रहे हैं तो दूसरी ओर सुसंयत एवं सुमर्यादित सामाजिक व्यवस्था के प्रवक्ता स्मार्त तुलसीदास के मानस–मराल। रामानन्द ने उत्तर भारत के प्रमुख तीर्थ स्थानों में अपने केन्द्र स्थापित करके राम भक्ति का सम्यक् प्रचार किया। जात–पाँत, ऊँच–नीच आदि भेदभाव की परवाह किये बिना उन्होंने सबको प्रभुभक्ति के मंदिर में प्रवेश दिया। उनके शिष्यों में सभी वर्णो के लोग प्राप्त होते है। "जाति–पाँति पूछै नहीं कोई । हरि को भजै, सो हरि का कोई।।"यह उक्ति रामानन्द द्वारा प्रचलित की हुई मानी जाती है।

रामानन्द के व्यक्तित्व के प्रभाव के कारण ही भक्ति उत्तर भारत की सम्पूर्ण जनता में सहज रुप में प्रवेश कर पाई। संत मत के साधकों के लिए भी राम स्वीकार्य हुए, इसलिए रामानन्द ही रामोपासना के गुरु कहे जा सकते हैं। "भक्ति द्राविड़ उपजी, लायै रामानन्द"वाली उक्ति निरर्थक नहीं है। डा0 बदरीनारायण श्रीवास्तव के अनुसार–रामानंद की कृतियाँ हैं–श्री रामार्चन पद्धति, गीताभाष्य, उपनिषदभाष्य, आनन्दभाष्य, सिद्धान्त पटल, रामरक्षास्त्रोत, योगचिंतामणि वेदान्तविचार

---

1. श्री भक्तमाल (वृन्दावन संस्करण), पृ0–257–260
2. परशुराम चतुर्वेदी–उत्तर भारत की सन्त परम्परा, पृ0–222

(भाषा), रामाष्टक, ज्ञानलीला, अध्यात्म रामायण आदि। रामानन्द दर्शन के अनुसार ब्रह्म और राम में कोई अन्तर नहीं है। राम ही ब्रह्म है। वही विश्व की सृष्टि स्थिति और संहार का कारण है। ब्रह्म नित्य, सर्वज्ञ, भक्तों का रक्षक, सर्वथा स्वतंत्र और सबके लिए वरेण्य है। उसका ज्ञान होने पर सब कुछ ज्ञात होता है।

राम और जगत् के बीच पिता–पुत्र, रक्ष्य–रक्षक, सेव्य–सेवक आदि अनेक सम्बन्ध वर्तमान हैं। रामानन्द दर्शन में जीव ईश्वर की अपेक्षा अल्पज्ञ है वह स्वकर्मानुसार फलों का भोग करता है। भगवान जीवों का एक मात्र गंतव्य है। जीव स्वतंत्र नहीं है वह सर्वथा राम के अधीन रहता है। भगवान की कृपा के बिना जीव मुक्त नहीं हो सकता। केवल प्रपत्ति ही भगत्कृपा का साधन है।

प्रकृति अथवा जगत् के संबंध में रामानन्द का विचार है कि प्रकृति त्रिगुणात्मिका है और ईश्वर के अधीन है। सारी सृष्टि का विकास प्रकृति से होता है। आनन्द भाष्य में प्रकृति को सत्य स्वीकार किया गया है। यदि जगत् मिथ्या है तो स्वयं श्रुतिवाक्य भी मिथ्या प्रमाणित होंगे। इसमें अद्वैत का बड़ी शक्तिमत्ता के साथ खंडन किया गया है। जगत् का कारण स्वयं भगवान श्री राम हैं। जगत् जड़ वस्तु है। चेतन के बिना उसमें संज्ञान क्रिया नहीं हो सकती। साकेत धाम में भगवान के सायुज्य को प्राप्त करना रामानन्द के अनुसार मोक्ष है। मोक्ष भगवत्कृपा का परिणाम है। सद्गुरु की अनुकम्पा के साथ राम के चरणों में प्रपत्ति अथवा शरणगति मोक्ष प्राप्ति के लिए परम आवश्यक है।

अन्यान्य वैष्णव दर्शन के समान रामानन्द दर्शन में भी मोक्ष प्राप्ति के सर्वश्रेष्ठ साधन के रुप में भक्ति को ग्रहण किया गया है। भक्ति के क्षेत्र में प्रवेश के लिए साधक को पंच संस्कारों से संस्कृत होने की आवश्यकता है। उनमें अन्य बातों के साथ राम मंत्र की दीक्षा भी दी जाती है। अनन्य भाव से परमात्मा की सेवा करना भक्ति है। इस प्रकार की भक्ति अनायास ही उपलब्ध नहीं हो सकती। उसके लिए सात उपाय अनिवार्य है। विवेक, विभोक अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाह तथा अनुद्धर्ष। इन उपायों का निर्वहण यम नियमों के परिपालन की सफलता पर

अवलंबित है।[1] रामानन्द ने 'नारदभक्तिसूत्र', 'शाण्डिल्यभक्तिसूत्र' आदि के अतिरिक्त श्रीमद्भागवत को भी भक्ति तत्व के निर्धारण में उपजीव्य बनाया है। भागवतकार द्वारा निरुपति नवधा भक्ति के उन्होंने उसी रुप मे ग्रहण किया है। इसका यह अर्थ नहीं कि रामानन्द सम्प्रदाय में प्रेम लक्षणा भक्ति को स्थान नहीं है। वास्तव में रामानन्द ने यम नियमों के अनुष्ठान को अपने भक्ति सम्प्रदाय में अत्यन्त आवश्यक रखा था, अतः एव उसमें वैधी भक्ति, प्रारम्भिक युग में विशेषकर प्रबल रही। पर नाभादास के समय से लेकर उसमें रागानुमा भक्ति और तदनुरुप श्रृंगार–उपासना अधिकाधिक प्रवेश पाने लगी। राम–भक्ति में रसिक सम्प्रदाय का आविर्भाव इसी कारण हुआ।

रामानन्द के अनुसार–भक्ति के दो अंग हैं–प्रपत्ति और न्यास। अनुकूलता का संकल्प, प्रतिकूलता का त्याग, भगवान रक्षा करेंगे– यह विश्वास रक्षक रुप में भगवान का वरण आत्मनिक्षेप और कार्पण्य। भक्ति के नाना भेदों में प्रपत्ति ही साधना के क्षेत्र में सर्वादृत है। उसके फलदाता स्वयं भगवान राम हैं। सब लोग प्रपत्ति के अधिकारी हैं। भगवान परम दयालु हैं और उनके सम्मुख जातिकृत बन्धनों का कोई अर्थ नहीं है।

न्यास को धर्म त्याग भी कहते हैं। न्यास से तात्पर्य स्वप्रवृत्ति की निवृत्ति से है। अतः न्यास मोक्ष प्राप्ति का साधन बनता है, इसके लिए भगवान् का नामस्मरण और ध्यान परम आवश्यक है। भक्त को भगवान राम के दिव्य रुप का वर्णन बड़े स्पष्ट और विशद रुप में रामानन्द ने किया है। राम हमेशा सीता तथा लक्ष्मण सहित रहते हैं। उनकी आराधना शंकर आदि सभी देवता नियमित रुप से किया करते हैं। रामानन्द ने श्रवण, कीर्तन आदि नानाविधि आचरण को भगवत्कृपा का साधन माना है। इसी कारण कथा श्रवण को प्रमुख स्थान दिया गया है। रामानंद ने राम–राम का जप साधकों के लिए अनिवार्यता अनुष्ठेय ठहराया है। इन्होंने भगवद्भक्त को सर्वथा और सर्वदा भगवान का किंकर रहना परम आवश्यक ठहराया है–"तदीय कैंकर्य परायणो वै" अहिंसा भगवत्प्रेम का अभिन्न अंग है सभी वैष्णव कवियों ने

1. पं० बलदेव उपाध्याय–भागवत सम्प्रदाय, पृ०–264

अहिंसा के परिपालन पर पर्याप्त बल दिया है। रामानन्द ने अहिंसा को दान, तप, तीर्थाटन आदि सभी कर्मों से उच्चस्तर का घोषित किया है। भक्त और भगवान के बीच रामानन्द स्वामी ने नौ प्रकार के संबंध माने हैं– 1. पिता–पुत्र सम्बन्ध 2. रक्ष्य–रक्षक सम्बन्ध 3. शेष–शेषित्व सम्बन्ध 4. भार्या–भर्तृत्व सम्बन्ध 5. स्वस्वामी संबंध 6. आधार–आधेय सम्बन्ध 7. सेव्य–सेवक सम्बन्ध 8. आत्मा–आत्मीयत्व सम्बन्ध 9. भोग्य–भोक्तृत्व सम्बन्ध। डा0 श्रीवास्तव इन नवविध सम्बन्धों के आधार पर तीन भक्ति–पद्धतियों का निरुपण करते हैं–माधुर्य, शांत और दास्य । रामानन्द दर्शन में दास्य– भक्ति को प्रमुखता दी गई है। इसी के बल पर साधक समस्त विश्व में राम के दर्शन करके चरितार्थ होता है। सब जीवों को 'सिया–राम मय' समझकर उनकी सपर्याय सेवा करने की प्रवृत्ति भक्ति में इसी कारण जन्म लेती है। माधुर्य भक्ति का विकास असल में रामानन्द सम्प्रदाय की मूल प्रवृत्तियों से सम्बद्ध नहीं प्रतीत होता। फिर भी हम इतना अवश्य मान सकते हैं कि रामानन्द के द्वारा भक्त और भगवान के बीच भार्या–भर्तृत्व भाव को प्रश्रय दिये जाने के कारण माधुर्य भक्ति भी उसमें गुंफित रहती थी। अतएवं कृष्ण–भक्ति के समान राम–भक्ति में भी परवर्ती काल में मधुरोपासना का संबेग प्रवाह हो गया।

यद्यपि रामानन्द ने सख्य–भक्ति को कोई महत्ता नहीं दी थी तथापि कालान्तर में उसका भी इस सम्प्रदाय में प्रवेश हुआ। वात्सल्य भक्ति की भी यही स्थति है। इसमें निष्कर्ष यही निकलता है कि रामानन्द दर्शन में दास्य–भक्ति ही प्रमुख रुप में विद्यमान थी और अन्य भक्ति–भावनाओं का प्रवेश उसमें परवर्ती काल में नाना ऐतिहासिक एवं धार्मिक परस्थितियों के फलस्वरुप ही हुआ।

मध्य–कालीन भारतीय संस्कृति की सबसे प्रबल प्रेरक शक्ति केवल बौद्धिक–दार्शनिक दृष्टि से ही नहीं अपितु धार्मिक साहित्यिक तथा सामाजिक दृष्टि से भी रामानन्द से निःसृत हुई। दार्शनिकता में वे जीव ईश्वर, जगत् के स्वतंत्र अस्तित्व को प्रश्रय देते थे और अतएव सामाजिक चेतना में वस्तून्मुखी बौद्धिक दृष्टि अपनाने में सफल हुए।

जाति–पाँति की सड़ी–गली कुरीतियों को चुनौती देने में जो साहस रामानन्द ने दिखाया वह भारतीय परम्परा और दार्शनिकता के इतिहास में एकदम अप्रतीम ही है। वैदिक धर्म का अनुगमन करते हुए वर्णाश्रय से समुत्पन्न जाति–व्यवस्था को धिक्कार्य मानने का साहस किसी ने नहीं दिखाया था। कहते हैं, अनेक मुसलमानों और धर्मच्युत हिन्दुओं को इन्होंने अपने सम्प्रदाय में स्थान देकर, उन पर अनुग्रह किया।[1] मुसलमानी उत्पात से उत्पीड़ित हिन्दू जनता को प्रत्यक्ष जीवन के क्षेत्र में संगठित करने की दिशा में उनके द्वारा और उनके शिष्यों द्वारा किये गये कार्य ऐतिहासिक महत्व के हैं।[2] जाति–पाँति पूछै नहीं कोई........ वाली युक्ति रामानन्द जैसे महात्माओं से ही निःसृत हो सकती थी। जाति–पाँति के पक्के समर्थक तुलसीदास की लेखनी से यह वाणी–

भगतिवंत अति नीचहु प्रानी।
मोहि प्रान सम, अस मम बानी।।

निसर्गतया नहीं निकल सकती थी। उसके लिए रामानन्द जैसे उदारचेता महामानव के व्यक्तिगत और बौद्धिक समर्थन का कितना योगदान रहा होगा यह अनायास अनुमेय है। रामानन्द के दार्शनिक और बौद्धिक मानवतावाद से न केवल राम भक्त ही बल्कि अधिक स्वतंत्र और उदग्र विचारधारा के समर्थक ज्ञानदेव कबीर जैसे सन्त भी लाभान्वित हुए।

इसी कारण हम निःसन्देह इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि मध्यकालीन सगुण–निर्गुण साहित्य के उत्प्रेरकों में सर्वाधिक महिमामंडित एवं युगान्तरकारी व्यक्तित्व रामानन्द का है। डा0 बड़थ्वाल के ये शब्द न केवल स्वयंसिद्ध सत्य हैं बल्कि स्वयं सहृदयों और विचारकों के लिए रोमांचकारी भी है– "युग–युग से जमे हुए घने अंधकार की आकाश को छूती दृढ़ प्राचीरें आत्मा को बंदी बनाये रहती हैं। अन्याय की कारा में व्यक्ति स्वातंत्र्य–यंत्रणा की असहृदयता से कराहता रहता है।

---

1. डा0 श्रीकृष्ण लाल का लेख–"रामानन्द का जीवन चरित्र", (रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ–संपा०–नागरी प्रचारिणी सभा, काशी), पृ0–49
2. वही, पृ0–50

अवसाद भरा जगत् परित्राण की आशा को सर्वदा के लिए त्याग देता है। जान पड़ता है कि हँसती–खेलती सरलता का दिन कभी लौटेगा नहीं। सहसा एक दिव्य–विभूति धरा पर उतर आती है और आन की आन दुर्भेद्य प्राचीरे खड़खड़ा ढह पड़ती है, लौह श्रृंखलाएँ झनझन टूट गिरती है, व्यक्ति की यंत्रणाये फू उड जाती हैं और स्वांतत्र्य का सूर्य उसे तपाये सोने की आभा से मढ देता है। मध्ययुग के धार्मिक इतिहास मे रामानन्द ऐसी ही विभूति थे।[1]

वल्लभाचार्य :– एक स्वर से सभी विद्वानों ने इनका जन्म संवत् 1535 विक्रमी और मृत्यु सं0 1587 वि0 में माना है। पिता का नाम लक्ष्मण भट्ट तथा माता का नाम एल्लमागारु था। ये तैलंग ब्राहमण थे, जो उत्तर में बस गये थे। ये वेदशास्त्र के पारंगत विद्वान थे। काशी में यथोचित शिक्षा–दीक्षा के पश्चात् तरुण वय में ही उन्होंने विजयनगर के राजा कृष्णदेव राय की सभा में मायावादियों तथा नास्तिकों को शास्त्रार्थ में पराजित किया तथा वैष्णव को समर्थित किया। इसके पश्चात् ही मत साम्य तथा प्रामाणिकता प्राप्ति हेतु उन्होंने विष्णु स्वामी के सम्प्रदाय में दीक्षा ले ली। पर जैसे रामानन्द अपनी भक्ति–पद्धति आदि में अपने आचार्य रामानुज से ही नहीं बँधे वैसे ही वल्लभ जैसे लोक नेता को किसी विशेष मतवाद के साथ बँधकर रहना पसन्द नहीं आया।[2]

रामानुज से लेकर वल्लभाचार्य तक जितने भक्त दार्शनिक आचार्य हुए, सबका लक्ष्य शंकराचार्य के मायावाद और विवर्तवाद से पीछा छुड़ाना था जिसके अनुसार भक्ति अविद्या या भ्रांति ही ठहरती है। शंकर ने केवल निर्गुण भक्ति की ही पारमार्थिक सत्ता स्वीकार की थी। बल्लभ ने ब्रह्म में सब धर्म माने। सारी सृष्टि को उन्होंने लीला के लिए ब्रह्म की आत्मकृति कहा। अपने को अंशरुप जीवों में विखराना ब्रह्म की लीला मात्र है। वह अपने सतचित और आनन्द इन स्वरुपों का आविर्भाव और तिरोभाव करता रहता है। जीव में सत् और चित् का अविर्भाव रहता

1. रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी), पृ0–1
2 वल्लभाचार्य की भक्ति पद्धति का नूतन रुप और उसमें कृष्ण के माधुर्य भाव की उपासना की स्वीकृति अपनी विशिष्ट देन है जो विष्णु स्वामी के युग मे किसी भी रूप में प्रचलित नहीं थी। (डा0 विजयेन्द्र स्नातक–राधा वल्लभ सम्प्रदाय : साहित्य और सिद्धान्त, पृ0–50)

है पर आनन्द का तिरोभाव। जड़ में सत का आविर्भाव रहता है, चित और आनन्द का दोनों का तिरोभाव। माया कोई वस्तु नहीं।

श्री कृष्ण ही परमब्रह्म हैं जो दिव्य गुणों से सम्पन्न होकर 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं। आनन्द का पूर्ण अविर्भाव इसी पुरुषोत्तम में रहता है। अतः यही श्रेष्ठ रुप है। वह अपने भक्तों के लिए व्यापी बैकुंठ में (जो विष्णु के बैकुंठ से ऊपर है) अनेक प्रकार की क्रीड़ाए करते रहते हैं। गोलोक इसी व्यापी बैकुंठ का एक खण्ड है जिसमें नित्य रुप में यमुना, वृन्दावन, निकुंज इत्यादि सब कुछ है। भगवान की इस नित्यलीला सृष्टि में प्रवेश करना ही सबसे उत्तम गति है।

शंकर ने निर्गुण को ही ब्रह्म का पारमार्थिक रुप कहा था और सगुण को व्यावहारिक या मायिक। बल्लभाचार्य ने बात उलटकर सगुण रुप को ही असली पारमार्थिक रुप बताया और निर्गुण को उसका अशंतः तिरोहित रुप कहा।

बल्लभ ने प्रेम लक्षणा भक्ति ग्रहण की है। 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' में सूरदास की एक वार्ता के अन्तर्गत प्रेम को ही मुख्य और श्रद्धा या पूज्य बुद्धि को सहायक कहा। प्रेम साधना में बल्लभ ने लोक, मर्यादा दोनों का त्याग विधेय ठहराया। इस प्रेमलक्षणा भक्ति की ओर जीव की प्रवृत्ति तभी होती है जब भगवान का अनुग्रह होता है जिसे पोषण या 'पुष्टि' कहते है। इसी से बल्लभाचार्य ने अपने मार्ग का नाम 'पुष्टिमार्ग' रखा है। उन्होंने जीव के तीन प्रकार के माने हैं–**1. पुष्टि जीव**–जो भगवान के अनुग्रह का ही भरोसा रखते हैं और 'नित्य लीला' में प्रवेश पाते हैं। **2. मर्यादा जीव**–जो वेदक की विधियों का अनुसरण करते हैं और स्वर्ग आदि लोक प्राप्त करते है और **3. प्रवाह जीव**–जो संसार के प्रवाह में पड़े सांसारिक सुखों की प्राप्ति में ही लगे रहते है।

'कृष्णाश्रय' नामक एक प्रकरण ग्रंथ में बल्लभाचार्य ने अपने समय की अत्यन्त विपरीत दशा का वर्णन किया है जिसमें उन्हें वेदमार्ग या मर्यादामार्ग का अनुसरण अत्यन्त कठिन दिखाई पड़ा है। देश में मुसलमानी साम्राज्य अच्छी तरह दृढ़ हो चुका था। हिन्दुओं का एक मात्र स्वतंत्र और प्रभावकारी राज्य दक्षिण का

विजयनगर राज्य रह गया था, पर बहमनी सुल्तानों के पड़ोस में रहने के कारण उसके दिन भी गिने हुये दिखाई पड़ते थे। इस्लामी संस्कार धीरे–धीरे जमते जा रहे थे। सूफी पीरों के द्वारा सूफी पद्धति की प्रेमलक्षणा भक्ति का प्रचार कार्य धूम से चल रहा था। एक ओर 'निर्गुणपंथ' के संत लोग वेदशास्त्र की विधियों पर से जनता की आस्था हटाने पर जुटे हूए थे। अतः बल्लभाचार्य ने अपने पुष्टिमार्ग का प्रवर्तन बहुत कुछ देश–काल देखकर किया।

वल्लभाचार्य जी के मुख्य ग्रंथ ये है–1. पूर्वमीमांसाभाष्य 2. उत्तर मीमांसा या ब्रह्म सूत्र भाष्य जो अणुभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। इनके शुद्धाद्वैत वाद का प्रतिपादक यही प्रधान दार्शनिक ग्रंथ है। 3. श्रीमद्भागवत की सूक्ष्म टीका तथा सुबोधिनी टीका 4. तत्वदीप निबंध तथा अनेक छोटे–छोटे प्रकरण ग्रंथ। इसमें पूर्वमीमांसा भाष्य का बहुत थोड़ा सा अंश मिलता है। 'अणुभाष्य' आचार्य जी पूरी न कर सके थे। अंत के डेढ. अध्याय उनके उनके पुत्र गोसाई विट्ठलनाथ ने लिखकर ग्रंथ पूरा किया। भागवत की सूक्षम टीका नहीं मिलती, सुबोधिनी का भी कुछ अंश ही मिलता है।

रामानुजाचार्य के समान बल्लभाचार्य ने भारत के बहुत से भागों में पर्यटन और विद्वानों से शास्त्रार्थ करके अपने मत का प्रचार किया था। अंत में अपने उपास्य श्री कृष्ण की जन्मभूमि में जाकर उन्होंने अपनी गद्दी स्थापित की और अपने शिष्य पूरनमल खत्री द्वारा गोवर्धन पर्वत पर श्रीनाथ जी का बड़ा भारी मंदिर निर्माण कराया।

बल्लभ सम्प्रदाय में जो उपासना पद्धति ग्रहण की गई उसमें भोग, राग तथा विलास की प्रभूत सामग्री के प्रदर्शन की प्रधानता रही। भोगविलास के इस आकर्षण का प्रभाव सेवक–सेविकाओं पर कहाँ तक अच्छा पड़ सकता था जनता पर चाहे जो प्रभाव पडे पर उक्त गद्दी के भक्त शिष्यों ने सुन्दर–सुन्दर पदों द्वारा जो मनोहर प्रेम संगीत धारा बहाई उसने मुरझाते हुए हिन्दू जीवन को सरस एवं प्रफुल्लित किया। सब सम्प्रदायों के कृष्ण भक्त भागवत में वर्णित कृष्ण की ब्रजलीला को ही लेकर चले क्योंकि उन्होंने अपनी प्रेमलक्षणा भक्ति के लिए कृष्ण का मधुररुप ही

पर्याप्त समझा। महत्व की भावना से उत्पन्न श्रद्धा या पूज्यबुद्धि का अवयव छोड देने के कारण कृष्ण के लोक रक्षक और धर्म संस्थापक स्वरुप को सामने रखने की आवश्यकता उन्होंने न समझी। भगवान के मर्म स्वरुप को इस प्रकार किनारे रख देने से उसकी ओर आकर्षित होने और आकर्षित करने की प्रवृत्ति का विकास कृष्ण भक्तों में न हो पाया। फल यह हुआ कि कृष्ण–भक्त कवि अधिकतर फुटकल श्रृंगारी पदों की ही रचना में लगे रहे उनकी रचनाओं में न तो जीवन के अनेक गंभीर पक्षों के मार्मिक रुप स्फुरित हुए, न अनेकरुपता आई। श्री कृष्ण का इतना चरित ही उन्होंने न लिया जो खण्ड काव्य, महाकाव्य आदि के लिए पर्याप्त होता। राधाकृष्ण की प्रेम लीला ही सबने गाई।

श्रीमद्भागवत में श्री कृष्ण के मधुर रुप का विशेष वर्णन होने से भक्ति क्षेत्र में गोपियों के ढंग से प्रेम का माधुर्य भाव का रास्ता खुला। इसके प्रचार में दक्षिण के मंदिरों की देवदासी प्रथा विशेष रुप से सहायक हुई। इन्हीं देवदासियों में कुछ प्रसिद्ध भक्तिन हो गई। दक्षिण में आंदाल इसी प्रकार की एक भक्तिन हुयी। आंदाल एक स्थल पर कहती है–'अब मैं पूर्ण यौवन को प्राप्त हूँ और किसी को अपना पति नहीं बना सकती।'

इस भाव की उपासना यदि कुछ दिन चले तो उसमें गुह्य और रहस्य की प्रवृत्ति हो जायेगी। रहस्यवादी सूफियों का उल्लेख ऊपर हो चुका है जिनकी उपासना भी 'माधुर्यभाव' की थी। मुसलमानी जमाने में इन सूफियों का प्रभाव देश की भक्तिभावना के स्वरुप पर बहुत कुछ पड़ा। 'माधुर्य भाव' को प्रोत्साहन मिला। माधुर्यभाव की जो उपासना चली आ रही थी उसमें सूफियों के प्रभाव से 'अभ्यातंरमिलन', मूर्छा 'उन्माद' आदि की भी रहस्यमयी योजना हुई। मीराबाई और चैतन्य महाप्रभु दोनों पर सूफियों का प्रभाव पाया जाता है।

चैतन्य :– भक्ति के कर्मकाण्ड को बल्लभाचार्य ने सुदृढ़ किया एवं संवेग (इमोशन) पक्ष को चैतन्य ने। उनमें अद्भुत पांडित्य था और उसी आधार पर जो भक्ति विकसित हुई है उसमें दार्शनिक चेतना तो थी ही साथ ही सहजिया वैष्णवों की प्रेम–साधना भी ग्रहण कर ली गई। श्री कृष्ण चैतन्य उत्तर मध्ययुग के सबसे

प्रभावशाली व्यक्तियों में प्रतीत होते हैं। लगता है कि उत्तर भारत में बुद्धदेव के बाद चैतन्य से अधिक मोहक और प्रभावशाली व्यक्तित्व दूसरा नहीं हुआ। तुलसीदास की ख्याति दूसरे ढंग की है और उनके साहित्य के माध्यम से बढ़ी है जबकि चैतन्य की सारी महिमा उनके प्रत्यक्ष व्यक्तित्व में निहित है। राधा–कृष्ण की लीलाओं का स्मरण और भावन, कृष्ण–संकीर्तन एवं हरिबोल का निरन्तर उच्चारण–बस यही उनके नैमित्तिक कर्म, धर्म प्रचार या शास्त्रार्थ थे। पर इनके पीछे संवेग की सांद्रता, आत्मा की गहनता एवं गूढ़तम पुकार–जिसने उन्हें इतना मोहक और प्रभावशाली बना दिया। यह प्रसिद्धि रामानन्द एवं बल्लभ को भी प्राप्त हुई थी, पर वे अपने शिष्यों–भक्तों तक सीमित थे। चैतन्य के चरित्र में पर्वत–प्रवाहिनी का वेग था एवं सर्वातिज्ञानी प्रसार भी था।

चैतन्य महाप्रभु का बाल नाम विश्वम्भर था। नवद्वीप के विद्वान पंडित जगन्नाथ मिश्र के घर उनका जन्म संवत् 1542 (1485 ई0) में हुआ था जो ईश्वरपुरी (वृन्दावन) के विरक्त विद्वान भक्त माधवेन्द्रपुरी के शिष्य थे। माधवेन्द्रपुरी बंगाली थे तथा बलदेव उपाध्याय ने इनका जन्म 1400 ई0 माना है।

बंगाल और ब्रज का सम्बन्ध–सूत्र जोड़ने वाले ज्ञात महापुरुष माधवेन्द्रपुरी ही प्रतीत होते हैं, जो ब्रज में रहकर वहाँ के तीर्थो का उद्धार करने में लगे थे। इन्हीं माधवेन्द्रपुरी के शिष्य ईश्वरपुरी से चैतन्य को वैष्णव भक्ति की दीक्षा मिली। वैष्णव दीक्षा मिलने के उपरान्त उनका समस्त समय वैष्णव भजन, कीर्तन में व्यतीत होने लगा। भजनों कीर्तनों की परम्परा पहले भी थी, पर चैतन्य जिस आवेग को उसमें भर दिया, उसकी समता भागवत में वर्णित मात्र कृष्ण के वेणु–गायन से ही की जा सकती है।

निशम्य गीतं तदनंगवर्धन
वज्रस्त्रियः कृष्णग्रहीत मानसा।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः
स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः।

इस प्रकार चैतन्य के इस संकीर्तन की सम्पृक्ति जिसे प्राप्त हो गयी वही इसकी माधुरी में आकण्ठ मग्न हो गया। इसमें शान्तिपुर के प्रख्यात पण्डित अद्वैताचार्य तथा संन्यासी नित्यानन्द ही सम्मिलित नहीं हुए, मुसलमान भक्त हरिदास भी आ जुड़े। चैतन्य सम्प्रदाय के विकास में आगे अद्वैत एवं नित्यानन्द ने महत्वपूर्ण योग दिया है। नित्यानन्द की अधीक्षता में सहस्त्रों पथ भ्रष्ट बौद्ध, नाथ–पंथी एवं शाक्त इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत आ गये। चैतन्य का कीर्तन धीरे–धीरे नगर कीर्तन का स्वरुप धारण कर लेता है। चैतन्य के बढ़ते हुए अनुयायायियों का यह सूचक है कि सहस्त्रों की संख्या में चैतन्य के नेतृत्व में लोग सड़कों पर नृत्य ज्ञान एवं कीर्तन करते–करते विह्वल होने लगे। चैतन्य का भी आवेश बढ़ता जा रहा था और सं0 1566 में काटवा ग्राम में ईश्वरपुरी के गुरुभाई केशव भारती से संन्यास दीक्षा लेकर वे घर गृहस्थी का मोह तोड़कर निकल पड़े। यहाँ फिर सिद्धार्थ की याद आ जाती है। अन्तर इतना है कि सिद्धार्थ जग के दुख से पीड़ित होकर घर से निकले थे पर चैतन्य ब्रह्मानन्द में डूबकर घर त्यागते हैं।

संन्यास लेने के पश्चात् चैतन्य जगन्नाथपुरी के लिए प्रस्थान करते हैं वहाँ पर वेदान्ती पंडित, तर्कशास्त्री तथा न्याय के प्रतिष्ठाता 'वासुदेवसार्वभौम' इनसे प्रभावित होते हैं। अद्वैताचार्य के बाद सार्वभौम की वैष्णव परिणति चैतन्य और उनकी भक्ति को विद्वानों में भी गहरी प्रतिष्ठा देती है। 'चैतन्य चन्द्रोदय' नाटक में कवि कर्णपूर नें सार्वभौम वासुदेव के कुछ अंश उस समय के उद्धृत किये हैं जबकि वे चैतन्य की शरण में आते हैं। उससे प्रतीत होता है कि चैतन्य को उनके समय तक अवतार माना जाने लगा था। अपने जीवन में ही इतनी जल्दी अवतार की प्रसिद्धि चैतन्य को छोड़कर शायद ही अन्य किसी को भारत वर्ष के धार्मिक इतिहास में मिली हो। पुरी ने कुछ दिन रहने के उपरान्त चैतन्य दक्षिण की तीर्थ यात्रा पर निकले। लगभग दो वर्ष तक वे इन यात्राओं में रहे। इसी दक्षिण यात्रा में उनकी भेंट रामानन्द राय से हुई जो स्वयं एक उच्च पदस्थ शासक थें। राय रामानन्द से वार्ता करने के बाद संभवतः चैतन्य की भक्ति–पद्धति का दार्शनिक–धार्मिक स्वरुप भी कुछ स्पष्ट हुआ। दक्षिण से ही चैतन्य ब्रह्म संहिता लाये थे जो आगे चलकर गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय का प्रधान उपजीव्य ग्रंथ बना। रुप गोस्वामी ने अपने भक्ति

शास्त्र के ग्रंथों में इसका उपयोग प्रमाणपत्र के रुप में किया है। इसी यात्रा में चैतन्य दक्षिण भारत की भक्ति के निकट सम्पक्र में भी आये होंगे दूसरी महत्वपूर्ण बात इस यात्रा की यह है कि उन्होंने वैष्णवों के साथ ही शैव तीर्थो का भी भक्ति–भाव पूर्वक भ्रमण किया। यहाँ तक कि शंकराचार्य के श्रृंगेरी मठ में भी वे गये लौटते–लौटते चैतन्य इतने जन प्रिय हो गये थे कि उड़ीसा के राजा प्रताप रुद्र देव भी इनके प्रभाव में आ गये। इसने चैतन्य सम्प्रदाय को आगे बढ़ने में और सहायता दी।

चैतन्य के मन में प्रारम्भ से ही वृन्दावन की यात्रा करने की इच्छा थी पर मार्ग में बराबर अड़चने आती रही। पुरी–यात्रा के तीन वर्ष पश्चात् वे वृन्दावन के लिए निकले इसी यात्रा के रास्ते बंगाल के मुसलमान के दो शासक उच्च पदाधिकारी चैतन्य के शिष्य थे जिनका नामकरण रुप और सनातन किया गया। आगे चलकर इन दोनों भाइयों ने सम्प्रदाय में अत्यन्त महत्वपूर्ण योग दिया। चैतन्य मत को दार्शानिक, धार्मिक और रस शास्त्रीय आधार उन्होंने ही प्रदान किया। चैतन्य ने जीवन में महान कार्य किया। प्रेमाभक्ति के आवेश को उन्होंने जन साधारण तक पहुंचा दिया उनके मुख्य सहायक नित्यानंद ने इस परिपाटी को और बढ़ा दिया। रामानन्द और बल्लभ के समान ही उनके भी महान शिष्य हुए। रुप, सनातन, जीव, गोपाल भट्ट, कृष्ण दास एवं रघुनाथ भट्ट ये षट्गोस्वामी किसी भी सम्प्रदाय के लिए ईर्ष्या के विषय हो सकते थें। बिना इनकी मान्यता के बंगाल तक कोई वैष्णव ग्रंथ चैतन्य मत में प्रामाणिक नहीं माना जाता था।

रामानन्द, बल्लभ और चैतन्य की इस वैष्णवाचार्य वृहत्त्रयी के अतिरिक्त कुछ अन्य व्यक्ति भी साधना और साहित्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण हुए हैं। गोस्वामी हितहरिवंश, स्वामी हरिदास दो ऐसे ही व्यक्तित्व थे। ये आचार्य स्वयं कवि न थे। उनमें से एक ने केवल शिष्यों को दृष्टि दी (रामानन्द) दूसरे ने सम्प्रदाय का विधिवत निरुपण और स्थापन किया (बल्लभ) और तीसरे ने अपने व्यक्तित्व के पारस संस्पर्श से जिस जनता (लोहे) की सोना बना दिया उसने स्वयं सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा कर दी (चैतन्य)। साहित्य एवं कला की दृष्टि से इनकी अपेक्षा इनके शिष्यों

का महत्व अधिक है। (कबीर एवं रैदास, अष्ठछाप के कवि, तथा वृन्दावन के षट् गोस्वामी ऐसे ही महत्वपूर्ण शिष्य हैं) परन्तु हितहरिवंश एवं हरिदास, ऐसा लगता है, आचार्य एवं शिष्य के समन्वित रुप थें। वे सम्प्रदाय प्रतिष्ठापक भी हैं और स्वयं उच्चकोटि के कवि भी, बल्कि यह कहना अधिक समीचीन लगता है—कि वे चैतन्य एवं अष्टछाप दोनों के मिले—जुले रुप हैं। वे चैतन्य की भाँति अपने व्यक्तित्व से भी प्रभावित करते हैं एवं अपने साहित्य तथा कला से भी। उनमें चैतन्य जैसी तन्मयता है एवं सूरदास जैसा काव्य संवेग भी। स्वामी हरिदास तो अपने युग के श्रेष्ठतम संगीतज्ञ भी थे।

स्वामी हरिदास :— ये महात्मा वृन्दावन में निम्बार्क मतान्तर्गत तत्सुखी सम्प्रदाय के संस्थापक थे और अकबर के समय में एक सिद्ध भक्त और संगीत कला कोविद माने जाते थे। कविता काल 1600 से 1617 ठहरता है। प्रसिद्ध गायनाचार्य तानसेन इनका गुरुवत सम्मान करते थे। यह प्रसिद्ध कि अकबर बादशाह साधु के वेष में तानसेन के साथ इनका गाना सुनने के लिए गया था। इनका जन्म संवत् आदि कुछ ज्ञात नहीं है पर इतना निश्चित है कि ये सनाढ्य ब्राहमण थे। इनके पद कठिन राग—रागनियों में गाने योग्य हैं।

सखी भाव की उपासना स्वामी जी की मुख्य देन है। दूर से ही लीला दर्शन एवं लीला गान के जो लक्षण गीतगोविन्द आदि से मिलने लगे थे। उनका श्रेष्ठतम परिपाक साधना के स्तर पर हरिदास जी में हुआ। उनकी साधना नितान्त एकान्तिक एवं सम्पूर्ण अनन्यता की है। उनकी साधना को सगुणोपासना कहना बहुत उचित नहीं, क्योंकि कृष्ण के ब्रज लीला वाले सगुण रुप को वे स्वीकार नहीं करते। लीला का एक नितान्त गोपनीय रहस्यात्मक प्रकार उनको स्वीकार था।

स्वामी हितहरिवंश :— राधाबल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्तक प्रसिद्ध भक्त हितहरिवंश जी हैं। इनके जन्म—मरण की तिथि ठीक—ठीक ज्ञात नहीं है, पर अधिकतर विद्वान इनका काल ईसा की 16वीं शताब्दी के प्रारम्भ में मानते हैं। हितहरिवंश की माता का नाम तारावती और पिता का नाम कुछ लोगों के अनुसार केशवदास मिश्र (उपनाम व्यास) था। ये राधा और कृष्ण की युगल मूर्ति की उपासना करते थे।

इनका प्रसिद्ध मंदिर वृन्दावन में है। कुछ विद्वान इसी कारण इनके मत को निम्बार्क सम्प्रदाय की एक शाखा मानते हैं और कुछ चैतन्य मत की उपर्युक्त सभी मतों को वैष्णव सम्प्रदाय की शाखा मानते है परन्तु धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों में मतभेद है। हितहरिवंश के चार ग्रंथ प्राप्त हैं। दो ग्रंथ संस्कृत में हैं और दो ब्रजभाषा में। 'राधासुधानिधि' और 'यमुनाष्टक' दोनों संस्कृत में प्रणीत हैं और 'हितचौरासी' एवं 'स्फुटवाणी' ब्रजभाषा में। इस सम्प्रदाय में वस्तुतः कृष्ण की अपेक्षा राधा को अधिक महत्व प्राप्त हुआ है। राधा का स्वरुप भी इसमें साधारण से विलक्षण है। यहॉ राधा नित्य विहरिणी तथा स्वतंत्र पराशक्ति हैं। प्रस्तुत सम्प्रदाय की अनुश्रुति है कि स्वयं राधा ने हितहरिवंश को स्वप्न में दर्शन देकर गुरुमंत्र की दीक्षा दी और उन्होने स्वयं उन्हें अपना शिष्य बना लिया। इसलिए हितहरिवंश के परम गुरु स्वयं राधा है। राधा की उपासना में इतनी अधिक तल्लीनता प्रकट करते हैं कि इनका प्रतिज्ञा–पूर्वक कथन हे कि राधा को छोडकर कृष्ण की उपासना करना मूर्खता है।

इनके मतानुसार राधा से कृष्ण का पृथक्करण उस प्रकार असंभव है जैसे जल से तरंग का। राधा और कृष्ण दोनों मिलकर एक तत्व बनते हैं। राधा की समस्त चेष्टाओं का अत्याधिक प्रयोजन कृष्ण को रिझाना है। यह आत्म–विसर्जन के बिना संभव नहीं है। यही प्रेम या हित का सिद्धान्त है। हितहरिवंश का सम्प्रदाय में भक्ति ही मुक्ति का साधन है, पर यह भक्ति प्रेमलक्षणा भक्ति का वह स्वरुप हैं जो अपने बाह्य रुप में पार्थिव प्रेम का आभास दे। राधा का कृष्ण के प्रति प्रेम निरन्तर इस धारा के समान प्रवाहमान है और कृष्ण रसिकों का अग्रणी है। उपषिदों ने उसे रस ही स्थापित किया है। रस ही जीव का परम ध्येय है। रस स्वरुप होने के कारण रस की उपलब्धि से ही वह आनन्दित हो सकता है। इसलिए प्रत्येक साधक उपासना में रसानुभूति का संचय करके ही जीवन की सार्थकता प्राप्त करता है भगवान की उपासना और आराधना में सरलता की प्रमुखता के कारण ही इस सम्प्रदाय को रसिक सम्प्रदाय भी कहा जाता है और इसमें दीक्षित साधकों को रसिक रासिक्य की अधिकता के कारण ही राधाबल्लभ सम्प्रदाय में कृष्ण को परतत्व न मानकर राधा को परतत्व माना गया है।

वास्तव में अपने नित्य जीवन में व्यक्तियों तथा वस्तुओं के प्रति जो कुछ रागात्मक संबंध जोड़ा जाता हैं वह अवश्य पार्थिव और ममत्व भावना संकलित होने के कारण निम्नस्तर का है। पर वही प्रभु के प्रति उन्मुख होने पर दिव्य और वासनाहीन हो जाता है। वही हमारे मोक्ष का कारण भी होता है अतएव वह भक्तों के लिए वरणीय है। जीव और प्रभु दोनों एक ही प्रेमतत्व के दो पार्श्व हैं। प्रेम या हित ही ब्रह्म है। वह निरन्तर और नित्य प्रेम केलि में चार रुपों में व्याप्त है। जड़ चेतन–मय दृश्य प्रपंच केवल प्रेम का प्रति स्फुरण है।

निष्कर्ष रुप में कहा जा सकता है कि 16वी शती में भक्ति में प्रेम का अप्रतिहत प्रवाह दिखाई देता है। निम्बार्क की राधा इस युग में रसोपासना की इष्ट बन गई। चैतन्य का राधा–भाव ही गोस्वामियों द्वारा श्रेष्ठतम रस–प्रतिपादित होता है? हितहरिवंश और हरिदास की माधुर्य–उपासना छोटे–बड़े सभी के आकर्षण का केन्द्र बनी। पुष्टि–मार्ग के मूल में मधुर भाव का प्रचार–प्रसार ही है। राधा–कृष्ण की भक्ति के इस स्वरुप ने सगुण मत के दूसरे मुख्य आराध्य राम के उपासकों भक्तों को भी बहुत प्रभावित किया। सगुणोपासक न होने के कारण संत मत में इन दम्पति लीलाओं की सीधी अभिव्यक्ति तो नहीं हुई, परन्तु माधूर्य–भाव की जो मूल धारणा थी, उसका प्रकाशन साधक एवं आराध्य के मध्य प्रतीक रुप में अवश्य हुआ। इस प्रतीक पद्धति के लिए तत्कालीन साधनाओं मे सूफी प्रेम–भावना सीधी प्रेरक शक्ति के रुप में विद्यमान थी। सूफी प्रेम–भावना स्वयं इन प्रेमाभक्ति की विविध साधनाओं को प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रुप से प्रभावित कर रही थी और स्वयं भी प्रभावित हो रही थी। वास्तव में ये सभी साधनाएँ परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करती रही हैं।

अध्याय–2

प्रेम का स्वरूप

मानव समाज को रागात्मक सम्बन्ध से जोड़ने वाला प्रेम–भाव बहुत प्राचीन काल से ही कवियों का प्रेरणा स्रोत रहा है। मानव की अनुभूतियों में जितनी तीव्रता प्रेमानुभूति में व्यंजित हो सकती है, उतनी किसी दूसरी अनुभूति में नहीं। मानव–कल्याण के लिए प्रेम–भावना सिद्ध औषधि है। यही प्रेम–भावना भक्ति–भावना के भीतर प्रवेश कर और भी निर्मल और उज्ज्वल हो जाती है।

भक्ति काव्य में प्रेम–भावना और भक्ति–भावना के बीच सीमा रेखा खींचना कठिन है। यहाँ ये दोनों भावनायें एक–दूसरे में अन्तर्निहित हो गयी है। अतः भक्ति काव्य के विवेचन के संदर्भ में भक्ति एवं प्रेम इन दोनों भावनाओं का स्पष्ट विवेचन समीचीन लगता है।

प्रेम की स्पष्ट, विशद और उपयुक्त परिभाषा देना कठिन है। कारण तो यह है कि प्रेम मानव मन में उत्पन्न एक भावानुभूति है, जिसे शब्दों के माध्यम से व्यक्त करने का प्रयास कठिन तथा दुरूह है। देवर्षि नारद ने इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रेम का स्वरूप गूँगे के स्वाद की भाँति अनिवर्चनीय है। प्रेम वाणी का विषय नहीं है, वह केवल अनुभवगम्य ही है। उसका जन्म–स्थान प्रत्येक प्राणी का मन है और वह एक मानसिक प्रक्रिया के रूप में बाहर प्रकट होता है। उसका प्रत्यक्ष प्रतिपादन कठिन है। वह हमारी बुद्धि के बाहर की वस्तु जान पड़ती है। फिर भी अनेक विद्वानों ने अपने–अपने अनुसंधान तथा चिंतन के अनुसार प्रेम के व्यावहारिक रूप को स्पष्ट करने की चेष्टा की है, और अब भी करते आ रहे हैं। यहाँ भारतीय–अभारतीय विद्वानों की कतिपय उक्तियाँ उद्धृत करना संगत होगा।

भारत के सबसे प्राचीन वैदिक साहित्य में प्रेम शब्द का नितांत अभाव है लेकिन भिन्न प्रसंगों में प्रेमार्थसूचक 'प्रिय', 'प्रिया', 'प्रेय' जैसे शब्दों का प्रयोग दृष्टिगत होता है।[1] इससे केवल किसी व्यक्ति या वस्तु से अच्छा लगने मात्र का बोध होता है। 'प्रेम' 'प्रिय' शब्द का भाववाचक रूप है। 'प्रिय' का अर्थ यह सूचित करता है कि जो आनन्द या तृप्ति प्रदान करता है, वही 'प्रिय' है। अतः 'प्रेम' शब्द आनन्द या तृप्ति का बोधक है। 'प्रेम' शब्द का प्राचीनतम प्रयोग सर्वप्रथम महाभारत में दृष्टिगत होता है।[2] प्रेम भावना की मूल उत्पत्ति हमारी आत्मा ही है। आत्मा की प्रेरणा के बिना कोई भी आनन्ददायक इन्द्रिय व्यापार नहीं हो सकता। प्रेम–भावना के मूल में इन्द्रिय व्यापार का बहुत बड़ा हाथ है। आचार्य दण्डी का मत है–'प्रेम मन का एक विकल्प मात्र है।'[3] कविकुल गुरु कालिदास ने प्रेम–पीड़ित प्राणी की मानसिक दशा की व्याख्या करते हुये समझाया है कि प्रेम में सतंप्त प्राणी जड़ और चेतन का भेद करने में सर्वथा असमर्थ होता है। भवभूति का मत है–'दो हृदयों को मिला देने वाला प्रेम अज्ञात् कारणों से उत्पन्न होता है, किसी बाह्य कारण से सौन्दर्यादि पर आश्रित होकर प्रेम का उत्पन्न होना असंभव है।'

फारसी के कवि रूमी ने कहा है कि प्रेम के आचरण के बिना प्रियतम तक पहुंचना असंभव है। उनके अनुसार प्रेम ईश्वरीय रहस्यों के प्रकाशन का एक साधन है। सूफी साधक अबू तालिब का कथन है कि– प्रियतम के दर्शन की लालसा प्रेम का ही लक्षण है। हसन सुहरावर्दी प्रेम और सौन्दर्य का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए बताते हैं कि सौन्दर्य के गहरे चिन्तन के लिए हृदय का झुकाव ही प्रेम है।

अंग्रेजी नाटककार विलियम शेक्सपीयर ने कहा है कि 'प्रेम बाह्य चक्षुओं के लिए अदृश्य है, पर प्रेमी साधक दिल से प्रेम का दर्शन कर सकता है।' वड्र्सवर्थ ने कहा है कि 'प्रेम सुन्दरतम को भी अधिक सुन्दर बना देता है।'

---

1. परशुराम चतुर्वेदी–मध्य कालीन प्रेम साधना (तृतीय संस्करण), पृष्ठ–92
2. डॉ० दशरथराज–दक्खिनी हिन्दी का प्रेमगाथा–काव्य, पृष्ठ–45
3. आचार्य दण्डी–दशकुमार चरित, पृष्ठ–292

हिन्दी के प्राचीन काल के कई कवियों ने भी प्रेम का विस्तृत निरूपण किया है। उनमें अधिकतर कवियों की परिभाषाओं में आध्यात्मिकता की झलक मिलती है। कबीरदास ने कहा है –

प्रेम न बाड़ी उपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै, सीस दै लै जाय।[1]

उसमान ने कहा है –

प्रेम का पहाड़ स्वर्ग से भी ऊंचा है।
बिना आश्रय के इस पर चढ़ना कठिन है।

नूर मुहम्मद ने कहा है कि –

प्रेम समुद्र अथाह है, बूडैमिलै न अंत।
तेहि समुद्र में हौं, तीर न मिलत तुरंत।।[2]

जायसी कहते हैं कि –

प्रेमघाव दुख–जान न कोई।
जेहि लागे जानै पै सोई।[3]

सूरदास ने कहा हैं कि–

प्रीति न मरन विचारै।
प्रीति पतंग जरै पावक परि, जलत अंग नहि तारै।[4]

बिहारी ने कहा है –

गिरि तें ऊँचे रसिक मन, बूड़े जहाँ हजारु।
बहै सदा पसु नरनु कौं, प्रेम पयोधि पगारु।[5]

प्रेम की इन परिभाषाओं एवं विवेचनों से स्पष्ट हो जाता है कि प्रेम का स्वरूप मनुष्य के स्वभाव, संस्कृति एवं सामाजिक परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित होता है। यद्यपि प्रेम सार्वभौमिक है फिर भी मनुष्य की प्रकृति के अनुसार उसके

---

1 हरिऔध–कबीर वचनावली (संग्रह–9वॉ संस्करण), पृ०–103
2 उसमान–चित्रवली, पृ०–40
3 श्री गुलाबराय–हिन्दी प्रेमगाथा काव्य–संग्रह, पृ०–65
4 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल–भ्रमरगीत सार (सग्रह), पद–124, पृ०–50
5 लाला भगवान दीन–बिहारी बोधिनी (संपादित), दोहा–618

स्वरूप में परिवर्तन होता रहता है। सभी विद्वानों ने प्रेम को एक मानसिक प्रक्रिया मानकर उसे किंचित मात्रा में आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान करते हुये विश्व का शाश्वत तत्व घोषित किया है।

प्रेम को परिभाषित करना भले ही कठिन है। लेकिन प्रेम की अनुभूति, प्रगाढता एवं स्वयं इसकी मधुरता का आस्वादन प्रेमी साधक कर सकता है। प्रेम मनुष्य की एक ऐसी अमूल्य निधि है जिसे ईश्वर का स्वरूप माना गया है। जिस प्रकार ईश्वर अदृश्य, अप्रकट एवं सर्वव्यापी होते हुये सुन्दर सृष्टि की रचना कर देता है उसी प्रकार प्रेम भी मनुष्य में अप्रकट रूप से रहकर उसके हृदय–दीप को प्रज्वलित कर उसे सुन्दर बना देता है।

प्रेम और सौन्दर्य :– प्रेम और सौन्दर्य का सम्बन्ध बताते हुये भारतीय काव्यशास्त्रियों ने प्रेम की उत्पत्ति का कारण सौन्दर्य का सामीप्य एवं दर्शन माना है। जहॉ सौन्दर्य है, वहाँ प्रेम है। सौन्दर्य और प्रेम के सम्मिलन से ही आनन्द का उद्भव होता है। सूफी कवियों का मत है कि सांसारिक प्रेम, ईश्वरीय प्रेम की प्रथम सीढ़ी है, जिस पर चढ़कर मानव की सृष्टि भी होती है।[1] ईश्वर प्रेम स्वरूप है और समस्त सृष्टि प्रेम की प्रतिमूर्ति मानी जाती है। सांसारिक प्रेम मानव मन में अवस्थित मूलभूत प्रेम भावना का परिचायक है। यह प्रेम भावना सौन्दर्य के दर्शन मात्र से ही जागृत हो जाती है। अतः इस संसार की समस्त सृष्टि का मूलाधार प्रेम और सौन्दर्य है। जायसी ने कहा है कि तीनों लोकों तथा चौदहों खण्डों में मुझे सर्वत्र यही सूझ पड़ता है कि प्रेम के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी सुन्दर नहीं है।[2]

प्रेम की तरह सौन्दर्य की स्पष्ट परिभाषा देना अत्यन्त कठिन तथा दुरूह कार्य लगता है। सौन्दर्य एक भावात्मक शब्द है जिसकी परिभाषा देना असंभव जान पड़ता है। वस्तुतः सौन्दर्य का सम्बन्ध हृदय से है, चित्त की वृत्ति से है। जहॉ चित्त की वृत्ति रम जाय, वहीं सौन्दर्य का आवास होता है। अतएव सौन्दर्य के सम्बन्ध में कोई निश्चित मत व्यक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि सौन्दर्य कोई स्थिर या जड़

---

1 डॉ० विमल कुमार–सूफी मत और हिन्दी साहित्य, पृ०–185
2 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल–जायसी ग्रंथावली (संपादित), पृ०–39

पदार्थ नहीं है, उसमें निरन्तर गतिशीलता रहती है। यही जीवन का भी लक्षण है। चित्त का रमण बौद्धिक प्रक्रिया द्वारा नहीं, हृदय की रागात्मकता से ही होता है, जिसकी व्याख्या करते हुए आचार्य शुक्ल ने कहा है– 'कुछ रूप रंग की वस्तुएँ ऐसी होती है, जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकर कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्तर्सत्ता की यही तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुकृति है।'[1]

इस अनुभूति के हृदय में आने पर समस्त विकार स्वतः ही पलायन कर जाते है, इसलिए प्रसाद जी ने लिखा है– यह "चेतना की अनुभूति का उज्ज्वल वरदान है।"[2] कालिदास का भी यही मत है। सौन्दर्य भावना सतोगुणी भावना है, उसमें पाप वृद्धि के लिए स्थान नहीं है, जहाँ विकार है, पाप है, वहाँ सौन्दर्य हो ही नहीं सकता।

यदुच्यते पार्वती पापवृत्तये न रूपामित्यव्यभिचारि तदवचः

पन्त जी ने सौन्दर्य में सत्य और शिव का दर्शन करते हुए कहा है –

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप, हृदय में बनता प्रणय अपार
लोचनों में लावण्य अनूप, लोक सेवा में शिव अविकार।

यहाँ कवि ने सौन्दर्य की अवस्थिति, विचार, भाव, कार्य और रूप सभी में स्वीकार की है। केवल किसी रूप में ही चित्त को रमाने की शक्ति नहीं होती, अपितु कोई भाव विचार या कार्य भी चित्त को रमा सकता है और उसी में सौन्दर्य की अनुभूति हो सकती है। इस अनुभूति में आनन्द के कारण ही रमणीयता आती है। डॉ० हरद्वारी लाल का कथन है–"वस्तु का सौन्दर्य उसका आध्यात्मिक रूप हैं । वह जिस चेतना को जन्म देता है, उसे रस या आनन्द कहा जाता है।" गोस्वामी तुलसी दास की सौन्दर्य भावना ऐसी ही है जिसमें भावित होकर उन्होंने जिस सौन्दर्य का चित्रण किया है। वह अनायास सहृदय–संवेद्य बन जाता है, चाहे वह रूप सौन्दर्य

---

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल–रस मीमांसा, पृष्ठ–25
2. जयशंकर प्रसाद–कामायनी (लज्जा सर्ग), पृ०–102

हो, भाव सौन्दर्य या वस्तु सौन्दर्य। विशेषता यह है कि उसकी अभिव्यक्ति में भी एक अपूर्व सौन्दर्य निहित है।

इस संसार की सभी भाषाओं के साहित्य में भी सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करने की चेष्टा की गई है। सौन्दर्य का अर्थ सुन्दर होने की अवस्था गुण या भाव सुन्दरता–किसी वस्तु का वह गुण तत्व समूह जो उसके आकार या रूप को आकर्षक और नेत्रों के लिए सुखद बनता है, अंग्रेजी में इसे ब्यूटी (Beauty) कहते हैं।"[1]

ऋग्वेद के कई मंत्रों में 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों में सुनरः (विशेषण) सुनरम (कारक) सुनरि (संबोधन) इत्यादि रूपों में हुआ है। इस शब्द का व्युत्पत्ति मूलक अर्थ 'सुष्ठुनरः इति सुनरः' अर्थात् सुन्दर मानव है। इस व्युत्पत्ति से मानवीय सौन्दर्य ही लक्षित होता है। लेकिन कालान्तर में इस शब्द का अर्थ–विस्तार भी हो गया हैं। वस्तुतः सुन्दररस्य भावः सौन्दर्यः, चरितार्थ होता है। अलंकारशास्त्र में चारुता तथा रमणीयता के अर्थ में सौन्दर्य का प्रयोग होता है। अभिनवगुप्त ने चारुत्व (सौन्दर्य) को काव्य की आत्मा बताया है। पं० जगन्नाथ ने 'रमणीयार्थः प्रतिपादक : शब्दः काव्यम' बताया है।

किसी वस्तु को सुन्दर या असुन्दर कहना सरल कार्य है, पर सौन्दर्य की रूप–रेखा खींचना सरल नहीं है। इस जटिल समस्या को सुलझाने के लिए आधुनिक काल में अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने अपनी सूक्ष्म बुद्धि,गहरे अध्ययन और चिन्तन का योग दिया हैं, फिर भी वे इस दिशा में भारतीय मनीषियों से कहीं अधिक आगे बढ़ नहीं सके हैं।

भारत के सर्वप्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद में उत्कृष्ट सौन्दर्य के तत्व निहित हैं। वेद में सौन्दर्य तत्व की 'स्वस्ति' की संज्ञा दी गई है। 'स्वस्ति' शब्द सु' और 'अस्ति' के योग से बना है। 'सु' का अर्थ है– सुन्दर और अस्ति का अर्थ सत्य या सत्ता है।

1 रामचन्द्र वर्मा–मानक हिन्दी कोश, पांचवॉ खण्ड (संपादित), पृ०–462

अतः 'स्वस्ति' का अर्थ सुन्दर सत्य या सत्य सुन्दर माना जा सकता है।[1] सुख और दुख की दो परस्पर विरोधी मनोवृत्तयों से समस्त प्राणियों का जीवन गतिशील बनता है। मानव में भी ये चित्रवृत्तियाँ जीवन–चक्र को आगे बढ़ाती हैं। जिस वस्तु से मनुष्य का मन आकर्षित होकर आनन्द की अनुभूति में मग्न होता है, वह सुन्दर कही जा सकती है। प्रकृति की कोमल तथा आकर्षण वस्तुएं मानव की आंखों में सुन्दर प्रतीत होती हैं क्योंकि ये उनके मन में सुखद अनुभूति उत्पन्न करती हैं और वही सौन्दर्यानुभूति कही जाती है। सौन्दर्य के सम्बन्ध में वैदिक दृष्टिकोण भी इस तत्व से अत्यन्त मिला–जुला है। यद्यपि वैदिक साहित्य में 'सौन्दर्य' या सुन्दर शब्द का स्पष्ट प्रयोग नहीं हुआ है, तथापि 'प्रिय' 'प्रमुद' 'मोद' आदि शब्दों के द्वारा जिस अनुभूति की ओर संकेत किया गया है, वस्तुतः वही सौन्दर्यानुभूति है।

पाश्चतात्य सौन्दर्य मीमांसकों ने सौन्दर्य को दो वर्गो में बाँटा है–भौतिक सौन्दर्य और आध्यात्मिक सौन्दर्य। भौतिक सौन्दर्य वह है जो मनुष्य के मन में बाह्य चक्षुओं द्वारा आनन्दनुभूति प्रदान करता है। उदीयमान सूर्य की लालिमा, चाँदनी रात की धवलिमा तारों का झिलमिलाना, मनमोहिनी प्रेयसी का प्रेमसिंचित कटाक्ष आदि किसको आमोदित और विमोहित नहीं कर डालते। भौतिक सौन्दर्य के दो भेद है– प्रकृति सौन्दर्य और मानवीय सौन्दर्य। प्रकृति का सौन्दर्य प्रेक्षक अपनी मानसिक स्थिति के अनुसार अवलोकन करता है और आवास्वादन भी। सौन्दर्य का बोध पंचेन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता हैं। सुन्दर वस्तु देखने, सुनने और अनुभव करने से सुन्दर प्रतीत होती है। प्राकृतिक सौन्दर्य का भी विविध रूपों में हमें अनुभव होता है। मानवीय सौन्दर्य के अन्तर्गत स्त्री और पुरुष दोनों का सौन्दर्य आता हैं।

सौन्दर्य का आध्यात्मिक दृष्टिकोण इससे भिन्न है। प्राचीन यूनानी विद्वान सुकरात 'सत्यं शिवम् सुन्दरम्' को एक ही मानते थे। वे वस्तुओं की उपयोगिता को प्रधान मानकर उपयोग की मात्रा के अनुसार सौन्दर्य का निरीक्षण करते थे। उनका मत था कि गोबर से भरी हुई टोकरी भी सुन्दर बन जाती है, यदि वह अपना कुछ उपयोग रखती है जबकि सुवर्णढाल भी असुन्दर है यदि वह उपयोग की दृष्टि से

---

1 डॉ० फतेहसिंह–भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका, पृ०–1

अपूर्ण है। इस प्रकार सुकरात उपयोगिता को सौन्दर्य का पर्यायवाची भी मानते थे। प्लेटो ने प्रत्यक्ष संसार को किसी अप्रत्यक्ष जगत् की प्रतिच्छाया घोषित करते हुए समस्त सौन्दर्य को किसी अलौकिक शक्ति से संबंधित माना है। कबीर जैसे भारतीय रहस्यवादी साधकों के विचारों से भी यह पर्याप्त साम्य रखता है। लेकिन आधुनिक विद्वान इस विचारधारा का खण्डन करते हैं। हरवर्ट महोदय ने सौन्दर्य को वस्तु विशेष पर आधारित न मानकर द्रष्टा की भावना पर आश्रित बताया है। आई० ए० रिचर्ड्स ने बताया है कि भावात्मक संतुष्टि का नाम ही सौन्दर्य है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि सौन्दर्य मानव की मानसवृत्ति की महत्वपूर्ण देन है और वह हमारे मन में उद्‌भुत होकर बाह्य वस्तुओं पर प्रकट होता है।

प्रेम सौन्दर्य पर आधारित है। प्रिया के अनुपम सौन्दर्य के दर्शन अथवा श्रवण से ही प्रेमी के हृदय में प्रेम की उत्पत्ति होती है। उसमान का मत है "जहाँ रूप है, वही प्रेम है, और जहाँ प्रेम है वहाँ बिरह भी है।[1] साहित्यिक दृष्टि से रूप और सौन्दर्य समानार्थक शब्द है। पर उनमें थोड़ी भिन्नताएँ भी हैं। रूप में आकार और विविध अंगों के उचित संगठन और पुष्टि का सौन्दर्य रहता है। अर्थात् रूप में आकारगत शोभा का महत्व रहता है और सौन्दर्य उस आकार में स्थित छवि का बोधक है।[2]

संस्कृत साहित्य में जो कल्पना की गयी हैं, वह रूप पर आधारित है। यदि रूप दीपक की बत्ती है, तो प्रेम उसकी ज्योति है। प्रेमी पतंग उसकी प्रज्वलित ज्वाला की सुन्दरता में आकृष्ट होकर उस पर कूदकर अपने आप को जला देता है। यह रूप अथवा सौन्दर्य के आस्वादन के लिए प्रेमविह्वल होकर मृत्यु का आलिंगन करता है। यह मृत्यु भी उस प्रेमी साधक को आनन्ददायक है। अतः सौन्दर्य किसी वस्तु के प्रत्यक्षीकरण, स्मृति या कल्पना से प्राप्त आनन्द की प्रतीति है। अलगजाली ने सौन्दर्य और प्रेम के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए अपने मत को व्यक्त किया है—

1. उसमान—चित्रावली, पृ०—13
2. डॉ० पुरूषोत्तम दास अग्रवाल—मध्यकालीन हिन्दी कृष्ण काव्य में रूप—सौन्दर्य, पृ०—10

'सौन्दर्य वह है जो वास्तव में प्रेम को जन्म देता है। अतः आत्मा लौकिक सौन्दर्य पर टिकी नहीं रहती, बल्कि इस सौन्दर्य से गुजरते हुए उसकी दृष्टि अन्यत्र लगी रहती है। वह सर्वोत्तम से प्रेम करने के पक्ष में है जिसे ईश्वरीय सौन्दर्य कहते हैं। वही संसार के सौन्दर्य का मूल स्रोत भी है। जहाँ सौन्दर्य होगा, वहाँ प्रेम भी हो जायेगा, इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता और यह भी मानना होगा कि सौन्दर्य जितना अधिक होगा, उतना ही अधिक प्रेम भी होगा। पूर्ण सौन्दर्य केवल उसमें ही है, अतः वही सच्चे प्रेम का अधिकारी भी है।[1] ईश्वर ने प्रेम के वशीभूत होकर समस्त संसार की सृष्टि की है, इस कारण यह संसार प्रेम का प्रत्यक्ष रूप है। अतः ईश्वर प्रदत्त सारी वस्तुएँ सुन्दर दीख पड़ती हैं और ये प्रेम में परिपूर्ण परिप्लुत भी हैं। सौन्दर्य जो वस्तुनिष्ठ सत्ता होने पर भी जीवन के विविध क्षेत्रों में स्पष्ट रूप से व्यक्तिगत भी है। जो वस्तु एक व्यक्ति की दृष्टि में सुन्दर दीख पड़ती है, वही वस्तु दूसरे की दृष्टि में कभी–कभी असुन्दर प्रतीत होती है। सौन्दर्य का मानदण्ड व्यक्ति की पसन्द है। सौन्दर्य का अनुभव सर्वप्रथम प्रेक्षक की आँखों में होता है।'

साहित्य में नारी सौन्दर्य का चित्र अधिक खींचा गया है। भारत के प्राचीन कवियों ने नारी–सौन्दर्य के चित्रण में शारीरिक रूप–लावण्य के साथ मानसिक सुन्दरता एवं चरित्रगत आदर्श जीवन को भी स्थान दे दिया है। सौन्दर्य प्रत्येक व्यक्ति की रूचि पर पूर्ण रूप से अवलम्बित हैं। सौन्दर्य के सम्बन्ध में भारतीय दृष्टिकोण से पाश्चात्य विचारधारा भी भिन्न है। कारण यह है कि सामाजिक परिस्थिति तथा संस्कृति के अनुसार–सौन्दर्य का मानदण्ड परिवर्तित दीख पड़ता है। इस कारण यह जान पड़ता है कि सौन्दर्य व्यक्तिनिष्ठ ही है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सौन्दर्य वस्तु परे से नहीं द्रष्टा में निहित है।

सैन्दर्य की प्रधानतः तीन गुण होते हैं। प्रत्येक सुन्दर वस्तु में भी ये गुण विद्यमान हैं। वे हैं–आकर्षण, नवीनता और आनन्द प्राप्ति। रमणीयता के कारण आकर्षण होता है और आकर्षण से सौन्दर्य की प्रतीत होती है। जो वस्तु जितनी ही

---

1 डॉ० दशरथ राज–दक्खिनी हिन्दी का प्रेमगाथा काव्य, पृ०–47

रमणीय होती है, उतना ही उसका आकर्षण एवं सौन्दर्य बढ़ जाता है। जिस वस्तु में आकर्षण होता है उसमें प्रेमी पात्र नीवनता का अनुभव करने लगता है। नवीनता की अनुभूति भी मन और आँख की प्रियता पर आश्रित है। सौन्दर्य में प्रियता का भाव अधिक है, इसलिए हमारे साहित्यकारों ने सुन्दर कलाओं की सृष्टि के लिए माधुर्य भाव को बहुत अधिक महत्व प्रदान किया है। सुन्दर वस्तु वह है, जिसमें रामणीयता एवं नवीनता के साथ माधुर्य भी उपस्थित है। रमणीयता का रूप क्षण–क्षण में उत्पन्न होने वाली नवीनता से ही प्रकट होता है। नर–नारी की शारीरिक एवं मानसिक भिन्नता ही उनके पारस्परिक आकर्षण का मूल कारण है। यह आकर्षण अनादि काल से बना हुआ है।[1] सुन्दर वस्तु हमेशा आनन्ददायक बनी रहती है। मनुष्य के जीवन का चरम लक्ष्य भी आनन्द प्राप्ति है। नितान्त नवीन तथा आकर्षक सौन्दर्य आनन्दप्रद भी बन जाता है। इस सौन्दर्य की आनन्दानुभूति के कारण मन में प्रेम उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार सौन्दर्यशास्त्र में सौन्दर्य और आनन्द को प्रायः पर्याय माना गया है। सौन्दर्यशास्त्र का विषय भी वह सौन्दर्य है जो इन्द्रियों को सुख देता है।

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की शब्दावली में कला का मूल तत्व सौन्दर्य है और भारतीय रस सिद्धान्त के अनुसार–'रस'। नर–नारी का आकर्षण ही इन्द्रिय सुख की नींव है। अतः इनके पारस्परिक आकर्षण से मंगलमय काम वृत्ति का आविर्भाव होता हैं।

प्रेम और काम :– मनुष्य अपने सामाजिक जीवन में प्रेम भावना के कारण एक दूसरे से संबंधित रहते है इस प्रेम भावना के मूल में काम विद्यमान है। परन्तु जब तक यह काम परिष्कृत, परिमार्जित और निर्मल नहीं हो जाता तब तक वह प्रांजल प्रेम–भावना नहीं बन पाती।

भारत जैसे धर्म प्राण देश में वैदिक काल से ही मानव काम को धर्म प्रेरित प्रक्रिया मानता आया है। ऋग्वेद में 'काम' शब्द कामना के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मानव सृष्टि के मूल में भी यही 'काम' कार्य करता है। आदि पराशक्ति की कामना

1 रामबहोरी शुक्ल & भगीरथ मिश्र–हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास, पृ०–125

के कारण आदि मानव की सृष्टि हुई और कामना के फलस्वरूप मानव की सृष्टि का विस्तार भी होने लगा। वस्तुतः काम शब्द सृष्टि के परमतत्व के लिए ही प्रयुक्त होता है।[1] 'काम' शब्द का प्रयोग इच्छा अभिलाषा, कामना, मनोरथ वासना आदि अर्थो में भी किया जाता है।

वैदिक साहित्य में 'काम' और 'प्रेम' पर्यायवाची शब्द हैं। यद्यपि प्रेम शब्द का प्रयोग उसी रूप में वैदिक साहित्य दीख नहीं पड़ता, तथापि उसके अर्थ में काम शब्द का प्रयोग यत्र–तत्र दुष्टिगत होता है। ऋग्वेद में काम से बने 'कामी' शब्द का अर्थ वासनामय पुरुष के लिए प्रयुक्त है।

अथर्ववेद के काम–सूक्त में काम को संकल्पमय अर्थ में ग्रहण किया गया है। तैत्तरीय ब्राह्मण में काम को समुद्र के समान विशाल एवं अगाध माना गया है।।

भगवान कृष्ण ने भी भगवद्गीता में काम को धर्म के मार्ग में एक बड़ी रुकावट के रूप में कहा है। भारतीय धर्म शास्त्र में काम की गणना चार पुरुषार्थो में (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) करके उसका महत्व स्पष्ट कर दिया गया है।

'काममय एवायं पुरुषः' अर्थात् पुरुष काममय ही है, काममय एवं इच्छामयः अर्थात्–काम इच्छामय ही है। इन उक्तियों में काम की सर्वव्यापकता परिलक्षित होती है। अथर्ववेद में काम को देवता के रूप प्रतिष्ठित किया गया है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि मानवीय अन्तर्वृत्तियों में काम का महत्वपूर्ण स्थान है। काम मानव की एक नैसर्गिक प्रेरणा है जिसका मूल कारण प्रजनन की आवश्यकता की पूर्ति करना है। नर–नारी का आकर्षण, काम समन्वित प्रेम भाव और मिलनेच्छा काम की प्राकृतिक प्रेरणा है, जिसकी उत्कट तीव्रता यौवन में ही संभव होती है। नर अकेले अधूरा है, उसकी पूरणी है नारी। सर्वशक्तिमान शिव भी अकेले अपूर्ण हैं, शक्ति के मिलन से ही सम्पूर्ण बन जाते हैं, इसलिए उनको अर्धनारीश्वर' भी कहा जाता है। कोशों में 'अर्धनारीश्वर' शब्द शिव के लिए पर्यायवाची शब्द भी बन गया

---

1 रामचन्द्र वर्मा–मानक हिन्दी कोश (पहला खण्ड), पृ०–510

है।[1] नर–नारी की मिलनेच्छा उनकी आन्तरिक प्रेरणा है, क्योंकि वे एक दूसरे के पूरक है। सन्तान प्राप्ति के मूल में अमरता की इच्छा भी होती है। इसी काम भाव को साहित्य में रतिभाव भी कहा जाता है।

काम भाव को बौद्ध दर्शन में कामतृष्णा और चरक संहिता में प्राणेषणा कहा गया है।[2] भोग की इच्छा मनुष्य मन की सबसे प्रबल और स्वाभाविक प्रवृत्ति है। जिसके कारण वह दूसरे की ओर आकर्षित होने की प्रबल इच्छा रखता है। यही मूलभूत इच्छा कालान्तर में कामशास्त्र के निष्पति का कारण बनती है एवं विद्वानों की लिए चर्चा का भी विषय बनती है। काम मनुष्य के स्वभाव में निहित है जिसका प्रकाशन स्त्री–पुरुष के शारीरिक संयोग से स्पष्ट होता है। कामशास्त्र के अनुसार–स्त्री–पुरूष के मन में व्याप्त विषय–वासना को ही काम कहा जाता है। ऐसी जनश्रुति है कि काम शास्त्र के प्रथम आचार्य महादेव के अनुसार नन्द किशोर थे।[3] लेकिन इनकी कोई रचना उपलब्ध नहीं है।

कामशास्त्र के सर्वप्रथम लेखक उद्दालक ऋषि के पुत्र श्वेतकेतु को माना जाता है। परन्तु कामशास्त्र के विषय में सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप में ग्रंथ रचने का श्रेय महर्षि वात्स्यायन को प्राप्त है। देवव्रत शास्त्री ने लिखा है–वात्स्यायन ने काम और प्रेम को एक ही माना है। उन्होंने लोक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर 'कामसूत्र' की रचना की थी।[4] अज्ञानता के कारण मनुष्य कभी–कभी बड़ी–बड़ी गलतियाँ कर डालते हैं इसलिए ऐसे लोगों को मार्ग निर्देश देना ऋषि–मुनियों अथवा विद्वानों का कर्त्तव्य रहा है। अतः मानव जीवन की सबसे शक्तिशाली काम तत्व के उपयोग का विशद अध्ययन प्रस्तुत करके वात्स्यायन ने इहलोक जीवन की सफलता का मार्ग–निर्देश किया है। वात्स्यायन ने काम भावना उत्तेजित करके जीवन को सदाचारहीन बनाने का कभी प्रयास नहीं किया, लेकिन 'कामसूत्र' में जो अश्लील चर्चा की गयी है, वह अनभिज्ञ और अनुभवहीन लोगों की कामशास्त्र और

---

1 रामचन्द्र वर्मा–मानक हिन्दी कोश (प्रथम खण्ड), पृ०–184
2 डॉ० रामलखन पाण्डेय–मध्यकालीन संत साहित्य, पृ०–408
3 डॉ० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी–श्रृंगार रस का शास्त्रीय विवेचन, पृ०–76
4 देवदत्त शास्त्री–हिन्दी कामसूत्र (आमुख), पृ०–6

रति रहस्य का महत्व समझने के लिये ही है। प्रो० चाकलधर ने कामसूत्र की रचना में वात्स्यायन के उद्देश्यों का स्पष्ट करते हुये लिखा है–'उन्होंने स्वंय विशुद्ध ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत किया था। कामजन्य वासना की ज्वाला प्रज्वलित करने के लिये नहीं परन्तु विश्व मंगल की महत्वपूर्ण भावना से प्रेरित होकर ही उन्होंने 'कामसूत्र' की रचना की थी। इसकी रचना करते समय वे निगूढ़ चिन्तन में समाधिस्थ से हो जाते थे।'

मनुष्य के आदर्शपूर्ण इहलौकिक जीवन की सफलता, धर्म, अर्थ और काम के उचित भोग और उपभोग में ही सन्निहित है। एक निर्मल चित्त वाला मनुष्य काम के उपभोग के समय अर्थ और धर्म का निषेध नहीं करता। काम किसी प्रकार के धर्म का बाधक नहीं है बल्कि वह धर्म से नियंत्रित है। भगवद्गीता में भी कहा गया है कि ईश्वर ऐसी कामनाओं में विद्यमान है, जिसमें धर्म का निषेध नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि धर्म के क्षेत्र में भी काम का महत्व पूर्ण स्थान है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने भी लिखा है, "पंडितों का कथन है कि काम प्रेम का ही वैदिक रूप था, यद्यपि पीछे इसका प्रयोग क्रमशः संकुचित अर्थ में होने लगा और इससे हेय अथवा कुत्सित अर्थ की भी व्यंजना होने लगी।[1]

वस्तुतः काम मनुष्य के लिए आनन्द का उपाय है। आदि मनुष्य मनु ने भी काम की व्यापकता को समझा था कि 'इस संसार में कहीं भी अकामता नहीं है। कोई भी क्रिया कहीं भी अकाम नहीं देखी जाती।'

महाकवि सूर की दृष्टि में प्रेम और काम अभिन्न हैं। प्रेम के व्यापक अर्थ को सुस्पष्ट करते हुए सूर ने 'प्रीति' शब्द का प्रयोग किया है जो कि प्रेम का पर्याय ही है। 'प्रीति' अथवा प्रेम की मूल प्रेरक वृत्ति स्त्री पुरुष की रति भावना या काम वृत्ति है।

प्रीति जानने जननी सुत, कारन को न अपनयौ हारे?
सूर श्याम सो प्रीति गोपिन की कहु कैसे निरुवारै।।[2]

---

1 आचार्य परशुराम चतुर्वेदी–हिन्दी काव्यधारा में प्रेम–प्रवाह, पृ०–3–4
2. आचार्य रामचन्द्र शक्ल–भ्रमरगीत सार (सम्पादक), पद–121, पृष्ठ–50

सूरदास ने ब्रजभूमि के 'प्रेमी कृष्ण' को कामी कान्त के रूप में भी देखा है। सूर के कृष्ण, राधा और गोपियाँ सब किसी प्रकार की अलौकिक शक्तिशाली काम वेदना से पीड़ित हैं, जिनकी पीड़ा का हरण शारीरिक मिलन में ही है।

डॉ० रूप नारायण ने यह सिद्ध कर दिया है कि माधुर्य भक्ति के मूल में भी कामवृत्ति ही काम करती है और वह कभी उदात्त रूप भी प्राप्त करती है। डॉ० बच्चन सिंह की राय है कि "मनोवैज्ञानिक काम में जहाँ मन और आत्मा का संश्लेषण होता है, वही प्रेम है। काम मूल प्रवृत्ति और प्रेमभाव है। भाव एक मानसिक स्थिति है, स्थूल संभोग प्रवृत्ति नहीं।"[1]

डॉ० मिथिलेश कान्ति ने धर्म और काम भावना का सम्बन्ध स्थापित करते हुए बताया है कि "यर्थाथ में यदि भक्ति साहित्य से काम–भावना निकाल दी जाये तो उसके बाद जो कुछ बच रहेगा, वह अत्यल्प, नीरस, अनाकर्षक और प्रायः महत्वहीन होगा। इस काम भावना के निष्कासन से न जाने कितने भक्ति सम्प्रदायों की नीवं ही हिल जायेगी।"[2]

जिन लोगों ने 'काम' और 'प्रेम' को एक ही माना है और मानव–जीवन की मूलवृत्ति के रूप में उसे स्वीकार किया है, यह अनुभव की दृष्टि से युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता। काम और प्रेम का सम्बन्ध अवश्य होता है पर इन दोनों को एक समान मानना उचित नहीं है।

इन दोनों वृत्तियों के कर्मक्षेत्र में पर्याप्त भिन्नता दृष्टिगत होती है। काम केवल शारीरिक मिलन तक ही सीमित है, जबकि प्रेम इससे ऊपर उठकर हृदय–हृदय के मिलन और एकात्मकता पर आधारित है। प्रेम में दृढ़ता, एकोन्मुखता, गंभीरता और निःस्वार्थता होती है। पर काम वृत्ति क्षणिक, चंचल और अस्थिर होती है।

---

1 डॉ० बच्चन सिंह–रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना, पृ०–96
2 डॉ० मिमिलेश–'हिन्दी भक्ति शृंगार का स्वरूप'

वृन्दावन की गोपियाँ केवल कृष्ण प्रेम ही चाहती थीं और उस प्रेम के लिए सारे सुख, सम्पत्ति और परिवार के भी परित्याग करने को वे तैयार थीं। इस त्याग–भाव का महत्व केवल प्रेम में ही है, काम में नहीं। प्रेमतत्व (शृंगार) के दो पक्ष हैं संयोग एवं वियोग–शृंगार। भक्ति काव्य में संयोग से ज्यादा वियोग की व्यापकता दिखाई देती है।

हिन्दी के अधिकतर काव्य शात्रियों ने शृंगार रस का स्वरूप इस प्रकार निर्धारित किया है–हिन्दी काव्य–शास्त्र में रस को काव्य की आत्मा माना गया हैं नवों रसों में सबसे व्यापक शृंगार रस हैं। शृंगार के अन्तर्गत जितनी मानवीय वृत्तियों का समाहार होता है, उतना अन्य रसों में नहीं। इसलिए शृंगार का रस राज नाम सार्थक सिद्ध होता है।

मध्यकालीन हिन्दी के आचार्यों का आदर्श स्वकीयाप्रेम ही हैं। शृंगार का स्थायी भाव रति है और उसका व्यावहारिक रूप प्रेम है। 'रति' भाव जीवन का आकर्षण हैं। रति भावना के अभाव में मनुष्य का जीवन चैतन्य हीन एवं निर्जीव बन जाता है।

शृंगार का स्वरूप :– शृंगार के दो रूप हो सकते हैं– (1) लौकिक शृंगार (2) अलौकिक शृंगार

सामान्य स्त्री–पुरुष के मन में उत्पन्न रति भाव लौकिक शृंगार की निष्पत्ति करता है और ईश्वर के प्रति प्रेम की भावना जिस भक्त के हृदय मे उत्पन्न होती है, उसके कारण जो भगवद विषयक रति या प्रेम भाव उद्भूत होता है, उसे अलौकिक शृंगार कहते है।

आध्यात्मिक प्रेम की अभिव्यक्ति में भी लौकिक दाम्पत्य भावना पूर्ण रूप से विद्यमान है, अतः इसमें शृंगार के तत्व निहित हैं। कबीर, दादू आदि निर्गुणोपासक संतों ने सर्वव्यापी निर्गुण परब्रहम के लिए मिलन–विरह के जो अनुपम गीत गाये हैं वे अलौकिक शृंगार या आध्यात्मिक शृंगार की श्रेणी में माननीय हैं।

वियोग शृंगार :– रस सिद्धान्त में वियोग शृंगार का स्थान सार्वोपरि है। व्यापकता, गहराई, महत्व और प्रभाव **की** दृष्टि से काव्य शास्त्र में भी विप्रलम्भ शृंगार ही शृंगार रस का अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है।

मानव मन को क्रियाशील बनाने वाली प्रेम–भावना की अभिव्यक्ति संयोग की अपेक्षा वियोग में अधिक हो सकती है। शृंगार रस की पुरिपुष्टि के लिए वियोग अत्यन्त आवश्यक है।

वियोग और विप्रलम्भ दोनों साहित्य में समानार्थी शब्द हैं। लभ् धातु का अर्थ है 'प्राप्ति' 'प्र' का अर्थ है 'प्रकर्ष'। 'वि' का अर्थ 'वंचना' अर्थात् जहाँ प्राप्ति की इच्छा का प्रकर्ष होने पर भी 'बंचना ' होती है अर्थात् अप्राप्ति होती हैं वही विप्रलम्भ होती है।[1]

सभी कवियों ने नायक–नायिका के अलग होने पर होने वाले संताप को ही विप्रलम्भ माना है। वस्तुतः उत्कट अनुराग के होने पर भी जब प्रिय–प्रिया संयोग का अभाव रहता है उस अवस्था को विप्रलम्भ मानना चाहिए।

इसके चार भेद माने गये हैं– (1) पूर्वराग (2) मान (3) प्रवास (4) करूण।

पूर्वराग में नायक–नायिका के मिलन के पूर्व हृदय में अनुराग उत्पन्न होता है। इस संकल्पमय प्रेम–भाव को पूर्वराग कहते है। सूफी काव्य में प्रेम का उदय साक्षात् दर्शन, चित्र दर्शन, स्वप्न दर्शन या रूप–गुण श्रवण से होता है। मर्यादावादी तुलसीदास ने भी भगवान राम और सीता के प्रथम दर्शन को प्रेमांकुर का कारण बताया है। जनक की वाटिका में राम तो सीता के नुपूरों की ध्वनि ही सुनकर अपने हृदय में रति का प्रभाव अनुभव करने लगते है। सीता भी उन्हें एकटक निहारती रह जाती हैं। राधा–कृष्ण का प्रेम भी प्रथम दर्शन से उत्पन्न होता है, सूर ने उनके पूर्व–राग का खूब चित्रण किया है।

---

1. डॉ० मधुर मालती सिंह–आधुनिक हिन्दी काव्य में विरह भावना, पृ०–31

ईर्ष्या या क्रोध के कारण नायक–नायिका के संयोग–प्रतिबद्ध की दशा को मान कहते है।

प्रवास विप्रलम्भ में नायक–नायिका में से किसी एक का परदेश में होना प्रवास कहलाता है। इसके परिणामस्वरूप जो वेदना होती है, उसे प्रवास विप्रलम्भ माना जाता है। प्रिय के प्रवास काल में उत्पन्न विरह वेदना बहुत गंभीर तथा व्यापक होती है। हिन्दी के सूर, जायसी, घनानन्द आदि मध्यकाल के कवियों ने प्रवास विप्रलम्भ का अनुपम वर्णन किया है।

नायक–नायिका में से किसी एक के दिवंगत हो जाने पर दूसरा जो दुखी होता है तो उस अवस्था को करुण विप्रलम्भ कहते है। अतः स्पष्ट है कि जहाँ प्रेम है, वहाँ विरह है और वह विरह पीड़ा, तड़पन आदि रूपों में प्रकट होता हैं विरह की सर्वव्यापकता की स्पष्ट करते हुए महाकवि सूर ने कहा है–

उधौ विरहौ प्रेम करै[1]

उसमान कवि ने कहा है–

रूप प्रेम मिलि जो सुख पावा
दुनहूँ मिलि बिरहा उपजावा।।
जहाँ प्रेम तहाँ विरहा जानहुँ
बिरह बात जनि लघुकरि मानहु।।

आगे उसमान कवि कहते हैं–

रूप प्रेम विरहा जगत, मूल सृष्टि के थम्भ

इस प्रकार जहाँ सौन्दर्य है, वहाँ प्रेम है और प्रेम का परिपाक विरह में ही है। अतः यह कहा जा सकता है कि सौन्दर्य और विरह का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध हैं प्रेम मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है और विरह उसकी आत्मा है। प्रेम का वास्तविक गौरव विरह में है, क्योंकि विरह के बिना प्रेम का अस्तित्व ही निर्मूल है। प्रसिद्ध संत दादू दयाल ने इसलिए कहा है–

---

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल–भ्रमरगीत सार (संपा0), पद सं0–202

पहिला आगम विरह का, पीछइ प्रीति प्रकास।
प्रेम मगन लवलीन मन, तहाँ मिलन की आस।

विरह की दस मानसिक–अवस्थाएँ हैं। इन्हें विरह की दस दशांए कहना युक्ति संगत होगा–

वियोगावस्था में नायक–नायिक परस्पर मिलन की अभिलाषा करने लगते है। यह अवस्था पूर्वराग में विशेष रूप से होती है। यह विरह दशा के प्रथम सीढ़ी है।

प्रिय दर्शन के अभिलाषा से मिलन के विविध उपायों को चिन्तन या चिंता कहते हैं। मिलन के मार्ग में आने वाली रूकावटों को हटाने की चिंता भी होती है।

प्रिय के अभाव में अपने विगत संयोग सुख की याद की स्मृति कहते है। नायिका प्रेमाधिक्य के कारण प्रिय का स्मरण किये बिना नहीं रह सकती। इस स्मृति में आनन्द भी है।

वियोगावस्था में प्रिय के गुणों का वर्णन करना गुणकथन कहलाता है।

प्रिय–वियोग के कारण मन में उत्पन्न उत्कट इच्छा और विवशता के संघर्ष से व्याकुल होकर किसी विषय में चित्त के न लगने और अस्वस्थ होने का नाम ही उद्वेग है।

विरह जन्य वेदना के कारण मन की असंतुलित अवस्था में नायिका अपने प्रिय की अनुपस्थिति में भी उसे उपस्थित मानकर जो निरर्थक बातें करने लगती है उसे प्रलाप कहते हैं।

जब विरहिणी प्रलाप करते–करते असंयमित एवं असंतुलित व्यवहार करने लगती है तब उसे उन्माद कहते हैं।

विरह वेदना से प्रिया उन्मादिनी वन जाती है और अनियमित चेष्टाओं तथा व्यापारों से उसका शरीर अत्यन्त दुर्बल होने लगता है। शरीर दुर्बलता और थकावट के कारण रोग ग्रसित हो जाता है। इसी अवस्था को व्याधि कहते है।

वियोगजन्य पीड़ा के आधिक्य के कारण शरीर के स्तब्ध होने को जड़ता कहते हैं।

प्राण–त्याग का नाम 'मरण' हैं प्रायः कवि विप्रलम्भ में मरण का वर्णन नहीं करते क्योंकि वहाँ शोक का स्थायी भाव है और इससे करूण रस की निष्पत्ति होती है। अतः विरह में मरण को विरही की मरणासन्न दशा माननी चाहिए।

विरह के आध्यात्मिक और दार्शनिक पक्ष :– विरह भावना और रहस्यावाद का सम्बन्ध दार्शनिक दृष्टिकोण से अत्यन्त निकटतम है आध्यात्मिक दृष्टि से विरह भावना को रहस्यवाद के अन्तर्गत माना जाता है। रहस्यवाद की चर्चा आगे की गई है। यहाँ विरह की दार्शनिक अवस्था का निरूपण किया गया है। परमात्मा की प्राप्ति के लिए मानव के ह्रदय में सहज आकांक्षा और उत्कंठा होती है। इसका मूल कारण यह है कि मनुष्य जिस परम सत्ता का अंश है उसी में पुनः समा जाने की इच्छा प्रकट करता है आत्मा और परमात्मा के मिलन से ही आनन्द की प्राप्ति होती है इसलिए दाम्पत्य प्रेम का माधुर्य इस आध्यात्मिक मिलन का प्रतीक माना गया है। आत्मा और परमात्मा के संयोग के लिए जहाँ रूकावट है, वहाँ उनका विरह भाव शुरू होता है आध्यात्मिक दृष्टि से जीवात्मा और परमात्मा के मधुर सम्बन्ध को ही रहस्यवाद माना जाता है।

रहस्य–भावना शुद्ध प्रेम भावना ही है। वह प्राणी प्राणी का प्रेम न होकर, जीवात्मा और परमात्मा का विशुद्ध प्रेम है। आध्यात्मिक प्रेम का माधुर्य उसके विरह में ही हैं। विरह तो आध्यात्मिक प्रेम का चरम सौन्दर्य हैं इसलिए जायसी ने कहा है– कि प्रेम में विरह का सरस रस होने के कारण उसमें माधुर्य पूर्ण अमृत भरा है और उसकी मादकता भी मौजूद है। प्रेम की तीव्रता के अनुसार विरहानुभूति की उज्जवलता एवं गहराई होती है। विरह को जायसी ने 'प्रेम की पीर' कहा है।

भक्ति और विरह भावना :– भक्ति तो प्रेम का आध्यात्मिक रूप है और विरह प्रेम को पवित्र और उज्जवल बनाता है। विरह के द्वारा शुद्ध हुआ प्रेम–भक्ति का रूप

धारण करता है। स्पष्ट है कि प्रेम और भक्ति के विकास और उज्जवलता के लिए विरह अत्यन्त आवश्यक है।

भक्ति का महत्वपूर्ण सार तत्व प्रेम है। दक्षिण के आलावार सन्तों की भक्ति भावना में प्रेम का भाव अत्यन्त समृद्ध था। और सूफियों की भक्ति भावना में भी प्रेम की पीर खूब चित्रित होती है। राधा कृष्ण की प्रेम लीलापरक भक्ति में भी प्रेम का सुन्दर चित्रण है।

भक्ति में प्रेम और श्रद्धा–श्रद्धा इन दोनों का सम्मिलन होता है। आचार्य शुक्ल के अनुसार – श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है। जब पूज्यबुद्धि की वृद्धि के साथ श्रद्धा–भजन के सामीप्य लाभ की प्रवृत्ति हो, इसकी सत्ता के कई क्षणों के साक्षात्कार की वासना हो तब हृदय की वासना हो तब हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिये।[1]

सभी सन्त कवियों ने भजन को अपनी भक्ति साधना में मध्य माना है लेकिन ज्ञान के अभाव में भक्ति की भावना अव्यवस्थित एवं निर्मूल बन जाती है। प्रेम की चरम परिणति दाम्पत्य भाव में ही दृष्टिगोचर होती है, इसलिये यह प्रेम प्रायः ईश्वरीय प्रेम का स्थान ग्रहण करता है। ईश्वरीय प्रेम का प्रतीक बनकर दाम्पत्य प्रेम आत्मदृष्टा कवियों में सब कहीं अपनाया जाता है।[2] इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रेम और भक्ति एक ही साधना के दो अंग है। प्रेम भगवद् प्राप्ति का सबसे सुगम साधन है। भक्ति स्वतः पूर्ण है। वह साधन नहीं साध्य है और उसकी प्राप्ति सब कामनाओं की इतिश्री है। प्राचीन काल के ऋषि मुनियों ने भक्ति के द्वारा माया के बन्धनों से मुक्त होकर भगवद्साक्षार्त्कार प्राप्त करने का प्रयास किया।

---

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल–चिन्तामणि, भाग–1, पृ०–1945
2. डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल–हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ०–353

अध्याय–3

भक्ति का स्वरुप विवेचन

मनुष्य स्वभावतः आनन्द की प्राप्ति एवं दुःखों से निवृत्ति चाहता है। मनुष्य के जीवन का चरम लक्ष्य भी आनन्द की प्राप्ति है। सभी शास्त्राचार्यों ने एक मत से इस बात को स्वीकार किया है कि वास्तविक आनन्द तो भगवद् सानिध्य से ही प्राप्त हो सकता है। सांसारिक सुख सदा क्षणिक एवं अस्थाई होते हैं। रोग, मृत्यु, बुढ़ापा, ऋण आदि मनुष्य के मन में अशान्ति उत्पन्न करते हैं। जीवन के हर पहलू में ही मानव दुःख का दर्शन करता है। इसीलिये भारतीय दार्शनिकों ने विश्व की सुखात्मक अनुभूति को भी दुखात्मक कहा है। यदि इन दुःखों का कारण जानकर इनका निरोध (दुःख–निरोध) कर दिया जाय तो मनुष्य को दुःखों से छुटकारा मिल सकता है। इस प्रकार सांसारिक दुःखों की समाप्ति ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। इसी को मोक्ष भी कहा गया है।

वास्तविक आनन्द की प्राप्ति तभी हो सकती है, जब मनुष्य अपनी आसक्तियों को सांसारिक विषय–वासनाओं से हटाकर ईश्वर की ओर उन्मुख करे। ईश्वर से प्रेम करने का नाम ही भक्ति है। जीव का ईश्वर से संबंध स्थापित करने के चार साधना मार्ग बताये गये है–ज्ञान मार्ग, योग मार्ग, कर्म मार्ग एवं भक्ति मार्ग। इनमें भक्ति मार्ग को सहज साध्य स्वीकार किया गया है। ज्ञान मार्ग का प्रतिपादन शंकराचार्य ने किया था। यह निवृत्ति का मार्ग है। ज्ञान मार्ग के द्वारा जीव और शिव का आत्मा और परमात्मा का एकीकरण होता है, अर्थात् दोनों में तादात्म्य स्थापित होता है। ज्ञान मार्गी आत्मा को ही परमात्मा समझते हैं। सृष्टि ही ईश्वरमय है। सृष्टि और स्रष्टा में कोई भेद नहीं है। भेद मिथ्यादृष्टि है। अभेद ही यथार्थ दृष्टि है। ब्रह्म निर्गुण और निराकार है। उसे समझने के लिये ज्ञान की आवश्यकता होती है। इस प्रकार संन्यास–मार्ग को अपनाना सभी के वश की बात नहीं है।

दूसरा मार्ग योग मार्ग है। पतंजलि इसके प्रणेता माने जाते हैं। चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग कहलाता है। गीता में योग का अर्थ आत्मा का परमात्मा से मिलन माना गया है। योग दर्शन में योग का अर्थ–राजयोग है। योग के आठ साधना मार्ग बताये गये हैं जो इस प्रकार हैं–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि। समाधि योग की अंतिम अवस्था है। इस

अवस्था में मन अपने ध्येय विषय में पूर्णतः लीन हो जाता है। इस अवस्था को प्राप्त हो जाने से चित्त–वृत्ति का निरोध हो जाता है और मनुष्य को आनन्द (मोक्ष) की प्राप्ति हो जाती है। योग मार्ग भी सरल नहीं है।

तीसरा मार्ग कर्ममार्ग है। मीमांसा दर्शन में कर्मकाण्ड के सिद्धान्त की पुष्टि पायी जा रही है इसलिये इसे कर्ममीमांसा कहा जाता है। गीता में कर्मयोग का सबसे गंभीर विवेचन किया गया है। मीमांसा दर्शन के विकास का कारण कर्म की यथार्थता को प्रमाणित करना कहा जाता है। इसीलिये मीमांसा को कर्म का दर्शन कहा जाता है। तिलक के अनुसार–गीता 'कर्म योग प्रधान ग्रंथ' है। अर्जुन के हृदय में शोक और मोह का उदय हुआ था और वे कर्म मार्ग से हट रहे थे। अतः श्रीकृष्ण ने उन्हें कर्मयोग का पाठ पढ़ाया। अनासक्त कर्म ही कर्मयोग है। हम सुख–प्राप्ति और दुःख–परिहार के लिये ही कर्म करते हैं। अतः आसक्ति को ही कर्म का मूल बताया गया है। भगवान कृष्ण का कहना है कि कर्मयोगी को इस आसक्ति पर विजय प्राप्त करनी चाहिये और अनासक्त कर्म का आचरण करना चाहिये। कर्मयोगी को सुख–दुख, लाभ–हानि, जय–पराजय रुपी द्वन्द्व से ऊपर उठकर कर्म करना चाहिये। लेकिन यह मार्ग साधारण मनुष्य के लिये संभव नहीं है।

अंत में भक्ति मार्ग ही एक ऐसा मार्ग बचता है जो सभी के लिये सहज साध्य एवं सर्वसुलभ है। भगवान का भजन, अर्चन, उपासना आदि करना ही भगवान की भक्ति है। अनन्य भाव की भक्ति ही ईश्वर के प्रति प्रेम है। निष्काम भक्ति ही सबसे उत्तम भक्ति मानी गयी है। सन्तों एवं भक्तों द्वारा भक्ति मार्ग के प्रतिपादन का एकमात्र उद्देश्य निर्गुण ब्रह्म की जगह सगुण ब्रह्म की उपासना करना था। क्योंकि सगुण ईश्वर की उपासना करना सभी के लिये सुलभ था। इसलिये सर्वप्रथम भक्ति का प्रतिपादन रामानुज द्वारा किया गया जिनका सिद्धान्त विशिष्टताद्वैत कहलाया। रामानुज के अनुसार–'भक्ति ईश्वर के प्रति मात्र प्रेम विषयक संवेग एवं श्रद्धा का भाव नहीं है जो ज्ञान शून्य है, अपितु यह एक विशेष प्रकार ज्ञान है जो मानवीय मन को ईश्वर के प्रति अत्यधिक आसक्ति का भाव निर्मित करता है। इसलिये उन्होंने भक्ति को ध्यान और उपासना के तुल्य माना हैं रामनुज ने भक्ति,

ज्ञान एवं उपासना तीनों को पर्यायवाची शब्द माना है। 'श्री भाष्य' में उन्होंने कहा है कि ईश्वर के स्वरुप के सम्बन्ध में प्रेमपूर्ण। चिन्तन करना भक्ति है। अपने मन को ईश्वर में पूर्णतः केन्द्रित करना उपासना कहा जाता है। ईश्वर के स्वभाव का प्रेमपूर्ण स्मरण करना तथा ईश्वर का ध्यान करना भक्ति हैं यह भक्ति भाव निश्रित ज्ञान है। इन्होंने भक्ति को ज्ञान की पराकाष्ठा कहा हैं। मन में भक्ति का संचार तभी होता है जब साधक ईश्वर के स्वरुप के सम्बन्ध में निरन्तर मनन, चिन्तन एवं विचार करता है। इस प्रकार भक्ति, ज्ञान, प्रगाढ़ प्रेम एवं अविचल श्रद्धा के द्वारा निर्मित होती है। एक मुनष्य के हृदय में प्रेम का उदय तभी होता है जब वह अपने प्रेम के विषय के गुणों के सम्बन्ध में जानकारी रखता है। इस प्रकार ज्ञान उपासक के मन में भक्ति के संचार के लिये परम आवश्यक है।

ज्ञान भक्ति के लिये पृष्ठभूमि का कार्य करता है। रामानुज ने भक्ति के साथ ज्ञान एवं कर्म की भूमिका पर भी बल दिया। वे निष्काम कर्म की बात आत्म ज्ञान एवं आत्म प्राप्ति के लिये करते हैं। इस प्रकार ज्ञान और कर्म भक्ति कर्म भक्ति के विरोधी नहीं अपितु वे भक्ति के तत्वों के रुप में प्रतिष्ठित है।

'भक्ति' शब्द 'भजसेवायाम्' घातु से 'क्तिन्' प्रत्यय लगाकर बनाया गया है, जिसका अर्थ है– भगवान की सेवा। शांडिल्य भक्तिसूत्र में ईश्वर में परम अनुरक्ति को ही भक्ति माना गया है।–"सा परानुरक्तिरीश्वरे।" नारद भक्ति–सूत्र के अनुसार–भक्ति ईश्वर के प्रति परम प्रेमरुपा है और अमृत–स्वरुपा भी। जिस परम–प्रेमरुपा और अमृत–स्वरुपा भक्ति को पाकर मनुष्य तृप्त हो जाता है, सिद्ध जाता है और अमर हो जाता है, इस भक्ति के प्राप्त होने पर मनुष्य न किसी वस्तु की इच्छा करता है, न शोक करता है और न किसी वस्तु में आसक्त होता है, विषय भोगों के प्रति उसको कोई उत्साह नहीं रहता और आत्मानन्द के साक्षात्कार से वह संसार के विषयों से निरपेक्ष होकर मग्न रहता है। भागवतकार ने भक्ति का लक्षण इस प्रकार दिया है– "मनुष्य के लिए श्रेष्ठ धर्म वही है जिसके द्वारा भगवान श्री कृष्ण में भक्ति हो, भक्ति भी ऐसी जिसमें किसी प्रकार की कामना न हो और जो नित्य निरन्तर बनी रहे, ऐसी भक्ति से हृदय आनन्द, स्वरुप भगवान की

उपलब्धि करके कृतकृत्य हो जाता है।" 'विष्णु पुराण' में कहा गया है कि अविवेकी पुरुषों की विषयों में जैसी अविचल आसक्ति रहती है तुम्हारा अनुस्मरण करते हुए तुम्हारे प्रति मेरी भी वैसी ही अविचल प्रीति रहे, वह मेरे हृदय से कभी भी दूर न हो।" भक्ति की परिभाषा वैष्णव सम्प्रदाय में इस प्रकार दी गई है–"भक्ति का सार है–प्रपत्ति। प्रपत्ति की उपासना से भगवत्कृपा संपादित होती है और इसी भगवत्कृपा से ही भक्ति की प्राप्ति होती है।" महाप्रभु बल्लभ ने भक्ति की परिभाषा इस प्रकार की है–"भगवान में महात्म्यपूर्वक सुदृढ़ और सतत स्नेह ही भक्ति है। मुक्ति का इससे सरल उपाय नहीं है।" और भी अनेक आचार्य ने भक्ति के लक्षण किये हैं, परन्तु उन सभी लक्षणों में दो लक्षणों पर विशेष जोर दिया गया है– 1. ईश्वर के प्रति अन्नय प्रेम, 2. सांसारिक वस्तुओं से वैराग्य।

श्रीमद्भागवत में भक्ति के तीन स्वरुप मिलते है– 1. विशुद्ध भक्ति, 2. नवधा भक्ति, 3. प्रेमाभक्ति। श्रीमद्भागवत में विशुद्ध भक्ति का विवेचन कई स्थानों पर हुआ है। एकादश स्कन्ध के चौदहवें अध्याय में भक्ति को योग, ज्ञान, धर्म, स्वाध्याय, तप, दान आदि से भी ऊपर माना है। नवम स्कन्ध में भगवान ने घोषणा की है कि मैं भक्तों के अधीन हूँ। मुझे केवल भक्ति के द्वारा ही जाना जा सकता है। श्रीमद्भगवतगीता में भी इसी प्रकार की भक्ति की ओर संकेत किया है। श्रीमद्भागवत की यह विशेषता है कि इसमें ज्ञान, वैराग्य और भक्ति से युक्त नैष्कर्म्य का आविष्कार किया गया है तथा भक्ति–सहित ज्ञान का निरुपण हुआ है। ज्ञान की अन्तरंग साधना में श्रवण, मनन और निदिध्यासन को विशेष स्थान देने पर भी "न तत्रोपायसहस्त्राणाम्" कह कर भक्ति को ही मुख्य माना है। ज्ञान और भक्ति का सामंजस्य भागवतकार ने स्थान–स्थान पर किया है।

भक्ति के तत्व :– भक्ति के प्रमुख तत्व इस प्रकार हैं– 1. प्रेम, 2. सेवा, 3. महात्म्य ज्ञान, 4. अविच्छिन्नता, 5. निष्काम भक्ति, 6. भाव भक्ति, 7. सख्य भक्ति, 8. वात्सल्य भक्ति। इन तत्वों का क्रमिक विवेचन इस प्रकार है–

भक्ति का सार्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व प्रेम है, यह कहना तनिक भी अनुचित न होगा। वास्तव में यह तत्व ही आधार है जो भक्ति को अन्य साधना मार्गो से पृथक

ही नहीं करता, श्रेष्ठ भी बनाता है। यों तो भागवतकार ने कहा है, "जो पुरुष भगवान में निरन्तर काम,क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य या सौहार्द्र का भाव रखते है वे भी तन्मयता को प्राप्त हो जाते है।" श्री बल्लभाचार्य ने लिखा है, "सर्वदा सर्व भावेन भजनीय" बज्राधिपः। परन्तु जैसा कि पूर्व कथित परिभाषाओं से ज्ञात होता है कि रागतत्व का, भक्ति के क्षेत्र में, जैसा श्रेष्ठ प्रकाशन प्रेमभावना में होता है वैसा अन्यत्र कहीं नहीं। यह प्रेम भावना अनेक रुप ले सकती है। पुष्टिमार्गीय गोपेश्वर महाराज ने अपने 'भक्ति मार्तण्ड' नामक ग्रंथ में प्रेम संवधी कतिपय विचारों का संकलन किया है। इस संकलन के अनुसार 'भक्ति चिंतामणि' में योग वियोग–वृत्ति को प्रेम कहा गया है। इन मंतव्यों में एक विशेष आकर्षण या आकांक्षातत्व को प्रेम के मूल में स्वीकार किया गया है, एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह अनुचित भी नहीं है। आर्कषण जो जड़ के प्रति है वह चिद् के प्रति हो जाय– शर्त केवल इतनी हैं। जीव गोस्वामी ने अपने भक्ति संदर्भ में कहा है "जैसे विषयी पुरुषों का स्वभावतः ही विषयों के प्रति विषय–संसर्ग की इच्छा से युक्त आकर्षण होता है जैसे आँखों आदि का सौन्दर्य के प्रति झुकाव होता है, उसी प्रकार भक्त का जब भगवान के प्रति आर्कषण उत्पन्न होता है तब उसे 'राग' कहते है। परन्तु गोपेश्वर महाराज इस राग के इस आकांक्षा तत्व को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार आकांक्षा एक दूसरी आकांक्षा (पुरुषार्थ) का विषय नहीं बन सकती है। उनके अनुसार भक्ति में 'भज्' धातु है एवं 'क्तिन प्रत्यय हैं। धातु का अर्थ है सेवा और प्रत्यय का अर्थ है प्रेम। इन दोनों से मिलकर यह शब्द बनता है, और दोनों ही अर्थो को लक्षित कराता है। बिना प्रेम के सेवा कष्टकर होती है एवं सेवा के बिना प्रेम पूर्ण नहीं होता।[1]

गरुड़ पुराण की परिभाषा में व्युत्पत्ति की ओर संकेत करते हुए ही सेवा को भक्ति का साधन कहा है। वास्तव में जहाँ भी सखी–भाव की उपासना स्वीकृत है वहाँ पर सेवा भावना अनिवार्य है। निम्बार्क, चैतन्य, राधाबल्लभी, हरिदासी एवं रामभक्ति के मधुरोपासक, इन सम्प्रदायों में सखी द्वारा युगल रुप की सेवा स्वीकृत है। पुष्टि मार्ग को तो सेवा मार्ग भी कहते हैं। बल्लाभाचार्य के अनुसार सेवा के तीन

1. एन०एस० दासगुप्त–भारतीय दर्शन का इतिहास (चतुर्थ खण्ड), पृ०–351

फल प्राप्त होते है–अलौकिक सामर्थ्य, सायुज्य एवं सेवोपयोगी देह। इनमें प्रथम सबसे श्रेष्ठ है जो कि मानसी सेवा का परिणाम है। दास्य–भाव की भक्ति का तो मुख्य आधार ही सेवा–तत्व है। वात्सल्य में पुत्र की सेवा होती है और सख्य–भाव में सेवा या तो प्रिय की होती है या फिर महत् की।

बिना महात्म्य–ज्ञान के जो प्रेम होगा वह स्वसुख की ओर अधिक ध्यान देगा, एवं जब तक अहंता विद्यमान है तब तक प्रभु–प्राप्ति होती नहीं। महात्म्य ज्ञान होने पर ही प्रेम 'तत्सुखी' बनता है।

यदि प्रेम भावना सेवा या महात्म्य ज्ञान कभी–कभी ही मन में आवें तो मन में वह तीव्रता आ ही नहीं सकती जो भक्त और भगवान को निजी संबंधों में बाँध देती है इसी कारण भक्ति के व्याख्याताकारों ने भक्ति की अनन्यता एवं सातत्य की ओर संकेत किया है।

भागवतकार के अनुसार सागर में स्वतः प्रवाहित गंगा जल की धारा के समान जब मनोगति अनन्य भाव से भगवान में निहित होती है, तो उसे निर्गुण–भक्ति कहते हैं। गंगा की धारा जहाँ नैरन्तर्य का द्योतक है, वही सागर में ही गिरना उसकी अनन्यता है। वास्तव में प्रेमी भक्त के मन में अपने प्रियतम को छोड़कर और किसी की कल्पना ही नहीं होती। अनन्य या अविछिन्न भाव से किये जाने वाले प्रेम और सेवा की यह स्वाभाविक परिणति है कि भक्त अपने को सम्पूर्णतया भगवान के चरणों में अर्पित कर दे। इस अपर्ण का सर्वश्रेष्ठ रुप शरणागति हैं, "जहाँ कि भगवान पर ही अपने सारे योग –क्षेम का भार सौंपकर वह निश्चित हो जाता है। भक्ति का सार प्रपत्ति है। इस बात को रामानुज भी स्वीकार करते है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि "मनुष्य जब सारे कर्मो का त्याग करके मुझे आत्मसमर्पण कर देता है, तब वह मेरा विशेष माननीय हो जाता है तथा जीवन मुक्त होकर मत्सदृश एश्वर्य की प्राप्ति के योग्य हो जाता है। भक्ति का सांतवा तत्व प्रभु–अनुग्रह सिद्ध होता है। मध्य–काल के लगभग सभी भक्ति सम्प्रदायों में प्रभु की कृपा स्वीकार की गई है। बल्लभ सम्प्रदाय का पुष्टि मार्ग नाम ही प्रभु–कृपा पर आधारित है।

भगवान के अनुग्रह से ही भक्त के हृदय में भक्ति का उदय होता है। इसलिए भक्त को अपना सब कुछ भगवान को ही समर्पित करना होता है। बल्लभ ने स्पष्ट कहा है, पुष्टिमार्गीय भक्ति केवल प्रभु–अनुग्रह द्वारा ही साध्य है,[1] तथा भगवान का अनुग्रह ही पुष्टिमार्गीय भक्त के सम्पूर्ण कार्यो का नियामक है। राधाबल्लभीय सम्प्रदाय के बारे में विजयेन्द्र स्नातक ने लिखा है, "सहचरी या सखी' शब्द राधाबल्लभ सम्प्रदाय में जीव के निज रुप की पारमार्थिक स्थिति का नाम है। जब तक वह जीव रुप में अपने को मानकर इस लोक में लीन रहता है, भ्रम के जाल में भटकता रहता है, किन्तु जब उसके ऊपर श्री राधा की कृपा होती है, तब वह सहचरी रुप को प्राप्त होकर लौकिक सुख–दुख की अनुभूतियों से ऊपर उठकर उस आनन्द को प्राप्त करने का अधिकारी बनता है जो नित्य–बिहार के दर्शन से उपलब्ध माना गया है।"[2]

निष्काम भक्ति :– यद्यपि श्रीमद्भागवत में सात्विक, राजस और तामस भक्तों को सकामभावना से युक्त बताया गया है, पर उसे श्रेष्ठ नहीं माना गया है। वहाँ पर निर्गुण भक्ति को अहैतुक व्यवहिता कहा गया है। गीता में भक्ति का उद्देश्य भगवान की प्राप्ति कहा गया है। मध्व ने सायुज्य मुक्ति को लक्ष्य माना था। नारदभक्तिसूत्र में भी कहा गया है कि मुक्त होने की इच्छा रखने वालों को भक्ति ही ग्रहण करनी चाहिए। बल्लभ की परिभाषा में भी मुक्ति को स्थान दिया गया है। पर इन सबने भक्ति को निष्काम भावना ही माना था। ऐसा लगता है कि मुक्ति की बात को भी धीरे–धीरे भगत्प्रेम एवं सेवा के आगे छोटा करार दिया जाने लगा भक्त जब प्रसन्न हो गया तथा भगवान ने उसके योग–क्षेम को वहम करने का भार ले लिया तब फिर मुक्ति की कामना क्यों? भागवत में कहा गया है–ऐसे भक्त जन मेरी सेवा के सिवा सालोक्य, सामीप्य सारुप्य और कैवल्य मोक्ष को दिये जाने पर ग्रहण नहीं करते।[3] इसी भाव की और अधिक विवृत्ति आगे होती है जब भक्ति काल के भक्त एवं आचार्य मुक्ति को छोड़कर भक्ति को ही अपनाने की बात कहते है।[4] पुष्टि

---

1 'अनुग्रहः पुष्टि मार्गे नियामक इति स्थिति (बल्लभ सिद्धान्त मुक्तावली, श्लोक–18)
2 राधाबल्लभ सम्प्रदाय–सिद्धान्त और साहित्य, पृ0–219
3. बलदेव उपाध्याय–भागवत् सम्प्रदाय, पृ0–226
4. जब लगि भगति सकामता तब लगि निर्फल सेव।
कहैं कबीर वे क्यूं मिलैं निहकामी निज देव। (कबीर ग्रंथावली, पृ0–19–20)

मार्ग में भावभक्ति द्वारा पराभक्ति (निष्काम प्रेम) का प्राप्त करना ध्येय माना है। पराभक्ति अहैतु की है। उस समय भक्त को भगवान के प्रेम के अतिरिक्त कोई अन्य काम पदार्थ– धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नहीं चाहिए।[1]

गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय में तो प्रेम को ही परम पुरुषार्थ माना गया है–"प्रेमा पमुथों महान"। राधाबल्लभीय भक्त ध्रुवदास का कहना है कि गोपियों के प्रेम में भी सकामता थी, इसी कारण निष्काम भाव सम्पत्ति वाली सखियों की भावना उनसे भी श्रेष्ठ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस तत्व के दो विभाग है'–प्रथम, निष्काम भाव, दूसरा, कामना के क्षेत्र में केवल भगवान की सेवा या प्रेम को प्राप्त करने की अभिलाषा अर्थात् भक्त का प्रयोजन भक्ति ही इस युग में स्वीकार कर लिया गया था।

सर्वजन अधिकारित्व भक्ति–भावना प्रारम्भ से ही लोक चेतना के साथ सम्पृक्त रही है। जो भी धर्ममत लोक के निकट आता है, निश्चय ही भक्ति भाव को स्वीकार करता है। गीता में भगवान कृष्ण ने भुजा उठाकर घोषणा की है–"हे अर्जुन स्त्री, वैश्य, शुद्र तथा पाप योनि में कोई भी हो वो मेरी शरण में आकर परमगति को प्राप्त होते है। बल्लभाचार्य ने भी कहा, "किसी साधन–सम्पत्ति द्वारा भगवान भक्त से संतुष्ट नहीं होते परन्तु उसके केवल दैन्य भाव से ही वे संतुष्ट होते हैं।" गौड़ीय वैष्णव मत में भी जीव मात्र का साध्य भगवत् प्रेम ही बताया है।

भागवत में भक्ति के साध्य और साधन दोनों ही पक्षों का विवेचन हुआ है। मन की एकाग्रता से भगवान का नित्य–निरंतर श्रवण, कीर्तन और आराधन भक्ति का साधन पक्ष है और भगवान में परानुरक्ति उसका साध्य पक्ष हैं साधन रुपा भक्ति को नवधा भक्ति, वैधी भक्ति अथवा मर्यादा भक्ति भी कहते हैं और साध्य रुपा भक्ति को प्रेमाभक्ति अथवा रागात्मिका भक्ति के नाम से अभिहित किया गया है। श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध में भक्ति के चार भेद माने गये है। सात्विकी, राजसी, तामसी और निर्गुण। फिर सप्तम स्कन्ध में प्रहलाद ने भक्ति के नौ भेद बताये हैं। नारदभक्तिसूत्र मे प्रेमा भक्ति का विशद विवेचन हुआ है। और ग्यारह आसक्तियाँ

1. डा० दीनदयाल गुप्त–अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय, पृ०–538

है—गुणमहात्म्यासक्ति; रुपासक्ति; पूजासक्ति; स्मरणासक्ति; दास्यासक्ति; सख्यासक्ति; कान्तासक्ति; वात्सल्यासक्ति; आत्मनिवेदनासक्ति; तन्मयतासक्ति एवं परमविरहासक्ति। जो भक्त पराभक्ति की प्राप्ति कर लेते हैं, उनमें ये सभी आसक्तियाँ रहती है। जैसेः— ब्रज की गोपियों में एवं अन्य भक्तों में कोई न कोई आसक्ति अवश्य ही रहती है। श्रीमद्भागवत में इन सभी प्रकार के भक्तों का उल्लेख है।

भक्ति के साधना—क्रम का सबसे व्यवस्थित और प्रारम्भिक उल्लेख भागवत पुराण में ही मिलता है। ये साधन नौ प्रकार के है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद—सेवन, अर्चना, वन्दन, दास्य, संख्य, एवं आत्मनिवेदन इनमें से प्रथम तीन भगवान के नाम और लीला से संबंधित हैं, दूसरे तीन उसके रुप में संबंधित हैं एवं अंतिम तीन साधन वास्तव में भक्त के मनोजगत से संबंधित वृत्तियाँ हैं। इन साधनों को ही नवधा भक्ति कहा गया है। नारदभक्तिसूत्र की ग्यारह आसक्तियों में गुणमहात्म्यासक्ति में श्रवण और कीर्तन का तत्व प्राप्त है। रुपासक्ति और पूजासक्ति में पादसेवन, अर्चन और वन्दन निहित हैं। स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति एवं आत्मनिवेदनासक्ति नवधा के स्मरण, दास्य, सख्य एवं आत्मनिवेदन ही हैं। कान्तासक्ति एवं वात्सल्यासक्ति बाद में भक्ति के विवेचकों द्वारा स्वीकार की गई है। तन्मयतासक्ति एवं परमविरहासक्ति वास्तव में पराभक्ति की स्थितियाँ हैं। ये साधना मार्ग नहीं हैं। नवधा के आधार पर ही भक्तिकाल के कवियों ने दशधा भक्ति की चर्चा की है। यह दसवीं प्रेमलक्षणा भक्ति है। गौड़ीय वैष्णव में वैधी के जो ग्यारह लक्षण बताये गये हैं उनमें से अंतिम नौ भागवत के ही है एवं प्रथम दो शरणागति तथा गुरु—सेवा और बढ़ा दिये गये हैं। उन दोनों ही बातों को भक्तिकाल में अत्यधिक मूल्यवान समझा गया था।

भक्त और भगवान के मध्य एक वैयक्तिक संबंध की कल्पना भक्ति मार्ग की सबसे बड़ी विशेषता है। भक्ति का मनोभाव कुछ ऐसा संकुल होता है कि उसमें सम्भ्रम भय पवित्रता, निर्भरता प्रेम विश्वास आदि अनेक वृत्तियाँ और गुण गुम्फित रहते हैं। ईश्वर की रहस्यानुभूति अनेक रुपों में हो सकती है और उसके स्वरुप की

अवधारणा ही यह निश्चित करती है कि ईश्वर और भक्त के मध्य संबंध भाव (रिलेशनसिप) क्या रहे? जीवन मं अनेक प्रकार के सामाजिक संबंधों के सम्पर्क में हम आते हैं। इन संबंधों के साँचे व्यवहार में उपस्थित रहते हैं और उन्हीं में रहस्यानुभूति का द्रव ढल जाता है है। उसी रुपान्तर के माध्यम से ही उस परमरुप को अभिव्यक्त किया जाता है। इस बात की निश्चितता तब और बढ़ जाती है जब ईश्वर धर्म "संस्थापनार्थाय" एवं "विनाशाय दुष्कृताम" इस पृथ्वी पर अवतार लेता है। इस अवतार के साथ जब रक्षक का रुप मिल जाता है तब उसकी प्रभुविष्णुता सहस्त्रगुणित हो उठती है। उसको हम माता, पिता शिशु, गुरु, स्वामी, प्रिय, प्रेमिका या मित्रादि सामाजिक संबंधों के रुप में भक्ति करने लगते है। यह एक प्रकार का प्रतीकवाद है। ऐसे प्रतीकों के माध्यम से दिव्य प्रेम एवं अलौकिक प्रेम के मध्य साहचर्य की स्थापना संसार के सभी आस्तिक धर्मो की विशेषता है। ऐसे स्थलों पर मूलतः अलौकिक सम्बन्ध प्रस्तुत एवं लौकिक सम्बन्ध अप्रस्तुत होते हैं।

नारद–भक्ति सूत्र में परम–प्रेम रुपा में रुप शब्द साहचर्य पर बल देता हैं एवं परम शब्द से ज्ञात होता है कि इससे भिन्न भी कोई प्रेम था। वास्तव में जब यह धारणा बल पकड़ती है कि भगवान भजनीय ही नहीं सर्वभाव से भजनीय हैं तभी संबंधों पर अधिक बल दिया जाने लगता है, क्योंकि हमारा भाव जगत हमारे प्रत्यक्ष व्यावहारिक संबंधों से ही अनुशासित होता है।

यों तो भगवान सर्वभाव से भजनीय है पर प्रेमभाव ही वास्तविक है क्योंकि जीवन का सबसे गहरा और स्थायी भाव रति है। वैष्णव विचारकों के अनुसार रति पाँच प्रकार की होती है, जिसके अनुकूल ही पाँच रस–भक्तियाँ हो जाती हैं। शम, प्रीति, प्रेम, वात्सल्य और मधुरा ये पॉच रतियाँ है जिनसे कि शान्त, दास्य, संख्य, वात्सल्य और मधुर भाव की पॉच भक्तियाँ (भक्तिरस) उद्रिक्त होती है। वास्तव में शान्त का स्थायी भाव शम एक मानसिक अवस्था का द्योतक है, जहाँ पर परमात्मा के साथ एकत्व की चेतना तो आ जाती है पर राग का आवेश नहीं होता। संकल्प विकल्प से रहित मन की वृत्ति शान्त रति है इसे शम भी कहा जाता है। यह ममता

गन्ध शून्य होता है। भागवत में उसे निष्ठा बुद्धि कहा गया है इस मानसिक स्थिति को ही गीता में 'ब्रह्मभूत' और प्रसन्नात्मा कहा गया है।

भक्ति वास्तव में मन में 'वैराग्य–भावना को उत्पन्न करती है। सारे संसार के रहस्वादियों ने ईश्वर के मिलन के पूर्व वैराग्य द्वारा शरीर–कामनाओं को नष्ट करने की पद्धति को स्वीकार किया है। शान्त भक्ति भी वैराग्यमूलक है, पर यह निषेधात्मक न होकर विधेयात्मक है, तथा प्रेमभावना की प्रारम्भिक स्थिति को पल्लवित करती है। निर्गुण साधकों में ही मुख्य रुप से हम इस भक्ति को देख सकते हैं। इनमें भी सूफी एवं कृष्णोपासक प्रेमभक्तों के प्रभाव एवं प्रेम प्रतीकवाद के आग्रह से यत्रतत्र दास्य भाव या कान्ताभाव का स्वरुप मिलता है निर्गुण कवियों में 'पतिव्रता को अंग' तथा इसमें भक्त के मन में सदैव यह धारणा रहती है कि भगवान मेरे ऊपर अनुग्रह करने वाले हैं। और मैं अनुग्राहय हूँ। वे मेरे स्वामी है मैं उनका सेवक हूँ। जब प्रीति इतनी गाढ़ एवं बद्धमूल हो जाय कि उसको ह्रास की तनिक भी आशंका न रहे तब उसे प्रेमा कहते हैं।

दास्य भक्ति में प्रभु के महात्म्य ज्ञान के साथ शरणागति या प्रपत्ति का भाव मिला रहता है। शरणगति या आत्मसमर्पण प्रेम के राज्य में एक ऊँची चीज है। इसके अतिरिक्त दास्य भक्ति में सेवा का जो अंश है, वह भक्ति का एक अनिवार्य तत्व है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने तो यहाँ तक कहा है–

"सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिअ उरगारि"

गौड़ीय भक्ति में भी दास्यभाव अमान्य नहीं है। इस भक्ति रस को रुप गोस्वामी, कृष्णदास, कविराज, एवं जीवगोस्वामी आदि ने पाँच मुख्य भक्ति रसों में ही माना है पर उनके अनुसार उत्तरोत्तर विकासक्रम में दास्य का भी अन्तर्भाव मधुरभाव में हो जाता है।

निर्गुण कवियों ने अवश्य इसकी शुद्ध प्रचुर अभिव्यक्ति की है। दास्य के दैत्य, विनय, आत्मदोष कथन शरणागति आदि के अतिरिक्त राजा, स्वामी, पिता,

जननी आदि रुपों में जहाँ कल्पना की गई है वे स्थल भी दास भाव के ही हैं। इन प्रतीकों के माध्यम से दास्य भाव की अभिव्यक्ति हुई है।

दास भावना मे प्रभु के गौरव एवं महत्ता की अनुभूति के कारण साधक का बहुत समीपी सम्पर्क नहीं हो पाता। स्वामी और सेवक के मध्य एक प्रकार का दुराव अवश्य रहता है। अतः भक्ति की और विकसित स्थिति में जिस सामाजिक–भाव सम्बन्ध की कल्पना की गई वह सख्य भाव हैं संखाओं में परस्पर सामीप्य–बोध अधिक होता हैं। उनमें पारस्परिक अंतरंगता हो जाती है। अगाध विश्वास वाली यह सख्य रति बढ़कर प्रणय, प्रेम, स्नेह तथा राग में परिणत होती है। ब्रज सखाओं के पुनः चार भेद हैं–सुहृत, सखा, प्रियसखा, प्रियनर्म सखा। इनमें अंतिम सर्वश्रेष्ठ होते हैं।

इन सभी सखाओं के आलम्बन कृष्ण सुन्दर भेष धारण करने वाले अत्यन्त प्रतिभाशाली, दक्ष, विदग्ध–बुद्धिमान समृद्ध एंव सुखी हैं ऐसे भगवान के साथ उपर्युक्त संबंधों का अनुकरण करते हुए जो भाव प्रतिभा मन में स्थापित होती है, वह सखा भक्ति की होती है।

इसमें शान्त भक्ति की विरक्ति भी है दास का सेवा भाव है (सखा सेवा भी करता है) और साथ ही मित्रता का खुलापन और आत्मीयता भी है– इसी कारण इसे पूर्वोक्त दोनों से श्रेष्ठ माना गया है।

पुष्टि सम्प्रदाय में सख्य भावना को सबसे अधिक स्वीकृति और पूर्णता मिली हैं। अष्टछाप के कवियों ने कृष्ण की गोप–लीलाओं की ही चर्चा नहीं की है बल्कि–पारस्परिक प्रेम, सौहार्द्र और मित्रता की समस्त छायाओं को उन्होंने अत्यधिक यथार्थ एवं मनोवैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित किया है। बल्लभ सम्प्रदाय के अष्टछाप के कवियों को अष्टसखा भी कहा जाता है। और कृष्ण के आठ सखाओं का ही प्रतिरुप उन्हें मानते हैं।

सखी सम्प्रदाय में भी सख्य भाव की स्वीकृति है। सख्य रसावेशी भक्तों ने अन्य रसों को सख्य के अन्तर्गत ही माना है। उनकी धारणा है कि श्रृंगार में जो

प्रिया के प्रति असक्ति है, वह वास्तव में नारी विशिष्ट में केन्द्रित सख्यासक्ति है। इसी आधार पर उन्होंने सखी भाव और सखा भाव को एक माना है। सख्य भाव की परिणति अन्ततः रास–भावना या मधुर उपासना की ओर है। साधक दम्पत्ति लीलाओं में सख्यभाव के आवेश में सम्मिलित हो सकता है, क्योंकि सखी भाव और सखा भाव में उतना भेद नहीं किया गया है। परन्तु कृष्णोपासकों में सखा भाव और सखी भाव में स्पष्ट अन्तर माना जाता है। स्त्री रुप में ही सर्वस्त्र अर्पण है। स्वसुख और तत्सुख दोनों ही रुपों में। ब्रजभूमि के रसोपासकों ने इसी कारण सखा भाव को महत्व नहीं दिया है।

निर्गुण मतावलम्बी चूंकि सगुण लीला पर विश्वास नहीं करते। अतः भगवान के साथ सख्य संबंध बनाना भी उनके लिए कठिन होता है।

वात्सल्य भक्ति में पुत्र के स्नेह न करने पर भी माता–पिता उससे प्रेम करते रहते हैं। अतएवं निष्कामता की अभिव्यक्ति पुत्र–स्नेह में सबसे अधिक होती है। इसके अतिरिक्त माता–पिता पुत्र की सेवा दास से भी अधिक करते हैं, सखा के समान उनका मनोरंजन करते हैं, उसके साथ खेलते–खिलाते हैं। इस रुप में पूर्व कथित भाव–दशाएँ भी वात्सल्य में अन्तर्भुक्त हो जाती हैं। जिस समय भक्त परमात्मा को पुत्रवत मानकर (नंद, यशोदा, दशरथ, कौशल्या आदि) निष्काम भाव से उनके प्रति स्नेह रखता है, तब ऐसी भावभक्ति को वात्सल्य भक्ति कहा जाता है। कृष्ण इस भाव के आलम्बन हैं। माता–पिता, ज्येष्ठ भ्राता, गुरुजन आदि इस भाव के आश्रय होते हैं।

रामोपासक में वृद्ध वात्सल्य एवं लघु वात्सल्य–ये दो भाग किये गये हैं। वृद्ध वात्सल्य से तात्पर्य ऊपर विवोचित वात्सल्य से है, पर लघु वात्सल्य है, जब राम सीता को पिता–माता मानकर साधक स्वंय को शिशु रुप में कल्पित करता है।

सूरदास तो इस चित्रण के अधीश्वर ही है। बाल–लीला एवं माता–पिता की अनुभूतियों का उनसे बड़ा चितेरा संसार में दूसरा उत्पन्न नहीं हुआ है। पर मानसिक धरातल पर इस भाव की साधना अत्यन्त कठिन है जो भगवान है, ईश्वर,

परमात्मा है उसे एक नगण्य साधक शिशु मानकर व्यवहार करे– यह स्थिति तनिक कठिन है।

रामोपासक सम्प्रदाय मे वात्सल्य भावना को रामोपासना के भीतर पर्याप्त स्थान मिला है। निर्गुणोपासकों में न तो बाल–लीलाओं का स्थान है और न प्रभु को पुत्र मानने का ही प्रश्न है। इसी कारण वात्सलय भाव की विवृत्ति वहाँ पर नहीं के बराबर है। कान्ताभक्ति में जितना सान्द्र प्रेम एकात्मानुभूति सर्वस्व समर्पण होता है उतना किसी अन्य में नहीं। स्त्री–पुरुष के मध्य काम–भावना जीवन की गहनतम व्यापकतम एवं सार्वभौम वृत्ति है। इस भावना में पूर्ववर्ती सभी भावों का अन्तर्भाव हो जाता है। पत्नी सेवा भी करती है, सखा–सखी की भाँति मन–रंजन भी करती है माँ के समान हितचिंता भी करती है एंव पत्नी के रुप में अपना संपूर्ण व्यक्तित्व पति को अर्पित भी कर देती है। प्रेम भाव की यह सर्वोच्च अवस्था है एवं संसार के सभी आस्तिक धर्मो में इस प्रतीक का व्यवहार किया गया है पर वैष्णव में यह प्रतीक के स्तर पर न रहकर वास्तविकता के स्तर पर ले आया गया है।

उपर्युक्त परिगणित भाव–भूमियाँ वास्तव में उस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया पर आधारित हैं, जिसमें अनुभूति और कल्पनाएँ तथा इन पर उसका विश्वास एक दूसरे के सहारे बढ़ते जाते हैं तथा इन्हीं के साथ उसकी संवेगात्मक जिन्दगी और उसकी श्रद्धा भी समय के साथ बढ़ती जाती है। इस प्रकार प्रेम का उज्ज्वल स्वरुप लौकिक एवं आध्यात्मिक दोनों रुपों के विविध पक्षों के साथ भक्ति काव्य का केन्द्र विन्दु रहा है।

ईश्वरीय प्रेम के लिये प्रेम की अनुभूति और उसके स्वरुप का बोध आवश्यक है। व्यक्ति, समाज और सम्पूर्ण सृष्टि के साथ व्यक्त लौकिक प्रेम ही ईश्वरोन्मुख होकर भक्ति का रुप धारण कर लेता है। प्रेम जोड़ने और मिलाने की शक्ति है और यही शक्ति भक्त और भगवान के बीच सक्रिय होती है। ईश्वरीय प्रेम में भक्त भगवान के साथ संयुक्त होकर पूर्ण हो जाता है। फिशर ने प्रेम की परिभाषा करते हुये बताया है कि 'प्रेम एक अनुभूति है जिसमें आकर्षण एवं समर्पण का भाव होता

है, जो उस वस्तु (या व्यक्ति) की आवश्यकता से उत्पन्न होती है और उसी की ओर उन्मुख होती है, जिसमें व्यक्ति के आनन्द की आशा निहित रहती है।'

ईश्वर असीम, अनन्त और सर्वव्याप्त है। व्यक्ति ससीम और लोकबद्ध है। लेकिन असीम और ससीम, सर्वोच्च सत्ता और आत्मा का योग प्रेम से ही संभव है। प्रेम के लिये द्वैत आवश्यक है। यानि भक्त और भगवान दोनों की सत्ता आवश्यक है। प्रेमी प्रिय में अपनी आत्मा को खोजता और पाता है। प्रेमानन्द में प्रेमी अपनी आत्मा का प्रिय की आत्मा से संयोग करता है। ऐसा प्रेम–भक्ति में ही संभव है। ईश्वरोन्मुख प्रेम वैयक्तिक प्रेम से निर्वैयक्तिक प्रेम होता हैं। यह वैयक्तिक प्रेम भी ईश्वरोन्मुख होकर विश्व प्रेम बन जाता है, क्योंकि प्रेमी सम्पूर्ण विश्व में अपनी प्रिय की सत्ता की अनूभूति करता है। भक्ति काव्य में धर्म का जो रुप है उसका आधार प्रेम है। यहाँ प्रेम का रुप रहस्यवादी तथा लीलात्मक दो प्रकार का है। निर्गुण भक्ति काव्य में प्रेम का रहस्यात्मक स्वरुप मिलता है एवं सगुण भक्ति काव्य में लीलात्मक स्वरुप मिलता है। इसके भाव और रुप को माधुर्य कहा जाता है और यही सान्द्र माधुर्य भाव प्रेम में परिणत हो जाता है। इस प्रकार देखा गया कि भक्ति एवं प्रेम तत्वतः एक हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं है। प्रेम सम्पूर्ण मध्यकालीन भक्ति साहित्य का केन्दीय भाव है। प्रेम ही भगवान की सम्पूर्ण लीला का कारण तत्व है। भक्ति काव्य में प्रेम के मानवीय और ईश्वरीय दोनों रुपों की अत्यन्त, व्यापक गंभीर और वैविध्यपूर्ण अभिव्यंजना हुई है।

इस प्रकार भक्ति के स्वरुप से प्रेम का स्वरुप स्वतः निर्धारित हो जाता है, क्योंकि ईश्वर के प्रति अनुराग का नाम ही भक्ति है। भक्ति स्वतः पूर्ण है, वह साधन नहीं साध्य है भक्ति की प्राप्ति हो जाने पर सभी इच्छायें स्वतः पूर्ण हो जाती है। प्रेमपूर्वक भक्ति में ही आनन्द की प्राप्ति संभव है। आनन्द प्राप्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है।

अध्याय–4

भक्ति काव्य में प्रेमाभिव्यक्ति के विविध रूप

भारतीय साहित्य में प्रेमाभिव्यक्ति की परम्परा प्राचीन काल से विद्यमान रही है। संस्कृत, पालि, अपभ्रंश आदि के काव्यों में प्रेमाभिव्यक्ति के विविध रुप मिलते हैं। इन परम्पराओं को संक्षेप में इस प्रकार विवेचित किया जा सकता है–

वैदिक परम्परा :– वैदिक परम्परा में यम–यमी प्रसंग, प्रेम और काम की उस उत्ताल तरंग का परिचायक है जो मातृत्व की समाज निर्मित दीवार से टकराकर उसे चूर–चूर कर देना चाहती है। इसके मूल में उत्तेजित अदम्य कामवासना नायिका की रति याचना की भूमिका है। पुरुरवा–उर्वशी विवाह वन्धन–निरपेक्ष, अस्थिर, परन्तु प्रेमाश्रित दाम्पत्य की सूचना देने वाले नायक–नायिका हैं। ये आर्यों की देव सभ्यता के प्रेम रुप को स्पष्ट करने वाले प्रसंग है।

वैदिक साहित्य में स्वच्छन्द प्रेम का स्थान विवाह संस्था धीरे–धीरे लेती जा रही थी। ऋग्वेद में सूर्य के विवाह की कथा इस तथ्य की ओर संकेत करती है पर यह प्रतीत होता है कि वैवाहिक बन्धन में भी स्वच्छन्द प्रेम दास्य भाव से समाविष्ट होकर रुढ़ नहीं हो गया था। पत्नी का प्रेयसी रुप भी इस वातावरण में सुरक्षित था। विवाहोपरान्त वर–वधू देवताओं से दो ह्रदयों को मिला देने की प्रार्थना करते थे पर धीरे–धीरे दाम्पत्य भाव का संतुलन बिगड़ता गया। पति का अतिचार पत्नी की दुर्दशा का कारण हुआ।

अथर्ववेद में पत्नी, पति को अपने वश में करने और सौत के तंत्र से विमुक्त करने की तंत्र–मंत्र प्रक्रिया का आश्रय लेती है। वैदिक प्रेम कथाओं की औपनिषदिक परिणति में एक आदर्श या एक उच्चतर उद्देश्य जोड़ दिया गया है। उर्वशी के प्रेम के कारण पुरुरवा जन कल्याण में प्रवृत्त हो सके। इस प्रकार शुद्ध प्रेम कथा के साथ धार्मिक और दार्शनिक अभिप्राय संयुक्त होने लगे।

पौराणिक परम्परा :– पौराणिक परम्परा स्वच्छन्द प्रेम के ह्रास की ही परम्परा है। विवाह संस्था का जन्म महाभारत के अनुसार श्वेतकेतु से हुआ। ऋग्वैदिक विवाह में कन्या को वर चुनने का अधिकार था। पौराणिक युग में प्रेम कथाओं से स्वच्छन्द प्रेम के रुप धीरे–धीरे लुप्त होने लगे और विवाह एक रुढ़ संस्था के रुप में स्थापित हो

गया। अब प्रेममूलक विवाह का आधार खिसकने लगा और विवाह का आधार कहीं शौर्य प्रदर्शन हो गया तो कहीं कामुकता हो गयी। मर्यादा के तत्व प्रेम की तथाकथित आदर्शगत सीमायें बनाने लगे। महाकाव्यों में मर्यादाप्रधान प्रेम वाल्मिकी ग्रंथ में विकसित हुआ। वर्ण व्यवस्था की जटिलता को भी मर्यादा विधान में स्थान मिला। स्वयंवर प्रेम की परीक्षा पर नहीं क्षत्रीत्व की परीक्षा पर आधारित होने लगे। इस प्रकार स्वंयवर का नया रुप बना।

राम और सीता की मर्यादित प्रेम कथा 'उत्तररामचरितम्' और तुलसी के 'रामचरितमानस' में विकसित होती गई। महाभारत में प्रेम कथाओं के अनेक रुप मिलते हैं। सत्यवती और शान्तनु के विवाह में अनार्य, शूद्र और क्षत्रिय का विवाह ही ध्वनित है। कुन्ती और सूर्य का संबन्ध कौमार्यकालीन ही है। अपहरण भी प्रेम–कथा का आधार बनता है। कृष्ण मुख्यतः धर्म और प्रेम के संघर्ष के समय एक सबल नेता के रुप में उपस्थित होकर स्वतंत्र व्यवस्था देते हैं। कृष्ण के इस नेतृत्व में अनेक प्रेम–कथाओं को जन्म दिया। पुराणों में अधिकांश इन्हीं प्रेम कथाओं का विस्तार किया गया है। इन्हीं प्रेम कथाओं से कुछ अंश लेकर शास्त्रीय संस्कृत साहित्य में श्रृंगार रसपरक होकर प्रेम कथायें नाटक और काव्यों में आयी हैं।

संस्कृत साहित्य परम्परा :– इस साहित्य में प्रेम कथा के धर्म–प्रेरित उच्चतर अभिप्राय भी समाप्त हो गये और मर्यादा के तत्व भी शिथिल हो गये। प्रेम कथा की परम्परागत संरचना में नारी के कायिक सौन्दर्य उसके बाह्य प्रशासन और अलंकरण सम्भोग के काम शास्त्रीय विधि–विधान विशेष उभरने लगे। कालिदास के काव्य जगत में नारी सौन्दर्य और वासना अपने समस्त उभार के साथ व्याप्त है। फलतः कालिदास की रचनाओं में प्रेम का इतना उत्कर्ष नहीं जितना कामुकता और रसिकता का। 'मालविकाग्निमित्र' में दो रानियों की पति अग्निमित्र अपनी रानी की सखी के शारीरिक सौन्दर्य पर आसक्त हो जाता है। कालिदास शास्त्रीय साहित्य का निर्विवाद रुप से प्रतिनिधित्व करते हैं जिसमें कामशास्त्रीय प्रभाव इतना सघन है कि शुद्ध प्रेम के तत्व जुगनू की भाँति चमक कर छिप जाते हैं। हिन्दी की प्रेम

गाथाओं में इन तत्वों का नितांत अभाव नहीं है। रत्नसेन पद्मावती के नख–शिख वर्णन से ही मूर्छित होकर प्रेम–पथ पर चल पड़ता है।

उपर्युक्त परम्परा में प्राप्त प्रेम कथाओं का प्रभाव लोक साहित्य परम्परा में भी चल पड़ा। वे या तो धर्म गाथाओं के रुप में घटित हुई या शुद्ध साहित्यिक कथानक के रुप में। एक परम्परा लोक धरातल पर भी चलती रही। इसकी प्रथम कड़ी कथासरित्सागर के रुप में मिलती है। ये समस्त कथायें शिव ने पार्वती से कहीं। इसी परम्परा में बौद्ध जातक आदि कथायें आती हैं। जैन कथाओं का तो अपार भण्डार ही मिलता है। प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में प्रेम कथायें अनेक नवीन तत्व लेकर प्रस्तुत हुई।

पारलौकिक तथा योगतंत्र आदि के तत्व इन कहानियों में समाविष्ट हो गये। निर्वाण प्राप्ति की साधना में भक्ति एवं साधक, स्त्री और पुरुष या नायिक–नायिका के प्रतीक को लेकर प्रस्तुत हुए। इन तत्वों से आगे चलकर कृष्णाश्रित और रामाश्रित प्रेम कथायें बहुत अधिक प्रभावित हुई।

जिस प्रकार सत्काव्य में मूर्त आधार की आवश्यकता होती है, उसी तरह उपासना के लिये भी अमूर्त ब्रह्म के मूर्त आलम्बन की आवश्यकता होती है, क्योंकि उपासना का मूल लक्ष्य है–भगवद् सानिध्य प्राप्त करना, उनका प्रेम पात्र बनना।यह तब तक नहीं चरितार्थ हो सकता, जब तक कि अव्यक्त, निराकार, निर्गुण ब्रह्म सगुण–साकार न हो जाये।

भगवत्प्रेम ही जीवन का निःश्रेयस् मंगल है। इस मंगल अभियान के लिये उस अमूर्त आलम्बन का परिचय प्राप्त करना आवश्यक है, क्योंकि ज्ञान या परिचय के अभाव में न तो उस अमूर्त आलम्बन से भावात्मक तादात्म्य ही स्थापित हो सकता है और न आनन्दानुभूति ही हो सकती है।

प्रेम व्यंजना के लिये अमूर्त का मूर्त रुप होना आवश्यक है। उपासना या भक्ति द्वारा उसका सान्निध्य प्राप्त कर प्रेम पात्र बना जा सकता है। उपासक को

यह प्रेम पात्रता तभी प्राप्त होती है, जब उपास्य भावधर्मी बन जाता है। इस प्रकार भगवान को भावधर्मी बनाने वाला सबसे सहज मार्ग भक्तिमार्ग ही है।

भक्ति काव्य की दो प्रमुख धारायें–निर्गुण भक्ति काव्य एवं सगुण भक्ति काव्य है। ये बाह्य दृष्टि से भिन्न प्रतीत होते हुये भी तत्वतः एक ही हैं। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी एवं मीरा–सभी सन्तों एवं भक्तों का साध्य एक ही है, वह है–प्रेम के द्वारा ईश्वर की प्राप्ति। प्रेम के अनेक रुप हैं। जैसे–दास्य, वात्सल्य, सख्य एवं माधुर्य। इन सभी भावों का मूल दैन्य भाव है। भक्ति काव्य में ईश्वर के प्रति अभिव्यक्त प्रेम के विविध रुपों को कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, मीरा के सन्दर्भ में समझा जा सकता है। कबीर में निर्गुण निराकार भक्ति होते हुए भी दाम्पत्य प्रेम की प्रधानता है। यही दाम्पत्य प्रेम जायसी और मीरा में भी है। सूर में सख्य एवं वात्सल्य भाव का प्रेम है जबकि तुलसी में दास्य भाव का प्रेम है।

भक्ति' "हृदय का धर्म है। हृदय के धर्मो में सर्वाधिक व्यापक, उदात्त और मानवीय धर्म है प्रेम। प्रेम ही भक्ति का मूल भाव हैं। प्रेम मनुष्य को सबसे ऊपर उठाता है और यही प्रेम मनुष्य की एकता का आधार बनता है। आत्मा और परमात्मा के मिलन का मूल कारण भी प्रेम ही है।

कबीर :– कबीर के भक्ति में प्रेम के विविध रुप दिखते हैं। यों तो कबीर की भक्ति निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना से जुड़ी हुयी है। लेकिन सगुण भक्ति के सभी उपादान उनके काव्य में मिल जाते हैं। कबीर की भक्ति निर्गुणिया होते हुए भी सगुण की तरफ झुकी हुयी है। निर्गुण निराकार की भक्ति असम्भव है। इसे भक्ति का विषय बनाना कबीर जैसे उच्चकोटि के साधक के ही वश की बात है। कबीर को इस बात का श्रेय दिया जाता है कि उन्होंने निर्गुण निराकार की भक्ति को सम्भव बनाया।

कबीर ने आत्मा एवं परमात्मा के प्रेम को दाम्पत्य प्रेम के रुप में चित्रित किया है। अतः प्रेम के इसी रुप को अभिव्यक्त करने के लिये कबीर ने ईश्वर और आत्मा को पति–पत्नी के सम्बन्ध का रुपक दिया है। लेकिन कबीर ने अपने काव्य

में सौन्दर्य प्रेरित काम–भावना को कुछ भी स्थान नहीं दिया है। इनकी प्रेमाभिव्यक्ति अश्लीलता के स्पर्श से कोसों दूर है। उन्होंने जीवात्मा और परमात्मा के मिलन को अत्यन्त दार्शनिक ढंग से चित्रित किया हैं। ज्ञानमार्गी कवि होने के कारण कबीर ने ज्ञान के पश्चात् प्रेम की अनुभूति को आवश्यक माना है। ईश्वर संबंधी धारणाओं की विभिन्नताओं के अनुसार प्रेम के स्वरुप में भी अन्तर होता है।

प्रेमी की एक विशेषता होती हैं कि वह अपने प्रेमपात्र कोएक क्षण के लिये भी अलग नहीं होने देना चाहता। यदि प्रेमपात्र अलग होता है तो विरह की आग धधक उठती है। विरह की यह ज्वाला कबीर जैसे भक्तों को अमृत के समान लगती है। कबीर की प्रेम–भावना में सम्पूर्ण समर्पण का भाव विद्यमान है। उनकी निर्गुण भक्ति में यही भाव प्रकट हुआ है।

निर्गुण भक्ति से तात्पर्य ज्ञान योग और भाव की समन्वित साधना से है। सिद्ध साधना के कुछ प्रतीकों को निगुर्ण भक्तों ने अपनाया है। दूसरी बात यह है कि नाथों के योग को शुद्ध रुप में इन सन्तों ने न अपनाकर राघवानन्द और रामानन्द के द्वारा प्रचारित योग और भक्ति की समन्वित धारा को ही अपनाया। योग का महत्व मन को एकाग्र और इन्द्रियों को अन्तर्मुख करने में है। बिना इस मानसिक परिष्कार के प्रेम की आध्यात्मिक स्थिति की उपलब्धि नहीं हो सकती। भक्ति और प्रेम के स्वस्थ वातावरण के लिये विवेक और वैराग्य भी सन्तों के द्वारा आवश्यक माने गये हैं। विवेक से संत और असंत का निर्णय होता है और वैराग्य के द्वारा असत् का परित्याग होता है। कबीर में वैराग्य भावना बलवती दिखती है। किन्तु वैराग्य अपने आप में लक्ष्य नहीं हैं। लक्ष्य है–आत्मस्थ ईष्ट देव के प्रति प्रेम भावना को जागृत करके उसकी प्राप्ति और इस प्राप्ति के अनन्तर महासुखमय लय। इसी से हृदय मुक्त होता है और अनन्त प्रियतम हृदय में प्रविष्ट होता है।[1] भौतिक इन्द्रियों की गति प्रायः बर्हिमुखी है, योग साधना इस गति का निरोध है। प्रेमाधारित प्रिय समागम लक्ष्य है। उसकी प्राप्ति में योग साधना का यही महत्व है।

---

1 सुरति समानी निरति में निरति रही निरधार
सुरति–निरति परचा भया, तब खूले संभु दुवार। (कबीर ग्रन्थावली–संपा०–डॉ० पुष्पपाल सिंह, पृ०–107)

प्रेमी वही है जो योग साधना के द्वारा चित्त वृत्तियों को अन्तरस्थ प्रियतम की ओर अग्रसर करे। कबीर ने ज्ञान की तलवार को लिये हुये चेतना रुपी अश्वारोही का चित्रण किया है जो प्रेम के घोड़े पर चढ़कर लक्ष्य की ओर संघर्ष करता हुआ बढ़ता है।[1] दास्य भाव को भी विवेक से सम्पन्न करके ही कबीर ग्राहय मानते हैं। योगी भी वह है जो समस्त जगत से अलग है। अर्थात् असत के जाल से मुक्त हो गया है। इस प्रकार कबीर की प्रेम भक्ति में योग और ज्ञान को प्रेम के विरोधी तत्वों के रुप में नहीं, साधक तत्वों के रुप में ही गृहीत हैं। प्रेम के क्षेत्र के शूरवीर ज्ञान और वैराग्य के अस्त्र–शस्त्रों से सुसज्जित होकर ही उन समस्त विरोधी तत्वों का निराकरण कर सकते हैं, जो प्रेम के क्षेत्र की उपयुक्त संरचना में बाधक होते हैं। कबीर ने इसी रुप में आध्यात्मिक शूरवीर का चित्रण किया है। वह सहज योग का कवच धारण करके ज्ञान के हाथी पर आरुढ़ होकर वीर गति प्राप्त करना चाहता है।

कबीर ने ज्ञान वैराग्य और योग को भक्ति की साधना के अंगों के रुप में स्वीकार किया है। कबीर की भक्ति भी नारदीय भक्ति की तरह प्रेमाभक्ति है, उन्होंने मुक्ति की भी उपेक्षा करके प्रेम साधना को महत्व दिया है। कबीर को परम प्रिय चाहिये, बैकुण्ठ नहीं। हरि–भक्ति को ही इस नश्वर संसार में कबीर ने सारवस्तु माना है। बिना भक्ति के जीवन व्यर्थ है। बिना भक्ति के अच्छे ज्ञानी भी डूब जाते हैं। हरि–भक्ति सांसारिक विषय–वासनाओं को त्याग कर ही सम्भव हो सकती है। भक्ति करना किसी कायर के वश की बात नहीं है। भक्ति की प्राप्ति आत्म–बलिदान से ही होती है।[2]

कबीर ने प्रेम और भक्ति दोनों शब्दों का प्रयोग किया हैं। कबीर के प्रेम के रुप को देखकर ऐसा अनुमान होता है कि वे सूफी प्रेम दर्शन से प्रभावित थे।[3] किन्तु कहीं भी सूफी प्रेम दर्शन का पूर्ण निर्वाह करने की दृष्टि कबीर में नहीं दिखती।

---

1. अवधू जोगी जग ते न्यारा। (कबीर ग्रन्थावली–संपा०–डॉ० पुष्पपाल सिंह, पृ०–330)
2. भगति दुहेली राम की नहिं कायर का काम।
   सीस उतारै हाथ करि, सो लेही हरि नाम। (कबीर ग्रंथावली–संपा०–डॉ० पुष्पपाल सिंह, पृ०–252)
3. प्रेम की सूफियों के समान ही उन्होंने साधना की है तथा प्रेम और विरह–तत्व को अत्यधिक महत्व दिया है। (डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत–कबीर की विचारधारा)

जीव–ब्रह्म संबंधी अद्वैतवादी धारणा जिसे कबीर ने ग्रहण किया, सूफी दर्शन और भारतीय दर्शन में समान है। इन समानताओं के आधार पर कबीर को सूफी दर्शन से अत्याधिक प्रभावित मानना युक्तिसंगत नहीं है। कबीर में भारतीय अद्वैतवाद तथा तांत्रिक योग के साथ वैष्णवों व रामानन्द से प्रेरित भक्ति भावना समन्वित हो गई है और उनके लिये प्रेम और भक्ति एक प्रकार से पर्याय हो गये।

यह भक्ति तत्व कबीर को वैष्णवों व रामानन्द से बीज रुप में प्राप्त हुआ, पर रामानन्द जी के भक्ति दर्शन का भी पूर्ण निर्वाह कबीर में नहीं मिलता, किन्तु उनकी भक्ति भावना से कुछ प्रभावित होकर कबीर ने प्रेमाभक्ति और योग की मिली–जुली परम्परा का हिन्दी में प्रचलन किया। कबीर ने अनेक स्थानों पर भक्ति की महत्ता प्रतिपादित की है।

कबीर की प्रेम पद्धति में भक्ति की समस्त आवश्यक बातें और स्थितियाँ स्पष्ट रुप से मिलती हैं। नवधा भक्ति के तत्व भी कबीर के काव्य में मिल जाते हैं।

निःसन्देह कबीर ने ज्ञान, योग और भक्ति का समन्वय किया, पर प्रधानता उन्होंने भक्ति या प्रेम तत्व को ही दी। ज्ञानी कबीर ने बार–बार ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को प्रधानता दी हैं। भाव प्रेम से युक्त पूजा के बिना योग की साधना वृथा है। भावना और भक्ति की यह प्रधानता साधक कबीर को आराधक कबीर बना देती हैं। उन्हें तत्व चिंतन की दुर्गम ऊँचाइयों से उतारकर उस सहज धरातल पर ले आती है, जहाँ तर्क की अपेक्षा विश्वास की प्रमुखता है। 'इड़ा' 'पिंगला' और 'सुषुम्ना' की टेढ़ी–मेढ़ी वक्रता से जूझ कर त्रिकुटी में ब्रह्म के साक्षात्कार का उपाय बताने वाले साधक कबीर उन्मुक्त कंठ से यह भी कहते हैं–

हरि महि तनु है तन महि हरि है सर्व निरंतर सोई रे।
कह कबीर राम नाम न छोड़ो सहजे होई सु होई रे।।

यह सहज भाव का स्वर कबीर के समस्त अन्य स्वरों पर छा गया है। योग, वैराग्य, तप, तत्व–चिंतन–इन सबका महत्व स्वीकार करने पर भी 'भाव भगति और विश्वास' की सहजता ही समस्त प्रश्नों के अंतिम उत्तर के रुप में उपयुक्त सिद्ध होती है। वास्तव में मानव के समस्त इहलौकिक और पारलौकिक सम्बन्धों का

क्रीड़ास्थल उसका हृदय है। बुद्धि तो केवल खरी–खोटी परखने की कसौटी मात्र है। यही कारण है कि बुद्धि पक्ष का पलड़ा भारी होने पर मानव बहुत कुछ सीख अवश्य लेता है पर हृदय पक्ष की सबलता के बिना उस सीखे हुये को जीवन के वास्तविक धरातल पर उपयोगी नहीं बना पाता।

कबीर ने भावना के क्षेत्र में बुद्धि को नहीं, हृदय को प्रमुखता दी है। ब्रह्म की प्राप्ति के लिये उपनिषद् जिस ज्ञान और योग आदि की चर्चा करते हैं, उसी ब्रह्म को 'साहब सलोना' मानकर कबीर सहज भाव अर्थात् हृदय की सहजतम वृत्ति प्रेम में अधिष्ठित कर लेते हैं।

ज्ञान को कबीर आधार के रुप में लेते हैं, पर प्रमुखता प्रेम के दीपक की ही है जिसके बिना कदाचित पूजा के अन्य समस्त उपकरण फीके पड़ जाते हैं। प्रभु से संबंधित सारे ज्ञान–ध्यान की दुनिया कबीर के अनुसार प्रेम के आलोक के बिना अंधेरी है। सभी भक्त कवियों ने प्रेम के महत्व को एक स्वर से माना है। किन्तु ज्ञान और प्रेम की यह समानान्तर धारा कबीर का निरालापन है। ज्ञान से कबीर ने जो कुछ जाना, प्रेम से उसकी गहराई तक पहुँच सके। ज्ञान ने उन्हें जो कुछ दिया, प्रेम ने उसे अमर कर दिया। प्रेम से विहीन शुष्क ज्ञान नहीं, वरन् प्रेममय ज्ञान कबीर की पूजा का कमल था। उस अनादि, अनन्त, अलौकिक को घर बैठे पाने का साधन ज्ञान नहीं, भक्ति है। तर्कपूर्ण मस्तिस्क नहीं, भाव भरा हृदय है।

कबीर दास जी निष्काम भक्ति का ही समर्थन करते हैं, जिसकी निर्गुण भक्ति से अभेदता स्वीकार की गयी है। उनके अनुसार सकाम भक्ति से की हुई भगवत् सेवा निष्फल ही रहती है। क्योंकि हमारा इष्ट देव स्वंय निष्काम है।[1]

प्रेम का मार्ग भक्त के कवियों ने कठिन माना है। सूर ने कहा है–**'प्रेम करि काहू सुख न लह्यो'**। मीरा ने कहा **'नगर ढिढोरा पीटती प्रेम न करियो कोय'** और कबीर ने भी इसी प्रकार के भाव व्यक्त किये हैं–**'भगति दुहेली राम की**

---

1. *जब लग भगति सकामता, तब लगि निष्फल सेव*
   कहै कबीर वै क्यूं मिलै, निः कामी निजदेव। कबीर ग्रन्थावली संपा० श्री पुप्प पाल सिंह, पृ०–251

जेसि खाड़े की धार'। किसी रीति कालीन कवि ने भी कहा कि–**'यह प्रेम को पंथ कराल महा, तलवार की धार पै धावनौ है'**। यह कठिनाई और प्रेम के मार्ग की दुखानुभूति वस्तुतः उसी के लिये है जो प्रेम के आस्वादन से वंचित रहा। इसका मूल कारण यह है कि प्रेम में सब कुछ बलिदान कर देने की अपेक्षा रहती है। बलिदान का तात्पर्य है कि प्रेमी का प्रेमास्पद की सत्ता में विलीन हो जाना। अहं की भावना का विलय जब तक नहीं हो जाता तब तक प्रेम की परिणति अधूरी ही रहती है। प्रेम के सम्बन्ध में यह बलिदान की भावना एक देशीय नहीं सार्वदैशिक कही जा सकती है। इसमें व्यक्तिगत संकुचित सीमाओं का विस्तृत हो जाना ही सिद्धान्त रुप में व्याप्त है। सीमाओं का बलिदान ही असीम होने की सच्ची साधना है। कबीर के दोहों में "सिर'[1] अहं का प्रतीक है। सिर को भूमि पर रखना अंह से सम्बन्धित उद्धत भावनाओं का मोचन ही है। कबीर दास जी ने इसी बलिदान की ओर संकेत करते हुए कहा है–

जब मैं था तब हरि नहीं अब हरि हैं मै नांहि।
प्रेम गली अति साँकरी जामै द्वै न समाँय।

प्रेम की साधना द्वैत को हटाकर भावात्मक अद्वैत स्थापित करने की ही साधना है। अज्ञान के कारण यह द्वैत उपस्थित हो गया था। यह द्विविधा विभक्त चेतना एकीकरण की साधना में लगी रहती है और इस एकीकरण की स्थापना के लिये बलिदान आवश्यक है। किन्तु बलिदान का महत्व प्रत्येक व्यक्ति समझ नहीं सकता और बलिदान के अभाव में प्रेम मात्र आसक्ति रह जाता है। जिसने एक बार अपने आप को प्रिय के प्रति पूर्ण रुपेण निवेदित कर दिया, वही प्रेम की गली में प्रविष्ट हो सका। इस दृष्टि से बलिदान और आत्मसमर्पण एक ही है। इसलिये कबीर ने अन्य भक्त कवियों की भाँति बलिदान की कठिनाई को ध्यान में रखते हुए प्रेम की कठिनाई बतायी है। प्रेम के मार्ग की कठिनाई को अहम् के बलिदान से ही दूर किया जा सकता है।

---

1. (क) कबीर यहु घर प्रेम का खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै हाथि करि, सो पैसे घर माँहि। पृ० – 251, दो० 19
(ख) कबीर निज घर प्रेम का मारग अगम–अगाध
सीस–उतारि पग तलि धरै तब निकटि प्रेम का स्वाद। कबीर – हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ०–15

प्रेम का अनिर्वचनीय आस्वादन तभी प्राप्त हो सकता है, जब भक्त अपने सिर को उतार कर इष्ट के चरणों में समर्पित कर दे। केवल प्रेम ही नहीं भक्ति के लिये भी यह बातें कही गयी हैं। जिससे कबीर में भक्ति और प्रेम की एकता सिद्ध होती है।

प्रेम में अनन्यता का तत्व भी एक आवश्यक तत्व है। इस अनन्यता का प्रतीक तुलसी ने चातक को माना है। कबीरदास जी ने अनन्य प्रेम का प्रतीक पतिव्रता को माना है। जिस प्रकार पतिव्रता का प्रेम एकनिष्ठ होता है उसी प्रकार भक्त को भी अपने इष्ट में अनन्य भाव से रत रहना चाहिये। कबीर का मत है कि कलियुग में उस एक से ही प्रेम करके निश्चिन्त हुआ जा सकता है। प्रेम द्वारा ही मुक्ति के पश्चात आवागमन से जीव–मुक्त हो जाता है। यह औपनिषदिक मान्यता भी कबीर ने स्वीकार की है। प्रेम का मार्ग यद्यपि सहज मार्ग है पर मन की इस सहज स्थिति तक पहुंचने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अगम्य प्रेम मार्ग को देखकर अच्छे मुनीश्वर भी शान्त हो जाते है।[1] प्रेम की कहानी अनिर्वचनीय है। इसके संबंध में कुछ भी कह सकना संभव नहीं है। इस अगम अनिर्वचनीय मार्ग को समझाने में केवल गुरु ही सहायक हो सकता है। गुरु की कृपा से ही प्रेम की अकथ कहानी निःसंशय रुप में समझ में आ सकती है। इस आध्यात्मिक प्रेम विद्यान में गुरु का स्थान दूती के समान है। कबीर तथा अन्य निर्गुण सन्तों ने कुछ ऐसे प्रतीक का प्रयोग भक्ति निरुपण में किया है जिनकी परम्परा के सूत्र महायान से नाथों तक के विकास कम में बिखरे पड़े हैं। ये प्रतीक अपने मूल रुप में ही सन्त साहित्य में प्रयुक्त हैं।

कबीर की प्रतीक योजना में मुख्य रुप से सुरति, शून्य सहज, अमृत, महारस आदि आये हैं। 'सुरति' वह शब्द है जो साधना में चित्व को संलग्न करता है और निरति वह निरालम्ब अवस्था है जो चित्त के नाद में लीन हो जाने पर उपस्थित होती है। इसलिये चित्त को सुरति की ओर उन्मुख रहने का आदेश किया गया है।[2]

---

1. कबीर मारग अगम है, सब मुनि जन बैठे थामिं कवि ग्रन्थावली,, दो. 9, पृ०–31
2. अवधू सुरति मुषि बोले, सुरति मुषि चलै। गोरखबानी, पृ०–196

कबीर ने मुख्यतः नाथ सम्प्रदाय के अर्थ को ग्रहण किया है। यह सुरति उस ढेकुली के समान है जिसके सहारे मन बार–बार प्रेम रस का पान करता हैं। कबीर ने सुरति निरति के परिचय की बात कही है अर्थात् वह अवस्था जब अनाहद और चित्त वृत्ति से पृथक् रहते हैं पर एक दूसरे की ओर आकर्षित रहते हैं।

'सुरति' उस अवस्था में परिणति होती है जब चित्तवृति नाद में लय हो जाती है। 'निरति' प्रेम की दृष्टि से सुरति मन की वह अवस्था है जब साधक के चित्त की बर्हिमुख दृष्टियाँ प्रिय में लीन होने के लिये तीव्रता और आतुरता के साथ आगे बढ़े। यह अवस्था प्रेमी भक्तों के लिये अत्यन्त स्पृहणीय रही है क्योंकि एकाकारिता से पूर्व की इस स्थिति में प्रेम का महारस व्याप्त रहता है। इसलिये योगी के लिये यह परम गंतव्य है इसका स्थान बहुधा त्रिकुटी माना गया है। 'शून्य' शब्द का प्रयोग बौद्ध और बौद्धेतर दोनों प्रकार की दार्शनिक परम्पराओं में मिलता है। महायानियों में शून्य परमात्मा या समष्टि चेतन का पर्याय माना जाता है–नाथ सम्प्रदाय में परमतत्व के रुप में ही शून्य गृहीत हुआ किन्तु यहाँ इसको भी नाद तत्व से समबद्ध कर दिया गया। एक और अर्थ शून्य के साथ नाथों ने और सम्बद्ध किया–ब्रह्मरन्ध्र। यहीं शिव का वास है। सन्त तथा सूफी सम्प्रदाय में इन तीनों ही अर्थो का विकास मिलता है। कबीर ने शून्य से संसार की उत्पत्ति का रुपक दिया है। इस प्रकार कबीर का शून्य आदि तत्व का प्रतीक है। शून्य के अतिरिक्त शून्य मण्डल का भी प्रयोग मिलता है। शून्य से सम्बन्धित कई स्थल शरीर में माने गये हैं। त्रिकुटी में शिव या शून्य का स्थान माना गया है। ब्रह्मरन्ध्र को पार करने के उपरान्त सहस्रार कमल के मध्य में भी शून्य मण्डल की कल्पना की गई है। सन्तों ने इस अर्थ में शून्य का प्रयोग विशेष अर्थो में किया है कबीर ने गुफा के मध्य शून्य का आसन बताया है।

मीरा ने इसी सुन्न महल में सुरति सेज सजायी। कबीर ने इसी सुन्न मण्डल में अपने अनन्त प्रियतम के साथ शान्ता भाव से प्रेम लीलायें की। उस दिव्य आध्यात्मिक केलि के लिये कोई सामान्य स्थल उपयुक्त नहीं हो सकता था। ब्रह्मरन्ध्र पर पहुँचकर ही वह दिव्य नाद सुनाई पड़ता है। जो सुरति की स्थिति में चित्तवृत्तियों को स्थित कर देता है।

इन्हीं प्रेम प्रक्रियाओं के परिणामस्वरुप निरंति की अंतिम स्थिति आती है। कृष्ण भक्ति साहित्य में शून्य मण्डल का रुपान्तर ब्रज मण्डल में हो गया है। जिसके मध्य में राधा कृष्ण की नित्य क्रीड़ा–स्थली वृन्दावन स्थित है। यह गोलोक का अवतरित रुप ही है। कहीं–कहीं शून्य को 'गगन' भी लिखा हुआ है। उन्मन की प्राप्ति गगन मण्डल में जाकर होती है। जहाँ चन्द्रमा के बिना चन्द्रिका रहती है और वह अलख निरंजन का निवास है। इस शून्य मण्डल में निरन्तर निवास की बात कबीर ने कही है। शून्य मंडल में एक लीलागत सहज भाव विकसित हो जाता है। जिसमें प्रियतम के साथ विभिन्न भावों के सम्बन्धों की मधुर अनुभूति होती रहती है। इसी मधुर अनुभूति की अवस्था को सहज समाधि की अवस्था कहा जाता है। 'सहज' शब्द सिद्ध और नाथ दोनों परम्पराओं में मिलता है। सिद्धों से पूर्व धर्म साधनाओं में 'स्वाभाविक' के अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त रहा है। 'संत साहित्य' में प्रायः सभी अर्थो में सहज का प्रयोग मिलता है। कबीर ने परम तत्व के रुप में सहज का अनेक स्थलों पर उल्लेख किया है। कबीर के परवर्ती साहित्य में सहज की ईश्वर रुप कल्पना बहुत अधिक मिलती है। राम और कृष्ण दोनों को ही सहज रुप में बताया गया है। पर कबीर ने सहज को ब्रह्म की संज्ञा दी है।

सहज समाधि का प्रयोग समाधि व भाव समाधि दोनों ही अर्थो में मिलता है। नाथ परम्परा में 'उन्मनी' अवस्था समाधि के लिये प्रयुक्त है। यह अवस्था शून्य और अशून्य दोनों से परे है। कबीर ने 'उनमन' समाधि को सहज समाधि से उत्पन्न बताया है यही सहज समाधि मनुष्य की भावात्मक सहज वृत्ति हैं यही स्वाभाविक अवस्था है। जिसमें परम तत्व की अनुभूति स्वभाव का अंग बन जाती है। परमपद के अर्थ में भी सहज का प्रयोग हुआ है। अंतिम रुप सहज जीवन पद्धति का है जिसकी परम्परा "कबहु कहौं या रहनिरहौगो" तक चली गई है। सन्त लोग "उन्मनी" समाधि की साधना तो अवश्य करते थे पर सहज स्वभाव से भक्ति करने का उपदेश शिष्यों को देते थे। यह वैष्णव पद्धति का ही प्रभाव माना जा सकता है। वैष्णवी पद्धति में अनासक्त और निष्काम भाव से किये गये सभी कार्य सहज माने जाते थे।

सहज के इन प्रयोगों और अर्थो में दिव्य प्रेम की भूमिका ही है। परम तत्व की शास्त्रीय व्याख्यायें और निरुपण पद्धति को त्यागकर सहज रुप में स्थित करके उसे प्रेम सम्बन्ध के योग्य ईश्वर रुप में लाया गया । इस परम तत्व का भावात्मक परिचय ही स्वाभाविक ज्ञान या सहज के अन्तर्गत आता है। सहज समाधि मन की वह दिव्य अवस्था है जो दिव्य अनुभूतियों की क्रीड़ा स्थली बन सकती है। सहज की समस्त भावना पर वैष्णवी प्रेम भावना छायी रही। और योग तंत्रात्मक पारिभाषी अर्थ भाव योग में समाविष्ट होती गयी।

वास्तव में सहज योग का संदेश देकर कबीर ने मानव–हृदय की सहजता को ही महत्व दिया है, जो अलभ्य होकर भी सर्वथा सुलभ है। मानव की मूल प्रवृत्तियाँ, वैर, द्वेष, क्रोध आदि नहीं, प्रेम और विश्वास है। प्रेम और विश्वास के बल पर ही संसार में जीवन है। प्रथम सांस से अन्तिम सांस तक प्रत्येक जीवन प्रेम का ही प्रमाण होता है। जप, योग, वैराग्य सबके लिये सुलभ नहीं किन्तु सहजता तो सबके लिये सहज है। यह सहजता हृदय की सहज प्रवृत्ति प्रेम और विश्वास का ही पर्याय है। और सहजता तभी सार्थक है जब –

सहज–सहज सबको कहै, सहज न चीन्है कोई।
जिन्ह सहजैं हरिजी मिलै, सहज कही जै सोई।।[1]

जिस सहजता से हरि मिले उसे ही वास्तव में सहज कहना चाहिये निश्चय ही यह सहजता उस परम के प्रति हृदय का सहज स्वाभाविक निर्मल प्रेम ही हो सकता है जिसके लिये व्यक्ति को किसी बाहरी आडम्बर की आवश्यकता नहीं होती।

प्रेम का महत्व इस कारण से है कि वह मानव प्रकृति की दृष्टि से अधिक सहज और स्वाभाविक है। 'सहज' और 'सप्रयत्न' का स्वरुप भारतीय आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में आदि काल से मिलता रहा है। मन एक ओर मूल वृत्तियों से सम्बद्ध होता है और जन्मजात वृत्तियों की प्रेरणा से ही इन्द्रियों के माध्यम से वह सांसारिक विषयों की ओर चलता है किन्तु साधक का लक्ष्य होता है–मन की गति

---

1. कबीर–सहज कौ अंग, दोहा–4, पृ०–179

को नियंत्रित करना होता है। यदि किसी ने जगत को मिथ्या कहकर मन को रोकना चाहा तो किसी ने मन को योग साधना से मारने का आदेश दिया। इन दोनों ही दृष्टियों में सहज प्रक्रिया का अभाव है। अतः किसी भी क्षण ज्ञान और योग के प्रयत्नों का भवन ढह सकता है।

अतः कबीर ने ज्ञान और योग के संस्कारों से युक्त होते हुये भी सहज साधना का समर्थन किया यह साधना मनुष्य की सहज वृत्तियों का निराकरण नहीं करना चाहती वरन उन्हीं वृत्तियों को साधना के रुप में परिणत करना चाहती है। सहज का यह तत्व केवल साधना का ही अंग नहीं है उस साधना की भावभूमि से भी सम्बद्ध है। इस प्रकार शून्य सुरति और सहज ये तीनों प्रतीक कबीर की प्रेम पद्धति में आये हैं। एवं उन पर प्रेम की दृष्टि से विचार किया गया है। चूँकि प्रेम अविभाज्य है। तत्वतः उनकी श्रेणियाँ नहीं हो सकतीं लेकिन परिणति के रुपों में आलम्बन के आधार पर भेद प्रस्तुत हो जाते हैं। प्रेम का विस्तार आत्मा का ही विस्तार है। कबीर का आत्मस्थ प्रेम कभी रहस्यात्मक आलम्बन के आश्रित होकर प्रकट होता है और कभी समस्त मानव जाति के आलम्बन के रुप में ग्रहण करके स्फुरित होता है। जहाँ आलम्बन रहस्यात्मक है वहाँ जैसे कबीर के प्रेम का पंछी अपनी उड़ान में अनन्त आकाश का नाप लेना चाहता है और जहाँ मानव उसका आलम्बन है वहाँ उसका प्रसार जन–जन में होता है साथ ही प्रेम मार्ग के बाधक तत्वों के प्रति एक वीर भाव भी जुड़ जाता है। कबीर के उस अलौकिक प्रेम के कई रुप हैं। इन रुपो से तात्पर्य इन समबद्ध भावानाओं का विश्लेषण है जो कबीर ने अपने इष्ट के प्रति प्रदर्शित किया है। इन सम्बन्धों की स्थापना ही भक्ति साधना की विशेषता है।

यद्यपि कबीर का प्रियतम निर्गुण निराकार ही है फिर भी उसके सम्बन्ध में जो भावनायें कबीर साहित्य में व्यक्त हुई हैं वे किसी न किसी सम्बन्ध कल्पना के आधार पर ही हैं। ये सम्बन्ध प्रेम से प्रेरित मानवीय सम्बन्धों से भिन्न नहीं है। काव्य में उनकी जो रुप–रेखा बनायी गयी है वह उन्हीं उपकरणों से बनी है जिनसे हमारे मानवीय सम्बन्ध निर्धारित होते हैं।

रामानन्द सम्प्रदाय में यद्यपि भक्त और भगवान के नौ प्रकार के सम्बन्ध स्वीकृत किये गये है किन्तु इन सभी भावों का तीन भक्ति पद्धितियों में समाहार हो जाता है। ये हैं–शान्त, दास्य एवं माधुर्य। कबीर ने मुख्यतः इन्हीं तीन रुपों में प्रेम भक्ति की अभिव्यंजना की है। रामानन्द जी ने शान्त भक्ति पर स्वतंत्र रुप से विचार नहीं किया पर इस सम्प्रदाय में इस भक्ति रुप का प्रचलित होना स्वाभाविक था क्योंकि ज्ञान और वैराग्य की उद्‌बद्ध परम्परायें इस सम्प्रदाय की पृष्ठभूमि में थी। ज्ञान और वैराग्य शान्ता भक्ति के दो आधार स्तम्भ है। इसमें सम्बन्ध भावना ब्रह्म–जीव अंश–अंशी आदि रुपों में प्रकट होती है। वेदान्त में भी यही सम्बन्ध मान्य हैं कबीर में सबसे अधिक यही सम्बन्ध व्यक्त हुआ हैं इस भक्ति पद्धति और वेदान्त ज्ञान, योग वैराग्य की पद्धतियों के बीच विभाजक रेखा अत्यन्त सूक्ष्म है, अन्तर केवल इतना ही है कि जीव और ब्रह्म का शुद्ध निरुपण न करके शान्ता भक्ति के अनुगामियों ने जीव की भगवान के साथ सम्बन्ध भावना को अधिक भाव रंजित करके और लौकिक रुपकों से अधिक तीव्रता प्रदान करके जीव की मिलनेच्छा पर अधिक बल दिया है।

इस प्रकार शान्त भाव की प्रेमपरक परिणति ही शान्ता भक्ति है। मूल भाव आध्यात्मिक रति ही है। इस रति के बाधक असत तत्व और अज्ञान हैं। मन इस असत और नश्वर तत्वों की ओर आसक्त होकर अध्यात्मिक रति को विस्मृत कर देता है। इस भ्रम से पड़ा हुआ जीव मन को एकाग्र नहीं कर पाता, इसलिये भ्रम विषयक सत्य, विवेक और संसार विषयक मिथ्यात्व की अनुभूति करने के पश्चात उस आत्म रति को जागृत कर सकता है। इस प्रकार शान्त भाव साक्ष्य बनकर नहीं प्रेम की साधना का अनिवार्य अंग बनकर आता है। साध्य, प्रेम रुप ही बना रहता है पर साधना पथ साधन निर्वेद वश आच्छादित रहता है। रागानुगा प्रेम भक्ति से शान्ता भक्ति का यही अन्तर है।

दास्य भक्ति :– रामानन्द सम्प्रदाय में सबसे अधिक मान्यता दास्य भक्ति को ही प्राप्त थी एवं कबीर को दास्य भक्ति के संस्कार इन्हीं से प्राप्त हुये थे। इस भक्ति के अनुसार भगवान के साथ जीव का सेवक–स्वामी सम्बन्ध मान्य है। कबीर ने

अपने को कुत्ते के रुपक से व्यक्त किया है।[1] नारदी भक्ति सूत्र में भी दास्य भाव की महिमा गायी गयी है। जन्म जन्मान्तरों के पश्चात भी यदि प्रभु के प्रति दास्य भाव प्राप्त हो जाय तो समस्त लोक का कल्याण हो सकता है। दास्य भक्ति के दो रुप माने गये है। पहले का सम्बन्ध मूर्ति की सेवा–पूजा अर्चना आदि से है एवं दूसरा रुप अपने मन के अंहकार का विनाश करके अपने को क्षुद्र समझकर, भगवान के प्रति अपने को निवेदित करने आदि से सम्बन्धि है।

कबीर का सम्बन्ध प्रथम रुप से नहीं, द्वितीय रुप से ही है क्योंकि कबीर मूर्ति पूजा में विश्वास नहीं रखते थे। दास्य भक्ति में भगवान के एश्वर्य की स्वीकृति तो रहती है एवं दास के बलिदान की भावना भी सबसे अधिक अपेक्षित होती है। लौकिक और अलौकिक दास में एक मूल अन्तर होता है कि लौकिक दास विवशता का अनुभव करता है। लेकिन भगवान के दास के साथ इस प्रकार की स्थिति नहीं रहती है क्योंकि वह विवशता के स्थान पर प्रेम जन्य होता है। इसमें दास्य को मुक्त अनुभूति होती है। लज्जा के स्थान पर गर्व का अनुभव होता है। अतः इस प्रेम प्रेरित दास में बड़ा से बड़ा बलिदान कर देना भी भक्त दास के लिये बड़ी बात नहीं होती। इसलिये कबीर ने दास के द्वारा प्राणोत्सर्ग पर अधिक बल दिया है। अपने सिर को भगवान को समर्पित कर देने में शूर–वीर को सोच–विचार नहीं करना चाहिये।[2] अन्ततः कबीर अपने को भगवान को समर्पित कर देते हैं। गुलाम का अपना कोई अस्तित्व नहीं होता। इसलिये कबीर कहते हैं हे राम! तुम मुझे बेच सकते हो किन्तु बेचने वाला और खरीदने वाला अलग–अलग थोड़े ही है। यह भाव इस पद में व्यक्त किया गया है :–

मैं गुलाम मोहि बेचि गुसाँई
तन, मन, धन मेरा राम जी के ताई।[3]

---

1. कबीर–हजारी प्रसाद द्विवेदी – कबीर कूता राम का, मोतिया मेरा नाऊं
   गले राम की जेवड़ी, जित खैंचे तित जाऊँ।, पृ०–130
2. अब तो झूज्या ही बड़ौ, मुड़ि चल्या घर दूरि
   सिर साहिब को सौंपता, सोच न किजै सूरि। कवि ग्रन्थावली, पृ0 69
3. कवि ग्रन्थावली, पद–113, पृ०–124

अन्त में कबीर का विश्वास दृढ़ हो जाता है कि जो सब लोगों का पालनकर्ता है वह मेरा भी प्रतिपालन करेगा इसलिये उसी एक की सेवा करनी चाहिये। यदि हरिजन से चूक भी बन पड़ती है तो वह भी भगवान का ही है। मन और जीवन माया के वश में आकर विषयों की ओर चलने लगता है। पर दास को इस माया से मुक्ति भगवान ही कर सकता है।

शान्ता भक्ति ने कबीर की मानसिक स्थिति को स्थिर करके अन्ततः उनको दास बना दिया। शान्ता भक्ति यदि ज्ञान मार्ग से भक्ति मार्ग पर प्रथम चरण है तो दास्य भक्ति में शान्ति भक्ति द्वितीय चरण है। इसमें प्रिय का अगम अगोचर रुप कुछ ऐसे अलौकिक गुणों से युक्त हो उठता है कि भक्त का विश्वास सुदृढ़ हो जात है और उसके प्रति आत्म समर्पण की भावना उत्कट हो जाती है। इस आत्मसमर्पण की गहराइयों में अनन्य प्रेम की धारा प्रवाहित रहती है। दास्य भक्ति के अन्य आवश्यक उपकरण कबीर के विश्वास को और बढ़ा देते हैं जैसेः— 1. भगवान के अनन्त गुण 2. उसका अनुपम सौन्दर्य, उनकी उदारता एवं उनकी भक्त वत्सलता। इस प्रकार दास्य भक्ति के माध्यम से कबीर ने अपने प्रेम को ईश्वर के प्रति अभिव्यक्त किया है।

कबीर में योग और नाथ सम्प्रदायों से दाम्पत्य भाव के पूरक, कभी अप्रस्तुत के रुप में, कभी प्रस्तुत के रुप में काव्य में प्रविष्ट हुये थे। यद्यपि उन्हें शान्ता भक्ति और दास्य भक्ति गुरु परम्परा से पहले ही मिल चुकी थी। संसार के अनेक रहस्यवादी, कवियों ने आत्मा और परमान्मा के सम्बन्ध को दाम्पत्य भावना के रुप में ग्रहण किया है। भारतीय साधना पद्धति में यह दाम्पत्य भावना कभी रुपकत्व और कभी भाव शबलता की अभिव्यक्ति के लिये अपनायी गयी। वेद, उपनिषद और आगम तीनों ही विचारधाराओं में स्त्री पुरुष संयोग को रुपक अथवा प्रतीक के रुप में लिया गया है। वृहदारण्यक उपनिषद में कहा गया है कि जिस प्रकार कोई पुरुष अपनी प्रियतमा द्वारा आलिंगित होने पर सभी बाहरी व भीतरी बातों को एक दम भूल जाता हैं, उसी प्रकार जीवात्मा भी परमात्मा के साथ संयुक्त हो जाने पर सभी बाहरी व भीतरी ज्ञान को भुला देता है।

भक्ति कालीन हिन्दी साहित्य में सबसे अधिक लोकिप्रिय भावना दामपत्य प्रेम की ही है। क्योंकि प्रेम की चरम परिणति इसी संबंध में मानी गयी है। इस संबंध को मानने के अनेक कारण हो सकते है। पहला यह हैं कि–यह संबंध मानव का आदिम सम्बन्ध है। और उसका स्रोत मनुष्य की प्रबल मूलवृत्ति काम भावना से है। दूसरी बात यह है कि प्रेम के जितने रुप मिलते है उसमें सबसे अधिक तीव्रता व व्यापकता इसी सम्बन्ध द्वारा व्यक्त की जा सकती है।

कबीर की दामपत्य भावना कामशास्त्रीय व काव्यशास्त्रीय श्रृंगार निरुपण से प्रभावित नहीं है। उसका स्रोत लोक गीतों में प्राप्त वैवाहिक आचार स्रोत लोक गीतों में ही विशेष रुप से दिखता है। कबीर अपने को राम की बहुरिया ही मानते है। इस स्वकीया भाव का स्रोत भी सिद्ध नाथ परम्परा में दिखता है। भक्तिकालीन कवियों में विरह की व्यापकता संयोग से अधिक महत्व पूर्ण है। विरह में तड़पने के बाद ही आत्मा परमात्मा से मिल पाती है। इसलिये यहाँ पहले विरह की ही व्यापकता पर विचार किया गया है।

विरह–प्रेम :– संयोग की अपेक्षा विरह को महत्व देने का सबसे बड़ा कारण यह है कि यह भगवद् रति को उत्पन्न करके साधना को उत्कट बनाता हुआ साध्य की ओर ले जाता है। अर्थात् यह आत्मा को विरह में तपाकर क्लेश मुक्त करके परमात्मा से मिलाता है। क्योंकि जीव, ब्रह्म से अलग है यही विरह की अवस्था है।

कबीर कहते हैं कि सच्चा साधु वह है जिसके हृदय को विरह सर्प ने क्षत–विक्षत कर दिया है फिर भी वह पीछे नहीं हटता।[1] कबीर ने विरह को सुलतान बताया है और जिस हृदय में विरह संचरित नहीं है उसे श्मशान व्रत कहा है।[2] यह विरह भगवान से जीव का वियुक्त होना ही हैं चकवी रात को पति से वियुक्त होकर प्रभात में उससे मिल जाती है पर राम से वियुक्त जीव विरह में तड़पता रहता है। इस प्रकार जीव विरह के अग्नि पुंज में दग्ध रहता है। विरह का वेग जितना ही प्रबल

---

1. 'विरह भुवंगम पैसि करि, किया कलेजे घाव '। कवि ग्रन्थावलीपृ. 9,, दो. 19.
2. बिरहा–विरहा जनि कहौ, विरहा सुलितान
   जिस घटि बिरह न संचरै सौ घट सदामसान। कवि ग्रन्थावली दो – 91

होगा मिलन की उत्कंठा उतनी प्रबल होगी। इस विरह की ऐसी जलन है कि बाहर धुआ भी प्रकट नहीं होता। इस विरहाग्नि को प्रदीप्त करने का श्रेय गुरु को है।

गुरु के विरहाग्नि प्रज्वलित करने का अर्थ यह है कि जीव और ब्रह्म के रहस्यमय आदि सम्बन्ध का मार्मिक बोध गुरु के द्वारा ही होता है। इससे भ्रम में पड़ा हुआ जीव परमतत्व के वियोग की पीडा का अनुभव करने लगता है। अर्थात ईश्वर से किस तरह मिला जाय इसका ज्ञान हो जाता है। कबीर ने आध्यात्मिक विरह का महत्व ही नहीं उसका सुन्दर चित्र भी खींचा है। सबसे पहले विरहिणी की आँखे विरह का कमण्डल लेकर योगिनी ही बन गई हैं और हरि दर्शन की भिक्षा माँग रही है। इन विरागी नयनों को देखते ही बनता है।

विरह कमण्डल कर लिये, वैरागी दो नैन।
माँगै दरस मधूकरी छके रहे दिन–रैन ।।[1]

इन आँखों में आँसू भरे रहते हैं फिर भी जलते ही रहते है इन आँखों को प्रतिक्षण प्रिय की राह देखनी पड़ती है। और इस प्रकार ये कुछ मंद भी पड़ गयी हैं। पर प्रियतम नहीं आये –

अखंड़ियाँ झांई पड़ी पंथ निहारि–निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़्या राम पुकारि–पुकारि।।[2]

विरहिणी की आँखे प्रेम के कारण कड़ुवा रही हैं। दुनिया तो यह समझ रही है कि वह दुख रही है। वस्तुतः ये यह प्रिय के लिये रोती–रोती लाल हो गयी हैं। विरहिणी के आँखों का रोना तो उसका धर्म ही है क्योंकि ये प्रेम के आंसू ही विरहिणी को उसके प्रियतम से कभी न कभी मिला सकेंगे। यदि बिना रोये प्रियतम मिल जाता तो संसार में सभी सुहागिने होती।[3] विरहिणी के सामने चित्र भी बहुत सजीव है। विरहिणी का हृदय तड़प रहा है।

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ०–252
2. कबीर ग्रंथावली – दोहा 22, पृ०–91
3. हंसि–हंसि कंत न पाइये, जिनि पाया तिनि रोइ।
   जे हांसेरी हरि मिलै, तो नहीं दुहागनि कोई।। ह. प्र. द्विवेदी– कबीर वाणी, पृ०–9 दो 29.

तलफै बिन बालम मोर जिया,
दिन नहीं चैन रात नहिं निदिया,
तलफ–तलफ के भोर किया।
कहत कबीर सुनो भाई साधो
हरो पीर दुख जोर किया।[1]

कबीर ने विरहिणी के तड़प को कभी मीन के समान एवं कभी चातक के समान बताया है। विरहिणी के प्रीतम के विरह में अपने समस्त श्रृंगार उपकरण भार लगते है। पतिव्रता नारी होने के नाते विरहिणी का समस्त श्रृंगार प्रिय के लिये ही होता था अब किसकी प्रसन्नता के लिये श्रृंगार करे। इसके अतिरिक्त कभी–कभी रीतिकालीन नायिका की भाँति कबीर का विरहिणी को विरह ताप की शान्ति के लिये किये गये शीतल उपचार भी दाहक लगने लगते है।–

जरै सरीर यह तन कोई न बुझावै।
अनल दहै निस नींद न आवै।
चंदन घसि घसि अंग लगाऊँ
राम बिना दासन दुख पाउँ।[2]

इस प्रकार प्रेम और अध्यात्म दोनों प्रकार की अनुभूतियों की तीव्रता में कबीर की विरहिणी को हिन्दी साहित्य की विरहणियों में अनुपम स्थान दिला दिया है। जिस विरह को गुरु ने जागृत किया था वही विरह बढ़ता–बढ़ता उस स्थिति तक पहुंच गया जब विरह ही मिलन में परिणत हो जाता है। अब विरहिणी विरह की धनीभूत स्थिति में अपने प्रिय को अपने अंग–प्रत्यगों में अनुभव करने लगी। प्रियतम विदेश में नहीं उसके मन में ही बसा है। विरह की यही चरमावास्था है।––

प्रीतम को पतिया लिखूं, जो कहु होय विदेश,
तन में, मन में, नैन में वाकों कहा संदेश।

विरह की यह अवस्था ही लौकिक प्रेम को अलौकिक बना देती है। सूर की गोपियाँ भी अन्त में कृष्ण की लीलाओं का अनुकरण करके अपने को कृष्णमय देखने लगी थी। लौकिक और अलौकिक विरह का यही सूक्ष्म अन्तर है। शारीरिक संयोग

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी–परिशिष्ट कबीर वाणी (छठा संस्करण), पृ० – 250
2. ह. प्र. शि. कबीर–वाणी (परि0 2) पृ०–331

स्थूल है किन्तु विरह में मिलने वाला संयोग सूक्ष्म है। विरह के पश्चात् प्रिय समागम की उत्कट इच्छायें विराहिणी के आत्मा में बस गयी है। इस प्रकार उसका मन एक प्रकार के विवाह मिलन के लिये उत्सुक हो उठा। एक दिन विरहिणी जगी तो उसने अपनी सखी से अपने स्वप्न की बात कही–

सुनि सखि सपिनै की गति ऐसी, हरि आये हम पास
सोबत ही जगाइया, जागत भये उदास।[1]

मिलनेच्छा की पीड़ा इस स्वप्न से और बढ़ गयी अब एक क्षण भी उस अनन्त मिलन के बिना वह नहीं रह सकती।

इस प्रकार प्रेम साधना के अंत साध्य के समीप विरहिणी पहुची। निष्ठुर प्रियतम की निष्ठुरता विरहिणी की साधना की ज्वाला से द्रवीभूत हो गयी और उसने अपनी प्रियतमा बनाने के लिये विरहिणी का 'पाणिग्रहण' किया। अपने सानिध्य में युग–युग की प्यासी विरहिणी पर उन्होंने कृपा की– **'बाँह पकरि करि कृपा किन्ही आफ समीप लई'।** इसके पश्चात दिन प्रतिदिन प्रेम बढ़ने लगा, घटने का तो प्रश्न ही नहीं था। इस प्रकार विरहिणी सुहागिनी बनी। उसके अनुसार – सुहागिनी वही है जो अपने तन–मन और जीवन को समर्पित कर दे।[2] प्रियतम के बिना वह सूनी सेज पर जब वह सोती है तो वह सेज सिंह जैसी लगती है कि सोते ही खा जायेगी। इस कल्पना से सूर की "सांपिन भई सेजियां" वाली कल्पना स्मृति में आ जाती है। कबीर की विरहिणी अंत में प्रियतम का आकुल आवाहन करती है। समस्त लोक विरहिणी को राम की बहुरिया मानता है। पर जब तक प्रियतम से एकमेक नहीं हो जाती तब तक प्रियतम का श्रेय निरर्थक ही है। प्रियतम से मिलन ही पर्याप्त नहीं, उसके साथ विवाह भी सम्पन्न हुआ। 'विवाह' भी यहाँ एक प्रतीक है। हिन्दू धर्म के अनुसार वैवाहिक ग्रंथि में कभी विच्छेद नहीं होता। साथ इस ग्रथि में बंधने के पश्चात् विवाहिता स्वतंत्र नहीं अर्धांगिनी बन जाती है। इस प्रकार विवाह प्रियतम के अंगीभूत होने का एक आध्यात्मिक प्रतीक बन जाता है –

---

1. कवि ग्रन्थावली, पृ०–190 पद 302
2. तन–मन जीवन सौंपि सरीरा।
   ताहि सुहागिन कहै कबीरा। कवि ग्रन्थावली पृ०–113 पद 139.

दुलहिनी गावहु मंगलचार,
हम घरि आये हो राजाराम भरतार।[1]

यह विवाह सांग रुपक है जिनमें यदि रहस्यवादी संकेत निकाल दिये जाँय तो एक शुद्ध लोकगीत बच जायेगा। इसमें विवाह पूर्ण हो गया है।

कुछ ऐसे भी रुपक हैं जिनमें विवाह की समस्त तैयारियां हो चुकी है पर विवाह पूर्ण नहीं हुआ है क्योंकि बिना दुल्हा के विवाह नहीं हो सकता। यह अत्यन्त करुण स्थिति है। यद्यपि यह विरह को और उग्र बनाने वाला विवाह है। यहां विराहिणी अपने अनदेखे पति के नाम पर सती होकर परलोक में मिलने की भूमिका प्रस्तुत करती है।

संयोग प्रेम :– अब सेज पर चलना है। सेज तैयार है। सम्भवतः प्रियतम प्रतीक्षा भी कर रहा है। प्रिया ने मिलने के लिये समस्त श्रृंगार भी कर लिया है और प्रियतम के सम्बन्ध में उसका विश्वास भी दृढ़ है :–

किया श्रृंगार मिलन के तांई
काहे न मिल्यो राजा राम गुसांई
अब के बेर मिलन जो पांऊं,
कहै कबीर भौ जलि गहि आंऊ।[2]

यहाँ कबीर ने अभिसारिका नायिका का सजीव चित्र प्रस्तुत किया है। अभिसारिका की सेज यात्रा अनेक मानसिक उहा–पोहों से युक्त रहती है। पर प्रेम की अविरल वषो में पूर्ण नायिका पूर्ण स्नात हो चुकी है। प्रियतम के मिलन के बिना अब वह रह नहीं सकती इसलिये आरती सजाकर प्रिय–मिलन को चली है–

भींजै चुनरिया प्रेम रस बूंदन।
आरत साज के चली है सुहागिन प्रिय अपने को ढूंढन।[3]

---

1. कवि ग्रन्थावली परिशिष्ट पृ०–295
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीण वाणी (परि. 2), पद–117, पृष्ठ–125
3. हजारी प्रसाद द्विवेदी–कबीर परि0 2 (कबीर वाणी पृ० 254)

प्रियतम की अटारी ऊँची है। अभिसारिका सलज्ज है अंगों में कम्पन्न हैं। सावधानी से वह पैर आगे रखती है पर पैर ठहरते नहीं। अभिसारिका का इससे अधिक सुन्दर चित्र निर्गुण भक्ति साहित्य में तो नहीं मिल सकता :—

पिया मिलन की आस रहौं कबलौं खरी।
ऊंचे नहिं चढ़ि जाय मने लज्जा भरी।।
छोरो कुमति–विकार सुमति गहि लीजिये।
सतगुरु–शब्द सम्भारि चरन चित दिजिये।।
अन्तरपट दे खोल शब्द उर लाब री।
दिल–बिच दास कबीर मिलैं तोहि बावरी।।[1]

इसके पश्चात् रति–रीति में भोली अभिसारिका को सत्गुरु रुपी दूती मिलती है जो उसे रति रीति समझा देती है और तभी प्रिय से आलिंगन करने की शक्ति उसे प्राप्त होती है –

दूती सतगुरु मिले बीच में दीन हों भेद बताय
साहब कबीर पिया सो भेंटयौ शीतल कंठ लगाय।[2]

इस प्रकार रस की अभिलाषा से आन्दोलित रति– भीता अज्ञात यौवना नायिका की भाँति झिझकती कबीर की दुलहिन पिय की सेज की ओर बढ़ रही है। और एक ही शैया पिय्र के साथ स्थित है। अब मिलन सम्भव हुआ। प्रियतम के मन का निगूढ़ प्रेम भी प्रकट हो गया। सुहागिन धन्य हो गई। इस प्रकार आध्यात्मिक मिलन के आवागमन से मुक्ति मिली। सुहागिन सब कुछ देकर अपने प्रियतम पर एकाधिकार रखना चाहती है इसलिये उसे अपनी आंखों में बसा लेना चाहती है कि उससे अधिक सुरक्षित स्थान नहीं मिल सकता है।

सेज पर चढ़ने का निमंत्रण एवं प्रिय से मिलने की बात स्वयं मुक्ताभिसारिका नायिका ने की –

ये अखियाँ अलसानी, पिया हो सेज चलो।
धीरे पांव धरो पलंगा पर जागत ननद जिठानी।
कहत कबीर सुनो भाई साधो लोक–लाज विछलानी।।[3]

---

1. कबीर वचनावली हरिऔध द्वारा सम्पादित – का. ना. प्र. स. – 1916 पृ० 141–42
2. कबीर वचनावली (सं० हरिऔध) का. न. प्र. सभा – 136–37
3. कबीर वचनावली (सं. हरिऔध) क. ना. प्र. पृ० 166

इस प्रकार इस मिलन से महारस की प्राप्ति हुई। यही आध्यात्मिक प्रेम के पूर्ण परिपाक की स्थिति है। सिद्ध साधकों ने इस रस को महारस कहा था। यह महारस राम रस के समान है जिसके सहज कलाली (साकी) प्याली भर कर पिलाती है और जिसके पान से अद्‌भुत लोकोत्तर उन्मत्तता आ जाती है।

महारस से सिक्त परम प्रिय की नगरी का आकर्षण इतना बढ़ गया कि प्रियतमा को मैहर की बात भी नहीं सुहाती। वह सदैव उसी प्रेम नगर में रहना चाहती है जहाँ निरन्तर महारस अमृत झरता रहता है।[1]

मानव प्रेम :– तत्कालीन युग की व्याकुलता जैसे कबीर के व्यक्तित्व में भर गयी और कबीर ने एक सामान्य धरातल की खोज की जो पंडित और मौलवियों की अंध धर्म विधियों से परिचालित नहीं होता अपितु जहाँ प्रेम ही नियामक है, जहाँ मंदिर और मस्जिद मानव को विभाजित नहीं करते अपितु जहाँ प्रेम मंदिर में सभी सम्मिलित रुप से अर्चना कर सकते है। उस सामान्य धरातल की खोज में कबीर को प्रेम का ही क्षेत्र मिला यह प्रेम वर्गीय स्वार्थो से कलुषित नहीं था इस धरातल पर राजा–रंक, एक ऊँच–नीच पंडित मौलबी सब मिल सकते है। जहां अन्य सगुण भक्त कवियों ने भू–भार निवारण के लिये भगवान का करुण आहवान किया है वहाँ कबीर का मानव प्रेम एक अन्य प्रकार से व्यक्त हुआ हैं। कबीर उन तत्वों से कभी समझौता नहीं कर सके जो मानव के मुक्त विकास में बाधक थे।

यह कबीर का आध्यात्मोन्मुखी व्यक्तित्व समाजोन्मुखी होकर मानव प्रेम का संदेश सुनाने लगा। यह प्रेम केवल मनुष्य तक सीमित नहीं था वरन जीव मात्र तक विस्तृत हो गया था। कबीर का विश्वास था कि समस्त धर्मो का मूल तत्व प्रेम ही है। किन्तु कालान्तर में बाह्याचारों की जटिलताओं ने उस मूल प्रेम तत्व को आच्छादित कर लिया है और उन बाह्याचारों के नाम पर ईर्ष्या–द्वेष संबंध को जन्म दिया।

---

1. नहरवा हमे का नहिं भावै
   साई की नगरी परम अति सुन्दर, जहाँ कोई जाइ न आवै। कबीर साहित्य की शाब्दावली इलाहाबाद 1900 पृ०–72 तथा कबीर : डा0 द्विवेदी पृ० 199.

इस प्रकार कबीर वैयिक्तक रहस्य साधना से संयुक्त होते हुये उनकी प्रेम पुकार ने समाज के सभी दिशाओं को स्पर्श किया और प्रेम की पुकार में वह करुणा भरी कि उनके पश्चात आने वाले समस्त महापुरुषों का हृदय प्रेम की करुण पुकार से द्रवित हो गया।

कबीर की दार्शनिक चेतना :– कबीर के प्रेम में चिन्तन पक्ष को समझने के पश्चात् उनकी दार्शनिक चेतना पर विचार करना आवश्यक समझा गया है। कबीर ने 'सत' के स्वरुप का उद्घाटन अपने आध्यात्मिक अनुभव के आधार पर लिया है। वह उनकी स्वयं की अनुभूति थी जिसे प्रातिभ ज्ञान भी कहते हैं। यह ज्ञान तर्क एवं बुद्धि पर आधारित नहीं होता है। कबीर ने कभी तर्क एवं बुद्धि से किसी तात्विक वस्तु के स्वरुप को निर्धारित करने की चेष्टा नहीं है। इसलिये वे दार्शनिक न होकर एक साधक ही ठहरते हैं। पर इतना अवश्य है कि कबीर परमतत्व, जीवन, जगत, माया आदि के विषय में अपने विचार व्यक्त किये हैं। इस आधार पर उन्हें दार्शनिक की कोटि में रखा जा सकता है। क्योंकि जब वे ज्ञान की बातें करते हैं तो उनके विचार स्वयं ही दार्शनिक की श्रेणी में आ जाते हैं।

कबीर के दार्शनिक व्यक्तित्व के बारे में भिन्न–भिन्न विद्वानों ने भिन्न मत व्यक्त किये हैं। बाबू श्याम सुन्दर दास ने कबीर को 'अद्वैतवादी' माना है। डॉ० राम कुमार वर्मा के अनुसार "अद्वैतवाद और सूफी मत में ईश्वर की जो भावना है, वहीं उन्होंने अपने दर्शन में रखी है।" उनका ईश्वर सर्वोपरि है – संसार के कण–कण में विद्यमान होते हुये भी संसार से परे हैं।" परशुराम चतुर्वेदी ने स्वयं कबीर की पंक्तियों को उद्धृत करके यह प्रमाणित करना चाहा है कि कबीर के मत में जो तत्व प्रकाशित हुआ था, वह उनके स्वाधीन चिंतन का ही परिणाम था।[1] इस प्रकार कबीर के दार्शनिक व्यक्तित्व के विषय में निम्नलिखित मत व्यक्त किया जा सकता है। कबीर एकेश्वरवादी एवं अद्वैतवादी थे। वे नाथा योग से प्रभावित द्वैताद्वैतविलक्षण समत्ववादी थे। कबीर द्वारा प्रतिपादित परमतत्व निर्गुण–सगुण से परे अनिर्वचनीय है।

---

1. कबीर साहित्य की परख, पृ० – 89 (संवत 2011)

कबीर ने अपने निर्गुण राम के लिये जितने शब्दों का प्रयोग किया है उन शब्दों के पीछे सैकड़ों वर्षों से चले आ रहे धार्मिक के सहारे आध्यात्मिक अनुभूति को ठीक–ठीक व्यक्त करना संभव नहीं है। कबीर का निर्गुण राम (परमतत्व) सर्वनिरपेक्ष होते हुये भी 'एक' है। वे कभी–कभी भेद–दृष्टि वालों की जड़ता पर खीझ जाते हैं और कहते हैं – अरे भाई, क्यों व्यर्थ में बीच में भेद पैदा करते हो? तत्व दो कैसे हो सकता है। हिन्दू और मुसलमानों का कर्ता एक ही है। परमतत्व एक है, किन्तु वह सबमें व्याप्त है। जो परमात्मा सारी सृष्टि में समाया हुआ है। वहीं हमारे ह्रदय में भी विद्यमान है। कबीर पूरे विश्व के कण–कण में अपने परम तत्व का दर्शन करते हैं। इस प्रकार अपने एकेश्वरवादी प्रेम के माध्यम से कबीर तत्कालीन युग में व्याप्त सामाजिक भेद–भाव को समाप्त करने का प्रयास करते हुये दिखाई देते हैं।

कबीर अपने परमतत्व को निर्गुण, निराकार कहते हुये भी उसमें गुणों की स्थिति मानते हैं जैसे अन्य सभी भक्त अपने आराध्य में मानते हैं इनके निर्गुण राम कृपालु है, उन्हीं की कृपा से कबीर जरा–भरण से मुक्त हो सके हैं। कबीर परमतत्व के प्रति अपने प्रेम का निवेदन करते हुये कहते हैं कि हे प्रभु न तुम्हारे समान कोई दाता है न हमारे समान कोई पायी। यहाँ पर कबीर का दैन्य प्रेम दिखाई देता है। उन्होंने अपने राम के लिये 'भक्तवत्सल', तरनतारन' आदि विशेषणों का भी प्रयोग किया है।

जब कबीर परमतत्व को निर्गुण कहते हैं, तब उनका तात्पर्य यह होता है कि परम तत्व 'सत', 'रज', 'तम', से परे है। अर्थात् वह माया के गुणों से रहित है किन्तु उसमें वे सभी गुण है जो उसके भक्तों का उपास्य बना सकते हैं। जगत की सृष्टि करने में भगवान को किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह उनकी स्वयं रचना शक्ति ही उनका 'तेज' है।[1] कबीर के परमतत्व की एक और विशेषता यह है कि वह आकार रहित और अव्यक्त होते हुये भी अर्थात् हाथ, पैर, मुख, कान, जिह्वा आदि के न होने पर भी वह संसार की सारी संवेदनायें ग्रहण करने में समर्थ

---

1. भारतीय दर्शन – पं० बलदेव उपाध्याय पृ० – 555–56

है। वह बिना मुख के खाता है, बिना पैरों के चलता है और बिना जिह्वा के गुणगान करता है। अपने स्थान पर स्थिर रहते हुये भी दशों दिशाओं में गतिशील रहता है।[1]

परमतत्व के संबंध में कबीर की मान्यतायें उनके निजी चिंतन का परिणाम एवं उनके युग में व्याप्त आध्यात्मिक चेतना से प्रेरित थी। उनके युग में परम तत्व के स्वरुप के सम्बन्ध में होने वाले सारे वाद–विवाद, 'निर्गुण, 'संगुण' या 'द्वैत–अद्वैत' को लेकर ही चलते थे। परमतत्व को द्वैत–अद्वैत से परे निर्द्दिष्ट करने का अर्थ था सारे विवादों से ऊपर उठ जाना। यही कबीर का अभीष्ट था।[2] परमतत्व के बारे में कबीर ने जो तर्क दिया है। वह एक आस्तिक भक्त तर्क लगता है। उनके तर्कों के पीछे सारे द्वन्द्वों, विवादो, रुढ़ियों और संकीर्णताओं से ऊपर उठने की प्रवृत्ति कार्य कर रही है।

कबीर के जीव का स्वरुप शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन से प्रभावित है। आत्मा और ब्रह्म एक ही है। जब आत्मा उपाधि सम्पर्क के कारण अन्तःकारणावच्छिन्न होकर कर्म–फल का भोक्ता हो जाता है तो वह 'जीव' कहलाता है और जब वह उपाधि सम्पर्क रहित शुद्ध चैतन्य की स्थिति में होता है तब वह 'ब्रह्म' कहलाता है।

जीव माया–मोह के कारण अपने को ईश्वर से अलग समझने लगता है। यही उसका बंधन है। जब ज्ञान की प्राप्ति होती है तो यह बन्धन समाप्त हो जाता है एवं जीव ही अपने को ब्रह्म समझने लगता है। इस प्रकार जीवन और ब्रह्म की तात्विक एकता को स्वीकार करते हुये कबीर यह मानते हैं कि जीवन अपने शुद्ध चेतन रुप को भूलकर विषयों में अनुरक्त है। ऐसे जीवन को हद का जीवन कहते है। बेहद जीव वह है जो असीम तत्व में अनुरक्त रहता है। कबीर कहते हैं कि यदि ईश्वर मिल जाय तो यह ज्वाला समाप्त हो जायेगी। इसलिये जीव को जागृत होने की बात कहते हैं। जीव का ईश्वर से प्रेम तभी हो सकता है जब वह सांसारिक विषया सक्तियों से अपने मन को हटाकर ईश्वर की ओर उन्मुख करे। 'माया' जीव को ब्रह्म

---

1. कबीर ग्रंथावली, पद 7, पृ० – 238
2. रामचन्द तिवारी – कबीर मींमासा, पृ० 122

से मिलने में अवरोध उत्पन्न करती है। माया के कारण ही जीव बन्धन में पड़ता है। इसलिये कबीर ने माया से दूर रहने की चेतावनी दी है। शंकर के अनुसार – माया ईश्वर की अव्यक्त शक्ति है जो गुणत्रय से युक्त अविद्या रुपिणी है। इसकी दो शक्तियाँ है – आवरण और विक्षेप। आवरण के द्वारा वह वस्तु के वास्तविक स्वरुप को छिपा देती है एवं विक्षेप वस्तु से वह उसमें नवीन वस्तु का आरोप कर लेती है।

इस प्रकार माया के कारण ही जीव बन्धन में पड़ कर वास्तविक ज्ञान से विरत हो जाता है। शंकर से प्रभावित होकर कबीर ने जगत के मिथ्यात्व पर भी विचार किया है। इसे उन्होंने 'कागद की पुड़िया' कहा है एवं इसके स्वप्न के समान माना है। ऐसा कहकर कबीर संसार की नश्वरता, निस्सारता और दुःखमयता प्रमाणित करना चाहते है। उनकी जीवन दृष्टि निवृत्तिमूलक है। भारतीय जीवन दृष्टि मोक्ष को चरम लक्ष्य के रुप में स्वीकारती है। मोक्ष का अर्थ है – जीवन–मरण–चक्र से छुटकारा। तत्वज्ञान होने मनुष्य आसक्ति रहित होता है, उसकी कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती कर्म में प्रवृत्ति न होने से उसका फल भोगने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः जीव को जन्म–मरण चक्र से छुटकारा मिल जाता है और वह संसार से मुक्त होकर परमतत्व से एकाकार हो जाता है यही कबीर का लक्ष्य भी है। वो चाहते है कि जीव ईश्वर के प्रेम में इस प्रकार लीन हो जाय कि उनमें कोई द्वैत भाव ही न रह जाय। यही उनके प्रेम का मूल भाव हैं

इस प्रकार आध्यात्मिक जीवन का अंतिम एवं विकसित रुप है–सर्वव्यापकत्व से प्रेम, जिसमें आराधक अपने आराध्य से प्रेम करते–करते सृष्टि के कण–कण में उसका दर्शन करने लगता है। कबीर कहते हैं कि जब मेरा आराध्य मेरी आँखों में समा गया है तो मुझे ऐसा लगने लगा कि समस्त ब्रह्मांड में केवल वही रम रहा है। इसके अतिरिक्त विश्व में किसी अन्य की सत्ता नहीं है। ऐसे भक्त की वृत्ति सर्वस्व प्रेममय हो जाती है। उसे सब ओर प्रेम के ही दर्शन होते हैं। उसे सकल विश्व प्रेममय, आनन्दमय एवं कल्याणमय दिखाई पड़ता है।

जायसी :– हिन्दी के भक्ति साहित्य में निर्गुण भक्ति सम्प्रदाय की प्रेममार्गी शाखा का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इस्लाम के रहस्यवादी साधक सूफी नाम से प्रख्यात हैं।[1] 'सूफी' मुसलमान साधकों का वह दल है, जो परमात्मा को प्रियतमा के रूप में प्राप्त करने के लिये प्रेम साधना की पुष्टि करते हैं। सूफी साधक संसार में विरक्त, त्यागी एवं परमात्मा के प्रेम में तल्लीन रहने वाले हैं। उनके प्रेमाख्यानक काव्यों को सूफी काव्य कहा जाता है। सूफी काव्यों का प्रारम्भ अरब एवं फारस में हुआ। कालान्तर में सूफी परम्परा के मुसलमान कवियों ने जिन प्रेम–काव्यों का सृजन किया, वे ही हिन्दी के 'सूफी काव्य' के नाम से मशहूर हुए। इनमें जायसी का स्थान प्रमुख है।[2]

जायसी ने सूफी संत शेख मेहदी से दीक्षा ली। इनका सम्बन्ध निजामुद्दीन चिस्ती सम्प्रदाय से है। युग की दृष्टि से जायसी पर भक्ति एवं प्रेम के प्रभाव सघन होते चले गये। जायसी ने जिन प्रेमाख्यानों को उल्लेख पद्मावत में किया है उनसे प्रतीत होता है कि भक्ति, योग और प्रेम की परम्पराओं का प्रभाव जायसी के व्यक्तित्व पर था। योग नाथ तथा सिद्धों को उल्लेख पद्मावत में यत्र–तत्र विखरा है। ईश्वर निरूपण में वेदान्त के अद्वैतवाद का स्पष्ट रूप झलकता है। इस प्रकार जायसी को सूफी दर्शन प्राप्त हुआ और वह अनेक प्रभावों से युक्त था। संसार के प्रमुख दर्शनों का समावेश उसमें हो चुका था।

इन सभी तत्वों ने जायसी के प्रेम दर्शन और उसकी साधना पद्धति को प्रभावित किया। प्रेम मूलक रहस्यवाद और मूल सत्ता की सौन्दर्याभिव्यक्ति को वेदान्त के प्रतिविम्बवाद ने प्रभावित किया। सृष्टि रचना और संचलन में प्रेम का जो स्थान है, उसको स्पष्ट करने में भी सभी स्रोतों से प्रभाव ग्रहण किये गये हैं।

आत्मोपलब्धि के लिये मन को अनुशासित कर उसे सान्त से अनंत की ओर ले जाने का प्रयास ही साधना है। इस प्रयास में सफलता साधक के प्रयत्न, परमात्मा की कृपा एवं सद्गुरु के मार्ग दर्शन पर अवलम्बित है। गंतव्य एक होते

---

1. हिन्दी साहित्य कोश – प्रथम भाग – पृ. 936
2. हिन्दी साहित्य कोश – प्रथम भाग – पृष्ठ – 936

हुए भी प्रकृतिभेद के कारण अनेक मार्ग प्रचलित है जिन्हें स्थूलतः ज्ञान, भक्ति (भाव) एवं योग के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इनमें प्रत्येक साधना मार्ग का प्रथम सोपान है चित्तशुद्धि तथा अंतिम सोपान है–परमात्मा का साक्षात्कार। जायसी के अनुसार साधना वह है जो मानव को अल्प एवं नाशवान से पूर्ण एवं अविनाशी की ओर ले जाये। इनके लिये दृश्यमान जगत मिथ्या तो नहीं, अस्थिर नाशवान अवश्य है। वह कहते हैं कि इस संसार का क्या भरोसा। यहाँ जो अस्ति है वह नास्ति हो जाता है। यहाँ जो भी उदित हुआ वह अस्त हो गया। उनकी मान्यता है कि मानव सुख तो उसी दिन समाप्त हो गया जिस दिन उसका जन्म हुआ। वास्तविक सुख किसी को प्राप्त नहीं है। राजा–महाराजाओं को भी नहीं। लेकिन इच्छाभाव से जब विश्व के अल्प नाशवान सुख ही प्राप्त नहीं होते तो वह चिरन्तन सुख का आगार परम तत्व कैसे प्राप्त होगा। जायसी कहते हैं कि उनकी प्राप्ति के लिये कठोर तप आवश्यक है। प्रश्न है कि साक्षात्कार की स्थिति को कृपासाध्य मानते हैं या प्रयत्नसाध्य। कठोपनिषद में कहा गया है कि आत्मा जिसे स्वयं–वरण करता है, वही उसे पाता है किन्तु इसके साथ ही जायसी साधक को बार–बार साधना पथ की दुर्गमता एवं कष्टों का स्मरण दिलाते रहते हैं।

गुरू की कृपा से सिद्धि प्राप्ति की चर्चा करते हुए जायसी लिखते हैं कि–"गुरू भृंगी के समान और शिष्य पतिंगे के समान है। भृंगी वही है जो पतिंगे को प्रथम स्पर्श में ही नया जीवन दे दे। शिष्य पर गुरू ऐसी ही कृपा करता है। उसे नया जन्म और नया शरीर देता है। जो इस प्रकार मरकर जीता है वह शिष्य अमर जाता है। वह भ्रमर की भाँति कमल से मिलकर उसका मधुपान करता है। कीट भ्रमर के इस उदाहरण में भ्रमर कीट का ही रूपान्तर कर सकता है, अन्य किसी का नहीं। इस रुपान्तर में कीट की अपनी भी विशेषता है। उसका अपने आप में निष्चेष्ट होकर सतत भ्रमर के ध्यान में तल्लीन रहना उसके रुपान्तर का एक प्रमुख कारण है। आराध्य की कृपा को आकृष्ट करने के लिये साधक का प्रयत्न आवश्यक है। कृपापात्र बनने के लिये साधक में सजगता एवं साधनाजन्य क्षमता अपेक्षित है। रत्नसेन की साधना के प्रभाव से पद्मावती भी प्रेमवश हो गयी और बिना रत्नसेन को देखे ही वह विरह का अनुभव करने लगी। किन्तु जब वह प्रथम

बार महादेव के मठ में उसके सम्मुख पहुँचती है तो उसके सौन्दर्य को देखकर रत्नसेन अचेत हो जाता है। पद्मावती उसके वक्षस्थल पर चंदन से यह लिखकर लौट जाती है कि हे योगी तेरी साधना अभी भिक्षा लेने योग्य नहीं हुई। जब मै तेरे द्वार आयी, तू सो गया। इस प्रकार भला भिक्षा कैसे प्राप्त हो सकती है। वस्तुतः जायसी परमात्मा प्राप्ति को न सर्वथा प्रयत्नसाध्य मानते हैं और न केवल कृपासाध्य। जब वह चार बसेरे एवं सप्त सोपानों वाली साधना पर जोर देते हैं तब सूफी शब्दावली में वह सफर–उल शब्द (साधक की ईश्वर की ओर यात्रा) की ओर संकेत करते हैं।

जायसी की मान्यता है यद्यपि यह समस्त विश्व परमात्मा की अभिव्यक्ति है, तथापि उस सृष्टा ने मानव को सब प्राणियों के ऊपर स्थापित किया है। **"कीन्हेसि मानुस दिहेसि बड़ाई"**[1] मानव को उसने अनमोल रत्न दिये हैं। सांसारिक आकर्षणों के जाल में फँसकर मानव अपना नाशकर लेता है। लोभ अंहकार असावधानी के कारण जीव माया रूपी बहेलिये के जाल में फंस जाता है। सुख में व्यक्ति सोचता है कि धन जोड़ना ही एकमात्र कर्तव्य है। यही नहीं समझता कि मृत्यु अनिवार्य है। धन सम्पत्ति पाकर वह देने वाले परमात्मा को ही भूल जाता है।

साधना के विघ्न :– जायसी ने साधक के मार्ग को अवरूद्ध करने वाले पंचशत्रुओं की चर्चा बार–बार की है। इनके नाम हैं– काम, क्रोध, तृष्णा, मद, माया। इन्हें ही पांच चोर कहा गया है। सूफी साधना जिहाद का सोपान चित्त–शुद्धि का ही सोपान है। जायसी ने पद्मावत के सात समुद्र खण्ड में जिहाद की प्रक्रिया का सूक्ष्म वर्णन किया है। प्रियतम के देश की झलक पाने से पूर्व साधक अपने मनोविकारों से संघर्ष करते हुए किस प्रकार क्रमशः आगे बढ़ता है, षट समुद्र संतरण के बहाने जायसी ने इसी का वर्णन किया है।

क्षार समुद्र में पर्वताकार विशाल लहरें उठती है, जो आकाशों को स्पर्श करने लगती हैं। इन लहरों के थपेड़े खाकर जलयान डगमगाते हैं। कभी वे उनके नीचे

---

1. जाससी ग्रंन्थावली संपा० – राम चन्द्र शुक्ल, पद्मावत – स्तुति खण्ड – 3.1, पृष्ठ – 2

आ जाते हैं और कभी ऊपर पहुंच जाते हैं। जिसका ह्रदय सत्य से भरपूर है वही इस समुद्र को पार कर सकता है। ह्रदय में सत्य हो तो कायर भी सूर बन जाता है। सत्य ही जलयान को खेकर पार लगा सकता है। सत्य ही चारों ओर से रक्षा करता है।

क्षीर सागर के श्वेत मधुर जल में हीरे माणिक्य मोती तैरते रहते हैं, जिन्हें देखकर मानव का मन स्थिर नहीं रहता है। मानव द्रव्य और भोग की खोज में मार्ग भूलकर अपनी योग साधना की क्षति कर लेता है। बटोही के लिये द्रव्य शत्रु है। मार्ग में ठग, लुटेरे उसके पीछे लग जाते हैं। जायसी कहते हैं – जिन्होंने धन समेटा वे सब इस मार्ग में लुट गये।

सप्त समुद्रों में अन्य समुद्रों के वर्णन की भाँति कवि दधि समुद्र की लहरों का वर्णन नहीं करता और समुद्र के रूप में उसका अन्य प्रकार से चित्रण ही करता है। वह केवल इतना ही कहता है कि दधि समुद्र देखते ही मन दग्ध हो गया किन्तु प्रेम लुब्ध साधक दाह को सह लेता है। वह जीव धन्य है जो प्रेम में दग्ध हुआ हो वही दही से मँथकर घी निकाल लेता है।

उदधि समुद्र अपार था। उसमें आग की लपटें उठ रही थी जिससे धरती और आकाश सभी जल रहे थे जैसे आग पर चढ़ी कड़ाह में तेल खौलता है उसी प्रकार उदधि समुद्र का जल खौल रहा था। जायसी कहते हैं प्रेम के मलयगिरि से आने वाली पवन अग्नि ज्वालाओं से युक्त उस अपार समुद्र को विन्दुवत बना देती है। प्रियतम के विवाह की आग में जलने वाला व्यक्ति किसी अन्य आग की चिन्ता नहीं करता। वह उसे अपने वक्षस्थल पर झेलता है घबराकर पीठ नहीं दिखाता। तात्पर्य है कि दैहिक दैविक, भौतिक तापों की ज्वाला से समूचा विश्व जल रहा है, किन्तु जो साधक प्रियतम परमात्मा के लिये व्याकुल है यदि उसके ह्रदय में परम प्रियतम की विरह ज्वाला समाई हुई है, तो विश्व तापों एवं संतापों की आग उसे तुच्छ लगने लगती है।

सुरा–समुद्र का जल जो पी लेता है उसका सिर चकराने लगता है और मार्ग में पैर सीधे नहीं पड़ते। जो प्रेम–मदिरा का छक कर पान कर चुका है, वह सरलता से सुरा–समुद्र के पार हो जाता है। प्रेम मदमत्त (साधक) पर महुए की मदिरा का नशा नहीं चढ़ता।

प्रेम सुरा जोहि कै जिय माहाँ।
कत बैठे महुवा की छाहाँ।
गुरु के पास दारव रस चखा।
बैरि बबूर मारि मन कसा।

महुवा के छत्ते यहाँ सांसारिक विषय–वासना के प्रतीक है और बैर बबूल की मदिरा धन, सम्पत्ति, राज पद आदि के कारण उत्पन्न होने वाले अहंकार की द्योतक है। जिस प्रकार अधिक तेज मदिरा पीने के अभ्यासी व्यक्ति को सामान्य मदिरा प्रभावित नहीं कर पाती उसी प्रकार प्रेम मद से छके हुए साधक को धन सम्पत्ति और राज्यादि लेश मात्र भी विचलित नहीं कर पाते।

इस समुद्र की लहरें जब किलकिलाहट की ध्वनि करती हुई उठती हैं तो लगता है जैसे– आकाश चारों ओर से टूटकर गिर रहा हो। इसकी विशाल लहरें एक लाख योजना तक घूमती है। इस समुद्र को देखकर सब डर जाते हैं इसमें प्रवेश करते ही साधक का सत् डोल जाता है। इस समुद्र को देखकर सब डर जाते हैं इसमें प्रवेश करते ही साधक का सत् डोल जाता है। अनेक साधक जो गंतव्य स्थल तक पहुच नहीं पाते, उसका कारण इस समुद्र की भयंकरता ही है समुद्र के मध्य से जो मार्ग गया है उसमें जीवन और मृत्यु आशा और निराशा दोनों है जो गिरा वह रसातल में पहुँच गया और जो तर गया उसे स्वर्ग की प्राप्ति हुई। जायसी के अनुसार इसे प्राप्त करने के लिये गुरू कृपा आवश्यक है। जायसी के अनुसार–इसे प्राप्त करने के उपाय गुरू कृपा और गुण आवश्यक है।

ज्ञान से जायसी का तात्पर्य इस जगत का ज्ञान नहीं है क्योंकि जगत के सम्बन्ध में वह कहते हैं– 'छोड़हु झगड़ा यह जग झूठा'। ज्ञान से उनका तात्पर्य है– उस परमतत्व का ज्ञान जिससे हमारा और इस सृष्टि का निर्वाण हुआ है। और

अन्ततः जिसमें सब कुछ विलीन होने वाला है। उस परमतत्व का कोई रूप है न रंग है। सूर्य या चन्द्र के प्रकाश में उसे देखना संभव नहीं है। वह मन एवं वाणी से भी अगोचर है फिर उसे कैसे जाना जाय–

"जो यह खोज आप मह कीन्हा, तेइ आपुहि खोजा सब चिन्हा।"

ज्ञान मार्ग के साधकों से जायसी के मतभेद वहाँ दृष्टिगोचर होता है जहॉ प्रथम प्रकार के साधक विश्व को मिथ्या मानते हैं। और आत्मा का ही ब्रह्म समझते हैं। जायसी जगत को अस्थिर कहते हुए भी इसे मिथ्या नहीं मानते। यह परमात्मा की स्वयं को अभिव्यक्त करने की इच्छा का परिणाम है। जगत अंश है, परमात्मा अंशी। अंश का अंशी से अपने इस सम्बन्ध का ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। और उसके विरह की आग में अपनी और उसके बीच में रहने वाले आवरणों को जलाकर उसके साथ तादात्म्य की स्थिति में पहुंच ही साधना है।

कहै प्रेम कै बरनि कहानी। जो बूझ सो सिद्ध गियानी।

जायसी के अनुसार–साधक के लिये तब तक स्थूल एवं सूक्ष्म साधना क्रियायें आवश्यक जब तक कि सिद्धि की प्राप्ति न हो जाय। योग की कहानी कहने–सुनने मात्र से कोई लाभ नहीं। जब तक दधि का मंथन न किया जाय, घृत उपलब्ध नहीं हो सकता।

परमेश्वर के प्रति परानुरक्ति ही भक्ति है। प्रेम साधना के प्रायः पथिकों का यह मत है कि यह 'परानुरक्ति' सबको सुलभ नहीं होती। इसके लिये कठोर साधना आवश्यक होती है। सगुणोपासक भक्त जो अपनी समस्त लौकिक अलौकिक आकांक्षाओं के लिये भगवान पर निर्भर रहते है। अपने आराध्य से एक ही वर की याचना करते हैं। ज्ञान और प्रेम नित्य सिद्ध कहे गये है। इन्हें कहीं से प्राप्त नही करना होता। ये घट–घट में परमात्मा रूपी प्रकाश पुंज की किरण की भाँति अवस्थित रहते हैं। इनके ऊपर पड़े हुये मनोविकारों के आवरण को हटाना ही इन्हें प्राप्त करना है। जहाँ स्वसुख की कामना होती है वहाँ "काम" है और जहाँ स्वयं का सुख–दुख भूलकर केवल प्रियतम के सुख की कामना होती है वही सच्चा प्रेम है। प्रेमी की प्रियतम के प्रति सदा यही भावना रहती है कि–

जो तुम्ह चाहहु से करहु नहिं जानहु भलमंद
जो भावै सो हाइ मोहि तुम्हहि पैं चहों अनंद[1]

साधना के सभी मार्ग कठिन कहे गये हैं। उनमें प्रेम पंथ और भी कठिन है किन्तु अन्य मार्गों इसमें एक विशेषता हैं। जिस प्रकार मदिरा पान करने पर व्यक्ति को शारीरिक एवं मानसिक कष्टों का भान नहीं रहता उसी प्रकार प्रेम–मद का पान करने वाले साधक को भी साधना पंथ की कठिनाइयों एवं कष्ट उठने पीड़ित नहीं करते जिसने ज्ञान एवं कर्म मार्गियों को। प्रेमी को दैहिक, दैविक और भौतिक तापों की आग चन्दनवत शीतल प्रतीत होती है जो प्रेमविहीन है, वे ही उससे डर कर भागते हैं।

जैहिं जिय प्रेम चन्दन तेहि जागी। पेम बिहून किरहिं डरि भागी ।

किन्तु प्रेममद् की उपलब्धि स्वयं में एक बहुत कठिन कार्य है।

भय और अहंकार प्रेममार्गी साधक के सबसे बड़े शत्रु है। अहंकारी तो कभी परमात्मा का मित्र हो हीं नहीं सकता।

जायसी मूलतः प्रेम साधना के पथिक हैं। प्रेम उनके लिये कठोर साधना का मार्ग है जिस पर चलने के लिये कर्म योग नितांत आवश्यक है। जायसी ने इस्लामी स्थूल कर्मकाण्ड से लेकर भारतीय हठयोग की स्थूल एवं सूक्ष्म साधनाओं तक को अपना लिया है, किन्तु कर्म उनके लिये साधना मात्र है। साधक जब अपेक्षित स्थिति में पहुंच जाता है तो उसके लिये कुछ भी करणीय नहीं रह जाता। तब कर्म उसके लिये देह–धर्म मात्र रहता है, साधना की दृष्टि से उसका विशेष महत्व नहीं रह जाता। जायसी के अनुसार ज्ञान का तात्पर्य अपने आराध्य को जान लेने से है। उनके अनुसार ज्ञान और प्रेम दोनों सहदेशी' होते हैं। जो इसे जान लेता है उसका अपना कुछ नहीं रह जाता। उसका सब कुछ आराध्य का हो जाता है।

---

1. पद्मावत – 319:8,9

परमाराध्य का दर्शन एकांत में ही किया जा सकता है। जहाँ साधक का सांसारिक प्रपंच से परे होता है। जायसी जैसे रहस्यवादी ही नहीं तुलसी जैसे सगुणोपासक भक्त भी यही कहते हैं कि जब तक योग, मुक्ति, तप, मंत्र प्रभाव छिपाये नहीं जाते तब तक ये सफल नहीं होते।

जोग जुगुति तप मंत्र प्रभाऊ। फलइ तबहि जब करिय दुराऊ[1]

जायसी का यह दृढ़ मान्यता है कि प्रेम साधना के चार बसेरों और सप्त सौपानी वाले दुर्गम पथ पर वही सफलतापूर्वक अग्रसर हो सकता है जिसको गुरू का मार्ग दर्शन प्राप्त है। जिसका मार्ग दर्शक गुरू नहीं होता शैतान उसका मार्ग दर्शक बनकर उसे कुमार्ग की ओर घसीट ले जाता है। गुरू की कृपा अत्यन्त महत्वपूर्ण मानते हुये भी जायसी का कहना है कि साधक को स्वयं का अवसान आवश्यक है।

"आप मरे बिनु सरग न हुआ।"

उस परम तत्व की प्राप्ति के लिये साधक को अहंभाव का अन्त करके कठोर साधना में संलग्न होना पड़ता है। इस प्रकार गुरू का मार्ग दर्शन, कठोर साधना और प्रभु कृपा तीनों के संमन्वय से ही साधक की सफलता निहित है।

जायसी के अनुसार प्रेम :– जायसी के अनुसार प्रेम क्या है। जायसी प्रेम को केवल विरह मिलन का रूप ही नहीं मानते बल्कि कहते हैं कि प्रेम– एक साधना है जिनमें तन का क्रियाओं एवं मन की वृत्तियों की एकता आवश्यक है। यदि दोनों विपरीत दिशाओं में उन्मुख हो, तो यह प्रेम का एवं प्रेम साधका कच्चापन है। इसी बात की परीक्षा लेने के लिये पार्वती रत्नसेन के पास पहुँची थी।

"दहुँ यह बीच कि प्रेमहिं पूजा
तन–मन एक कि मारंग दूंजा।।[2]

---

1. राम चरित मानस, बालकाण्ड (168:4) दोहखण्ड
2. पद्मावत 209:2 दानबहादुर पाठक पृ0 429

रत्नसेन प्रियतम की प्राप्ति के लिये रो–रोकर हठपूर्वक प्राण त्यागने पर उतारू था। शिव ने उसे समझाया कि प्रियतम की प्राप्ति प्राणान्त करने से नहीं, अपितु प्राण–साधना द्वारा मन को वशीभूत करने से होती है।

प्रेम साधना के आदर्श दीपक की ज्वाला के ओठों से चूमने वाला पतिंगा, स्वाति बूंद की प्रतीक्षा में प्यासा रहने वाला पपीहा, मादा से विछुड़ने पर प्राण देने वाला चक्रवाक, चन्द्रमा पर दृष्टि केन्द्रित करने वाला चकोर और सूर्य को देखकर प्रफुल्लित होने तथा उसके विछुड़ने पर मुरझाने वाला कमल– जायसी के अनुसार ये प्रेम साधना के आदर्श हैं।

प्रेम अमरबेल प्रेम को अमरबेल की उपमा दी गयी है और कहा गया है कि जिस प्रकार अमरबेल किसी वृक्ष पर छा जाये तो वह सूख जाता है, उसी प्रकार प्रेम अपने आश्रय को शुष्क कर देता है। जायसी ने भी प्रेम को अमर बेल से ही उपमित किया है यथा :–

"प्रीति बेलि जनि अरूझें कोई। अरूझै मुयें न छुटै सोई।।
प्रीति बेलि केइं अम्मर बोई, दिन–दिन बाढ़ै, खीन न होई
प्रीति अकेली बेलि चढ़ि छावा, दोसरि बेलि न पसरै पावा।।[1]

प्रेम की अमर बेल जहाँ छा जाती है वहाँ दूसरी किसी बेल के लिये अवकाश नहीं रह जाता। जायसी का कहना है कि प्रेमी के हृदय में अन्य कोई भाव लता पनपने नहीं पाती। काम क्रोध और अंहकार मानव मन के अत्यन्त प्रबल भाव है किन्तु जहाँ प्रेम रहता है, वहाँ ये तीनों नहीं रह पाते।

प्रेम की भाषा प्रेम का स्वभाव सुगंध जैसा होता है। वह कभी छिपता नहीं हैं अपने प्रकटीकरण के लिये प्रेम को किसी प्रचार की आवश्यकता नहीं होती न ही वाणी की आवश्यकता होती। प्रेम की भाषा ही भिन्न है। जायसी के अनुसार–विरह–बेदना से पीला पड़ा हुआ शरीर और आँसुओं से डबडबाये नेत्र ही प्रेम की भाषा है।

---

1. पद्मावत 254 : 3

बदन पियर जल डभकहि नैना
परगट दुबौ प्रेम के बैना।।

प्रेमियों के पत्र भी नैनों की मसि, बरौनियों की लेखनी और सिसकियों की भाषा में लिखे जाते हैं। इसी तरह कबीर ने अपने प्रेम की भाषा का वर्णन किया है–

गद्‌गद् वानी कंठ में, आंसू टपके नैन।
वह तो विरहिन राम की, तलफति है दिन रैन।।[1]

भय और लज्जा दोनों की समाप्ति :–

प्रेमी के लिये भय और लज्जा दोनों समाप्त हो जाते है। उसे आग और पानी कुछ दिखाई नहीं पड़ता। "जिसके हृदय में प्रेम है, उसके लिये अग्नि चन्दनवत शीतल है, जो प्रेम विहीन होते हैं, वे ही डरकर भागते हैं। प्रियतमा के मार्ग में पड़ने वाले सात भंयकर समुद्रों की चर्चा सुनकर साधक रत्नसेन कहता है। जिसने प्रेम का समुद्र देख लिया है उसके लिये ये सातों समुद्र एक बिन्दुवत हैं। अपने प्रियतम को पाने के लिये प्रेमी इतना उतावला रहता है कि उसे इस बात का मान भी नहीं होता कि उसका मार्ग समुद्र के समान असीम और अगम मार्ग गंगा के समान सीमित एवं सरल। प्रेमी को तीन लोक और चौदह भुवनों में प्रेम के अतिरिक्त और कुछ भी आकर्षक नहीं जान पड़ता।

प्रेम और सौन्दर्य :– सौन्दर्य जीवात्मा में स्थित प्रेम को जागृत करके उसे अपनी ओर आकर्षित करता है। परमात्मा परम सुन्दर है और समस्त जगत दर्पण है, जिसमें उस परम सौन्दर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है। इस प्रकार समस्त जगत में जहाँ–जहाँ आकर्षण हों वहाँ–वहाँ उसी के सौन्दर्य की छाया है। सूफी परमात्मा के प्रतीक रूप में नारी का वर्णन करते हैं तथा उसके ससीभ सौन्दय में असीमता की झलक दिखला देते हैं। पद्‌मावती के निख–शिख वर्णन में ऐसे संकेत प्रायः सर्वत्र पाये जाते हैं। शशिमुखी पद्‌मावती के लिये सब पदार्थ दर्पण बन गये थे। वह जिसकी ओर देखती थी, उसी में अपने सौन्दर्य की परछाई डाल देती थी उसके

---

1. वियोगी हरि – प्रेमयोग पृ0:143

नेत्रों को जिसने देखा, कमल बन गये। उसकी शरीर की छाया से निर्मल जल निर्मित हुआ। इतना सब वर्णन करने के बाद भी हीरामन स्वीकार करता है कि उस पारस रूप का यथार्थ एवं पूर्ण चित्रण करने में वह असमर्थ रहा।

सौन्दर्य प्रेम का जनक है। पद्मावती का सौन्दर्य वर्णन सुनकर रत्नसेन प्रेम के आपार समुद्र में जा गिरा और लहर पे लहर आने से सुध–बुध खो बैठा। सूफी दर्शन में ईश्वर को सौन्दर्याधिष्ठान मानागया है। सृष्टि और प्रकृति का सौन्दर्य उसी परमतत्व की प्रतिछाया है। अल गजाली ने ईश्वर को सर्वोत्कृष्ट सौन्दर्य मानकर यह कहा है कि लौकिक और अलौकिक सौन्दर्य के प्रति आत्मा की नैसर्गिक अभिरूचि है। इस प्रकार प्रेम का आधार सौन्दर्य ही है सूफी ईश्वर के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उससे प्रेम करता है। सौन्दर्य संबंधी सूफी विचार एकांगी नहीं है जायसी ने प्रकृति के सरुम्य और प्रचण्ड दोनों रूपों का ही चित्रण पद्मावत में किया है। प्रचण्ड रूप में भी लक्ष्मी जैसी सौन्दर्य निधि का आविर्भाव हो सकता है।

सिद्धान्त रूप में कहा जा सकता है कि सूफी दर्शन में प्रेम का मूल कारण सौन्दर्य ही माना गया हैं सौन्दर्य प्रेमोदय और प्रेमीद्दीपन के लिये अपने को प्रकट करता है। इस प्रकार सौन्दर्य की मूल प्रवृत्ति अभिव्यक्ति हैं इसलिये ईश्वर अपने सौन्दर्य को प्रकट किये बिना नहीं रह सकता। सौन्दर्य की यह आध्यात्मिक महानता है कि वह प्रेम को जागृत करता है। सौन्दर्य की सृष्टि प्रिय दर्शन की लालसा उत्पन्न करती है। यह लालसा जब पूर्ण होती है तो आनन्द की प्राप्ति होती है। इस प्रकार साधना का आरम्भ सौन्दर्य से ही सूफी कवियों ने दिखाया है इसलिये नख–शिख का नियोजन एक अनिवार्य तत्व साधन गया है। पद्मावती नायिका भेद की दृष्टि से अधिकतम मानवीय सौन्दर्य से युक्त होती है। उसका दिव्य सौन्दर्य रूपगर्विता नागमती के सांसारिक सौन्दर्य पर विजयी होता है और चित्तौड़ के राजा में उत्कट प्रेम स्फुरित होकर उसे प्रेमयोगी बना देती है।

सौन्दर्य के श्रव्य रूप से ही रत्नसेन मूर्छित हो जाता है। प्राकृतिक सौन्दर्य का रूप भी कहीं–कहीं संकेत देता है। प्रतिपल परिवर्तित प्राकृतिक सौन्दर्य विश्व की अनित्यता का परिचय देता है। जायसी ने ऐसे सौन्दर्य का चित्रण भी किया है

जोा शाश्वत है जैसे–प्रसाद कृत कामायनी में श्रद्धा मनु को प्रकृति के ऐसे लोक में ले जाती है जहाँ ऋतुओं के स्तर तिरोहित हो जाते है। षट ऋतुओं में स्वभाव से फूलने वाली अमराइयाँ सिंहल के उपखण्ड में है। प्रकृति का यह रूप अनिर्वचनीय है। यह उस लोक का प्रतीक है जहाँ फना मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। उस अनिवर्चनीय सौन्दर्य की छाया को एक बार प्राप्त कर लेने पर संसार का माया संताप छूट जाता है।

प्रेम और परमात्मा :– जायसी ने ब्रह्मांड की अवस्थिति इस देह में मानी है। और कहा है कि रक्त मांस तथा पंचभूतों से युक्त इस देह में प्रेम का स्थान सबसे ऊपर है। परमात्मा का वर्णन करते हुये कवि लिखता है कि वह अलख, अरूप तथा वर्ण रहित है।

'अलख, अरूप अवरन सो करता'[1]

भारतीय परम्परा में प्रेम का रंग लाल माना गया है। कबीर अपने आराध्य को 'लाल' कहते हैं। उस प्रेम स्वरूप का साक्षात्कार जो करता है, वह भी प्रेममय (लाल) हो जाता है। जायसी ने 'रात' शब्द का प्रयोग लाल रंग, सौन्दर्य और प्रेम तीनों के लिये किया है। रत्नसेन के विरहाग्नि में जो लंगूर जल गये उनके संबंध में जायसी का कथन है कि वे लाल हो गये और जो निकल भागे, उनके मुंह काले पड़ गये। यहाँ लाल शब्द का प्रयोग रंग के लिया हुआ है। निम्नांकित पंक्ति में वह सौन्दर्यवाची हैं –

भलहि रंग तोहि आछरि राता।
मेहिं दोसंर सों भाव न बाता।।

यहाँ प्रेम विषयक दृढ़ विचार प्रकट होते हैं। रत्नसेन ने कहा है कि अप्सरा ठीक है तू रंग–रूपवती है परन्तु मुझे पदमिनी को छोड़कर किसी अन्य सुन्दरी से बात करना भी अच्छा नहीं लगता है। रत्नसेन और पद्मावती के विवाह के अवसर पर रत्नसेन के चारों ओर जायसी ने जो लाल रंग का वातावरण निर्मित किया है वह निरूद्देश्य नहीं है। चारों तरफ लालिमायुक्त वातावरण के निर्माण द्वारा कवि

---

1. पद्मावत–दान बहादुर पाठक, पृष्ठ–201

आराध्य के निकटतर पहुँचने वाले साधक के अन्तर्बाह्य प्रेम की अवस्थिति की ओर ही संकेत करना चाहता है।

जायसी ने आराधक के रूप में रत्नसेन की प्रेमभावना के रत्नसेन के प्रति रहने वाले प्रेम का वर्णन भी किया हैं। कहींकहीं पद्मावती के प्रेम और विरह की तड़पन रत्नसेन की अपेक्षा अग्रतर जान पड़ती है। रत्नसेन और पद्मावती के प्रेमाभक्ति के स्वरूप में जायसी ने कोई भेद नहीं रखा है। कहीं–कही पद्मावती के प्रेम को रत्नसेन के प्रेम की अधिक प्रगाढ़ चित्रित किया गया है। उसका यही तात्पर्य जान पड़ता है कि जीवात्मों में अवस्थित प्रेम परमाराध्य के प्रेम का अंश मात्र है।

सृष्टि का मूल कारण प्रेम :– सूफी कवियों के समान जायसी भी मानते हैं कि सृष्टि के मूल में प्रेम है। जायसी ने इस बात को अधिक स्पष्टता से लिखा है –

> **कीन्हेसि पुरुष एक निरभरा नाउँ मुहम्मद पूनिउँ करा।**
> **प्रथम ज्योति विधि तिहि कै साजी, औ तेहि प्रीति सिस्टि उपराजी।[1]**

(अर्थ–ईश्वर ने निर्मल पुरुष, मुहम्मद नाम की इस सृष्टि में अवतारणा की जो चन्द्रमा की कला जैसे उल्लवल थे। विधाता ने अपनी ज्योति का अंश उन्हीं में समाहित किया और उनके प्रेम से इस सृष्टि की रचना की।

प्रेम की परमावस्था वह हैं, जिसमें प्रेमी और प्रियतम एकरूप हो जाते हैं। सूफी प्रेम की विशेषता–वंदना और कसक है। हर्ष, उल्लास और आनन्द नहीं। निशकार के प्रति प्रेम का प्रारम्भ विरह जन्य कसक और वेदना से होना स्वाभाविक भी हैं लौकिक क्षेत्र में प्रेम प्रथम होता है। विरह की स्थिति मिलन के पश्चात आती है। किन्तु अलौकिक साधना क्षेत्र में मिलन अंतिम स्थिति है एवं विरह प्रारम्भिक। जायसी के अनुसार – गुरू शिष्य के हृदय में सर्वप्रथम विरह की चिन्गारी डालता है, शिष्य जिसे प्रज्वलित करके उसके प्रकाश में प्रियतम पथ पर बढ़ा चला जाता है। आचार्य शुक्ल ने पद्मावती का रूप वर्णन सुनकर मूर्छित होने तथा उसके विरह में योगी बनकर निकल पड़ने वाले रत्नसेन की इस स्थिति को अस्वाभाविक माना

---

1. पद्मावत –पद–11/1–2 पेज – 226 दान बहादुर पाठक

है। "राजा, रत्नसेन तोते के मुँह से पद्मावती का अलौकिक रूप वर्णन सुन जिस–जिस भाव की प्रेरणा से निकल पड़ता है वह पहले रूप–लोभ ही कहा जा सकता है। इस दृष्टि से देखने पर कवि जो उसके प्रयत्न को तप का रूवरूप देता हुआ आत्मत्याग और विरह – विह्लता का विस्तृत वर्णन करता है, वह एक नकल सा मालुत होता है।" किन्तु लौकिक श्रृंगार के पूर्वराग की और भक्ति की पूर्वराग की अवस्थायें एक सी दृष्टिगोचर होते हुये भी मूलतः भिन्न होती है। लौकिक श्रृंगार में प्रेम प्रथम अपनी आंखों देखता है। अपनी आंखों देखने और ब्रह्मसाक्षात्कार करने की स्थिति अंतिम होती है।

अतएव रत्नसेन की उक्त विरह दशा अस्वाभाविक नहीं कही जा सकती। जब तक प्रिय का नाम नहीं सुना, तभी तक धर्य बना रह सकता है। सुनने के पश्चात् जो घड़ी भर भी स्थिर नहीं रह सकता –

तब लगि धीर सुना नहिं पीऊ, सुनताहिं धरी रहै नहिं जीऊ।[1]

अलौकिक प्रेम–पथ के सभी पथिकों पर यह उक्ति धटित होती है। सद्गुरू के मुख से परमात्मा का नाम, गुण और रूप आदि की चर्चा सुनकर शिष्य को वैराग्य हो जाने तथा उसमें परमाराध्य को प्राप्त करने की व्याकुलता जागृत हो उठने के उदाहरण सन्त–साहित्य तथा सन्तों की जीवनी में भरे पड़े हैं सन्तों की साखियाँ भी इसका साक्ष्य देती हैं। यथा चरण दास –

सतगुरू शब्दो बना है, अंग–अंग डारै तोड़।
प्रेमखेत घायल गिरै, ताँका लगै न जोड़।।

रत्नसेन ने पद्मावती के रूप–गुण की चर्चा सुनती तब उसमें बिरह की तड़पन जागृत हुई। किन्तु पद्मावती ने तो रत्नसेन को न तो देखा या और न ही उसका नाम सुना था। फिर भी उसके मन में वियोग की अग्नि जागृत होने का क्या कारण हो सकता है। पद्मावती अपनी धाय से कहती है कि विरह की अग्नि यौवन और मन दोनों को जलाती है। इस प्रकार अज्ञात प्रियतम को संबोधित करते हुये वह कहती है– हे प्रियतमा यदि तुम मलयागिरि चन्दन बनकर शीघ्र नहीं आते तो

---

1. पद्मावत–पद–226–4

विरह के खौलते हुये कड़ाह में पड़े हुये प्राण पूर्णतः भस्मीभूत हो जायेगे। पद्मावती की इस विरह वेदना का कारण बतलाते हुये जायसी कहते हैं कि रत्नसेन के प्रेम योग के प्रभाव से पद्मावती प्रेमवश हो गयी थी और विरह का अनुभव करने लगी थी –

पद्मावती तेहि जोग संजोगा।
परी पेम वस गहैं वियोगा।।

जायसी की मान्यता है कि जबसे यह सृष्टि निर्मित हुई है, तबसे समस्त जड़–चेतना पदार्थ परमात्मा की वियोग अग्नि में जल रहे हैं। सूर्य विरहाग्नि में सतत धधकता रहता है। वह कभी आकाश में उठता है, कभी पाताल में जाता है। उस अपार विरहाग्नि के कारण ही वह स्थिर नहीं रह पाता।[1] ये वर्णन अत्युक्तिपूर्ण जान पड़ती है किन्तु जब हम इसे सूफी दर्शन के प्रकाश में देखते हैं, समाधान हो जाता है इब्नसीना के अनुसार – "प्रेम केवल मानव–जाति तक ही सीमित वस्तुओं में वह व्याप्त है। समस्त प्राणी, वनस्पति और खनिज पदार्थो तक में उसकी सत्ता दुष्टिगोचर होती है।"

जायसी ने अनेक स्थलों पर यह कहा है कि आराध्य हृदय में निकट है फिर भी मिलन, कठिन हो रहा है। कुछ ऐसा फेर पड़ गया है कि – वह प्राप्त होकर भी अप्राप्त हैं गीता और ईशोपनिषद में इस प्रकार का भाव दिखाई पड़ता है। "वह क्रियाशील और अक्रिय भी। वह दूर है और पास भी। वह सबके भीतर है और बाहर भी। अर्थात् वह प्राणियों के अन्तर्बाहय अवस्थित है, वह चर भी है अचर भी। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण उसे जाना नहीं जा सकता। वह हृदय में भीतर है और बाहर भी।" इस प्रकार जायसी के पद्मावत में विश्व का सर्वव्यापाक तत्व प्रेम प्रकट और प्राप्त हुआ लगता है। और प्रेम से अधिक ऊँची प्रवृति और उससे ऊँचा कोई राग और उससे ऊंचा कोई विराग लोक–लोकान्तर में दृष्टिगोचर नहीं होता। इसी आशय से बड़े–बड़े कवियों मनिषियों ने भी प्रेम को ही अन्ततः और अन्यतंम मूल्य प्रदान किया है। कालरिज ने कहा है–He prayetyh him best, who loveth fim

---

1. विरह की आगि सूर नहिं हिका । रति हुँ दिवस जरा औ धिका।
खिनाहिं सरग खिन जाइ पतारा । थिर न रहै तेहि आगि अपारा पद्मावत–180 : 4, 5

best.– अर्थात् ईश्वर की सच्ची प्रार्थना वहीं करता है जो उससे सच्चा प्रेम करता है। वैराग्य की मुक्ति से प्रेम के चिरबन्धन का आनन्द श्रेयस्कर है। इस प्रकार जायसी के "पद्मावत" रचने का उद्देश्य प्रेम की प्रतिष्ठा हैं पूजा है, परोक्षानुगमन है पद्मावत की प्रेमयोग आसक्तिजनक है। इसमें जीवन के तप संयम और संघर्ष की ऊंची अभिव्यंजना है। वैराग्य केवल आवरण है। पद्मावती के लिये रत्नसेन का सहज योगी बनना संघर्ष, तप, संयम आदि धारण करना और पद्मावती को पाना – यह राग के लिये विराग की स्वीकृति वाली दशा कही जायेगी और फिर नागमती के लिये रत्नसेन का पद्मावती के साथ चित्तौड़ लौट जाना इसके विपरीत की दूसरी दिशा है। विरागजम्यराग की स्वीकृति। इनके बीच प्रेम ही एक ध्रुवतारा है। इस प्रेम की उद्देश्य पूत्रि में जायसी जैसे प्रेममार्गी कवि का सारा बल लग गया है।

इस प्रकार जायसी को महान जीवन उद्देश्य की पूर्ति 'प्रेमभाव' में ही प्रतीत हुई है। प्रेम के रूपों में संयोग और वियोग महत्वपूर्ण है जिसके आधार पर पद्मावत का अध्ययन कर प्रेम का निरूपण किया गया है। जायसी के पद्मावत में प्रेम और दर्शन दोनों दृष्टियों से दाम्पत्य प्रेम ही मुख्य है। कथा संगतियों की योजना में वात्सल्य, संख्य और स्वामि भक्ति भी समाविष्ट हो गये हैं, लेकिन प्रेमगाथा के विधान में जायसी को इनका उभार अभीष्ट नहीं है और नहीं इनका उभार आवश्यक है। पद्मावत में प्रेम के दाम्पत्य भाव पर ही बल दिया गया है। दाम्पत्य भाव के माध्यम से ही जायसी ईश्वर तक पहुंचते हैं जायसी का प्रेम मार्ग ही उनका सिद्धान्त और जीवन दर्शन था।

'पद्मावत' की प्रेम पद्धति :– जायसी ने पद्मावत में जिस प्रेम–पद्धति का निरूपण किया है वह मूलतः सूफियों की प्रेम–मूलक साधना–पद्धति पर आधारित है। सूफी साधक प्रेम के माध्यम से ही परमात्मा का सानिध्य प्राप्त करता है। सन्तों के समान सूफियों का प्रेम भी निराकार ईश्वर के प्रति होता है इसलिये उसका वर्णन केवल प्रतीक रूप में ही सम्भव हो सकता है। सूफी साधक इस प्रेम का वर्णन किसी लौकिक वस्तु के प्रति प्रेम–प्रदर्शन करके ही किया करते हैं। उनका सह आदर्श प्रेम ईश्वर को नारी रूप में ही स्वीकार कर वर्णित होता है क्योंकि सूफियों का प्रेम उस

अलौकिक के प्रति होता है इसलिये लौकिक कथा के माध्यम द्वारा वर्णित किये जाने पर भी उसमें अलौकिकता आ जाती है। सूफी साधक का लौकिक प्रेम भी उसी आलैकिक की झलक देखता है। इस प्रकार रत्नसेन और पद्मावती की प्रणय कथा साधारण मानवीय–प्रेम कथा न होकर आत्मा और परमात्मा के प्रणय की कथा है। जीवात्मा रूप रत्नसेन ब्रहमरूप पद्मावती को प्राप्त करने के लिये जिन–जिन कष्टों का सामना करता है वे सब एक सूफी साधक के मार्ग की कठिनाइयाँ हैं। सिद्धि को प्राप्त करने हेतु इन सभी विषय –स्थलों से प्रत्येक सूफी साधक को गुजरना पड़ता है। सूफी साधना में जगत और प्रकृति का बहिष्कार नहीं हुआ है वरन् उसके कण–कण में ब्रह्मके अपरिमित सौन्दर्य का दर्शन किया गया है। जीवन और जगत का सौन्दर्य उस परमब्रह्मका सौन्दर्य है। तात्पर्य यह है कि लौकिक सौन्दर्य के माध्यम से ही पारलौकिक सौन्दर्य का उद्घाटन समस्त सूफी साधकों और कवियों का अभिप्रेत रहा है।

जायसी प्रेम को इतना महत्व देते हैं कि उनके अनुसार–जिस व्यक्ति ने इस संसार में आकर प्रेम ऐसे सरल साधन द्वारा अपने लक्ष्य–ईश्वर की प्राप्ति नहीं की उसका जन्म लेना ही व्यर्थ रहा। दूसरी तरफ वह प्रेम को दुलर्भ भी मानते हैं। वो कहते हैं–"करब पिरीत कठिन है काजा" जायसी ऐसे कठिन प्रेम–मार्ग पर चलकर ही उस परम प्रेममय तक पहुँचने का मार्ग बताते है और इस मार्ग को लौकिक प्रेम द्वारा ही चित्रित किया है। सारांश यह है कि प्रेम चाहे किसी भी व्यक्ति के प्रति क्यों न हो वह केवल उसी परम के प्रति प्रेम का प्रतीक होता है। इसलिये किसी के भी प्रति प्रेम केवल उसी परम प्रेममय के प्रति प्रेम होता है। जायसी ने पद्मावत में प्रेम के इसी रूप का चित्रण किया है। यही कारण है कि कहीं पद्मावती उस परम प्रेममय की प्रतीक बन जाती है और रत्नसेन साधक बन उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता है तथा कहीं रत्नसेन उस परम प्रेममय का प्रतीक बन जाता है और पद्मावती उसके लिये व्याकुल होने लगती है और अन्त में उसी के साथ सती हो जाती है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पद्मावत में जायसी की दृष्टि में न तो पदमावती ब्रह्मकी प्रतीक है और न रत्नसेन साधक। जायसी स्थान–स्थान पर सर्वत्र प्रेमस्पद को ही उस परमप्रेममय ब्रह्म का प्रतीक बनाते चले गये हैं। नागमती के लिये रत्नसेन ब्रह्म के समान सर्वव्यापी है। और रत्नसेन के लिये पद्मावती तथा चलकर पद्मावती के लिये रत्नसेन ब्रह्म का प्रतीक बन जाता है। अर्थात् जायसी ने सर्वत्र प्रेमास्पद को ही अलौकिकता प्रदान की है। पद्मावत की रचना में जायसी का मूल उद्देश्य प्रेम की महत्ता का ही चित्रण करना था। उन्होंने इस महत्ता का चित्रण एक लौकिक प्रेम कथा के माध्यम द्वारा किया है। और ऐसा करते समय उन्होंने प्राचीन कथानक रूढ़ियों का प्रचुरता के साथ प्रयोग कर अपनी इस कथा को पूर्णता प्रदान की है इसलिये हमें प्रेम पद्धति का विवेचन करने से पूर्व जायसी द्वारा प्रयुक्त प्रेम–कथा के विधानों का परिचय प्राप्त कर लेना उपयुक्त होगा।

प्रेम–कथा के विधान प्राचीन प्रेमाख्यानक काव्यों में प्रेमकथा के अनेक विधानों के दर्शन होते हैं। अधिकांश प्रेमकथाओं में पात्रों के हृदय में प्रेम का अंकुर उत्पन्न करने का कार्य प्रायः पक्षियों द्वारा किया जाता रहा है। नल–दमयन्ती की कथा में यह कार्य एक राजहंस ने किया था। परन्तु साधरणतः तोता ही इस कार्य को करता रहा है। पृथ्वीराज रासों में भी तोंता इस कार्य को करता है। जायसी ने भी हीरामन तोते को अपना माध्यम बनाया है।

प्रेम कथाओं में दूसरा विधान होता है–प्रेमी–प्रेमिका का एकान्त मिलन। कहीं यह मिलन आकष्मिक होता है और कही सकारण। तुलसी ने जनक की पुष्प वाटिका में राम और सीता का आकष्मिक प्रथम मिलन दिखाया है परन्तु जायसी ने सकारण और पूर्व निश्चित योजनानुसार शिव–मण्डल में रत्नसेन और पद्मावती को प्रथम–मिलन दिखाया है। प्रचलित कहानियों में नायिका के दर्शन कर नायक का बेहोश हो जाना, नायिका द्वारा उसके वक्ष पर चन्दन द्वारा अपना संदेश लिखना आदि का चित्रण होता आया है। जायसी ने भी पद्मावत में इसी पद्धति का निर्वाह किया है।

अधिकांश भारतीय प्रेम–कथाओं में नायक के प्रेम की परीक्षा लेने का भी विधान–प्रचलित रहा है। तुलसी ने भी पार्वती द्वारा राम के सीता के प्रति प्रेम की परीक्षा लिये जाने का वर्णन किया है। जायसी ने दो स्थल पर रत्नसेन के पद्मावती के प्रति प्रेम की परीक्षा लिये जाने का विधान किया है। पहले पार्वती द्वारा तथा पुनः लक्ष्मी द्वारा प्रेम की परीक्षा ली गयी है। प्रेम–कथाओं में शिव–पार्वती का आना एक प्रसिद्ध रूढ़ि सी रही है। पार्वती के आग्रह पर महादेव हमेशा निराश–प्रेमी–प्रेमिकाओं का सम्मिलन कराते रहे हैं। जायसी ने भी इस रूढ़ि का पालन किया है। महादेव पहले रत्नसेन को सिद्धि गुटिका देते हैं और फिर देवताओं सहित रत्नसेन की सहायता कर पद्मावती से उसका विवाह निश्चित करवा देते है। इन प्राचीन कथाओं में प्रेम को अधिक उन्नत दिखानें के लिये विवाह या मिलन के उपरान्त प्रेमी–प्रेमिका को नियुक्त करवा कर पुनः उन्हें मिला देने का विधान रहा है नल–दमयन्ती के साथ ऐसा ही हुआ था। जायसी ने भी समुद्र यात्रा में संकट उत्पन्न करवा पहले नायक–नायिका का विछोह करवाया है और फिर लक्ष्मी द्वारा उनका पुनर्मिलन हाना चित्रित किया है। डॉ० जयदेव के अनुसार इस प्रकार की प्रेम–कथाओं में तीन और आवश्यक विधान थे। स्त्री भेद वर्णन, नख–शिख वर्णन, वारहमासा वर्णन, जायसी ने इन तीनों विधानों का भी पूर्ण उपयोग किया है।

उपयुर्क्त विधानों के उपयोग के अतिरिक्त जायसी ने प्रेम–कथाओं में साधारणतः प्रचलित शब्दावली का भी उपयोग किया है। 'इन्द्र अखाड़ा' महादेव का आसन हरना आदि शब्दों एवं घटनाओं का पूर्ण उपयोग किया है। जैसे :–

छुद्र घंटिका मोहहि राजा, 'इन्द्र अखाड़' आइ जनु बाजा।
जोगिहिं जबहिं गाढ़ अस परा। महादेव कर आसन टरा।।

प्रेम कथाओं में नायक सबका प्रीति भाजन बना रहता है। उसे संकट में देख सब दुखी हो उठते हैं। जायसी ने रत्नसेन को सूली दिये जाने की तैयारियों के समय सार उपस्थित जन समूह को व्यथित होता हुआ दिखाया है।

मागहिं सब विधिना सौ रोई। कै उपकार छूड़ावै कोई ।।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जायसी ने अपनी इस प्रेम–कथा में अन्य पूववर्ती एवं समकालीन प्रचलित प्रेमकथाओं में प्रयुक्त हुये सम्पूर्ण विधानों को अपनाकर पद्भावत का निर्माण किया है। अतः पद्मावत को उस दृष्टि से सफल प्रेम कहानी माना जा सकता है।

शुक्ल जी ने पद्मावत की प्रेम पद्धति का निरूपण करने से पूर्व भारतीय साहित्य में प्रचलित चार प्रमुख प्रेम–प्रणालियों का परिचय दिया है जो इस प्रकार हैं।

1. रामायण आदि महाकाव्यों का वह प्रेम जिसका स्फुरण विवाह के उपरान्त तथा उत्कर्ष जीवन की विकट परिस्थितियों में होता हैं यह उभय पक्ष में सम होते हुये भी नायक पक्ष में कर्तव्य बुद्धि प्रधान रहने के कारण संयत रहता है। इसमें विलासिता को स्थान नहीं मिलता है।

2. यह विवाह से पूर्व होता है। नायक–नायिका एक दूसरे को देख मोहित हो जाते हैं और फिर उनमें प्रेम की वृद्धि होती है। इसका अंत विवाह में होता है। प्रयत्न नायक की ओर से अधिक किया जाता है, अभिज्ञान शाकुन्तल का प्रेम ऐसा ही है।

3. यह राजाओं के अन्तःपुर का प्रेम होता है जिसमें सपत्नियों के द्वेष, विदूषक आदि के हास–परिहास और राजाओं की स्त्रैणता का वर्णन अधिक होता है नायक बाहर न जाकर घर में ही लुकता–छिपता रहता है। रत्नावली, कर्पूर मंजरी आदि नाटिकाओं में इसी प्रकार के प्रेम का प्रदर्शन किया गया है।

4. यह प्रेम गुण, चित्र–दर्शन, स्वप्न–दर्शन आदि से घर बैठे –बिठाये हो जाता है। उषा–अनिद्ध का प्रेम इसी प्रकार का है।

पद्मावत में जायसी द्वारा वर्णित प्रेम चौथे प्रकार का है परन्तु इसमें भारतीय पद्धति से भिन्न नायक का प्रयत्न दिखाया गया है। केवल अंत में जाकर पद्मिनी के विरह का वर्णन कर उसमें भारतीयता का पुट दे दिया गया है।[1]

फारसी काव्य में सदैव नायक को ही प्रयत्नशील दिखाया जाता रहा है। जायसी द्वारा प्रदर्शित प्रेम की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें शारीरिक प्रेम–मन का उल्लास ओर वेदना–को प्रधान दिखाया गया है।

जायसी ने फारसी और भारतीय प्रेम का एक और रूप में भी मिश्रण किया है। फारसी का प्रेम संसार से अलग, कर्तव्य, साहस दृढ़ता आदि से रहित होने के कारण अव्यवहारिक होता है। जब कि भारतीय प्रेम में संघर्ष पराक्रम, ज्ञान विजय आदि सभी कुछ दिखाकर उसे व्यवहारिक बना दिया जाता है। शुक्ल जी इसी को लोक–पक्ष कहते हैं। जायसी ने प्रधानता तो फारसी प्रेम की ही रखी है परन्तु बीच–बीच में वे राजा के योगी होते समय माता तथा पत्नी का विलाप, पद्मावती–नागमती का झगड़ा आदि प्रसंगों द्वारा उसे लोक–पक्ष से मिलाते चले गये हैं। परन्तु इतने पर भी शुक्ल जी पद्मावत को श्रृंगार रस प्रधान काव्य ही मानते हैं क्योंकि इसमें मानस के समान मनुष्य जीवन की भिन्न–भिन्न बहुत सी परिस्थितियों और संबंधों की योजना नहीं की गयी है। शुक्ल जी की दृष्टि में रत्नसेन का पूर्वराग नल के पूर्व राग के समान स्वाभाविक न होकर अस्वाभाविक ही है। क्योंकि हंस के मुख से दमयन्ती का सौन्दर्य वर्णन सुन नल की जो दारूण दशा होती है वह इतनी नहीं खटकती जितनी कि तोते के मुंह से पद्मावती के रूप–वर्णन को सुन रत्नसेन के मूर्छित हो जाने वाली दशा खटकती है इसका कारण यह है कि नल और दमयन्ती तो एक दूसरे के विषय में बहुत दिनों से सुनते चले आये थे जिससे उनका पूर्वराग "मंजिष्ठाराग" को पहुंच चुका था। परन्तु रत्नसेन के साथ यह बात नहीं थी। शुक्ल जी का कहना है कि जब तक पूर्वराग कालान्तर में प्रेम के रूप में परिणत नहीं हो जाता तब तक वह चित्त की कोई

---

1. जायसी ग्रंथावली–संपादक आचार्य शुक्ल (ना०प्र०सं०) पृष्ठ –27

गंभीर वृत्ति नहीं बन सकता। किसी के रूप–गुण की प्रसंशा सुनकर उसे प्राप्त करने की इच्छा प्रेम न कही जाकर लोभ ही कहलायेगी।

प्रेम में पहले, दूसरे के हृदय को स्पर्श करने का प्रयत्न किया जाता है, तदुपरान्त शरीर का। रत्नसेन के प्रेम को उस समय तो प्रेम माना जा सकता है जब वह शिव–मंडप में पद्मावती के प्रथम दर्शन कर मुर्छित हो जाता है और इसकी पूर्णता तब दिखाई देती है जब पार्वती अप्सरा का रूप धारण कर उसके प्रेम की परीक्षा लेती है। "अतः रूप–वर्णन सुनते ही रत्नसेन के प्रेम का जो प्रबल और अदम्य रूप दिखाया गया है वह प्रकृतिक व्यवहार की दृष्टि से उपयुक्त नहीं दिखाई पड़ता।"[1] रत्नसेन और अलाउद्दीन दोनों ही दूसरे के मुख से पद्मावती के रूप–वर्णन को सुनकर उसे प्राप्त करने के लिये व्याकुल हो उठते हैं इसलिये दोनों का प्रेम एक ही होना चाहिये।परन्तु दोनों की क्रियाओं में अन्तर है। अलाउद्दीन के इस आर्कषण में दो कमियाँ है –

(1) एक तो यह कि पद्मावती दूसरे की विवाहिता है। दूसरे अलाउद्दीन उसे प्राप्त करने के लिये जो उग्र प्रयत्न करता है उसमें स्वयं कष्ट उठाने की भावना न होकर अभियान की भावना प्रधान है।

शुक्ल जी रत्नसेन के प्रेम की अस्वाभाविकता का कारण लौकिक प्रेम और आध्यामित्क प्रेम के मिश्रण किये जाने को ही मानते हैं। जिस प्रकार शिष्य गुरू–मुख से ईश्वर का आभास पाकर प्रेम मग्न हो जाता है वही दशा रत्नसेन की होती हैं रत्नसेन के सिंहल पहुंचने पर कवि ने पद्मावती की जिस व्याकुल –दशा का वर्णन किया है वह भी आध्यात्मिकता के ही कारण है। नागमती के गार्हस्थ्य परिपुष्ट प्रेम का भी अत्यन्त मनोहर चित्रण हुआ है। पद्मावती प्रेमिका है परन्तु नागमती पति–परायण हिन्दू पत्नी है। पहले वह रूप–गर्विता के रूप में सामने आती है और बाद में बिरहिणी बन जाती है। जायसी के भावुक हृदय ने स्वकीया पवित्र प्रेम के सौन्दर्य को पहचान कर उसे उचित महत्व दिया है। जायसी ने पद्मावत में

---

1. सपा0 आचार्य शुक्ल–जायसी ग्रंथावली ना0 प्र0 सभा0

मूलतः दाम्पत्य प्रेम का ही उत्कर्ष दिखाया गया है। दाम्पत्य प्रेम के क्षेत्र में नागमती और पद्मावती दोनों खरी उतरती हैं परन्तु रत्नसेन जब सती साध्वी नागमती को त्यागकर पद्मावती के लिये योगी बन चल देता है तो रत्नसेन के दाम्पत्य प्रेम में एकनिष्ठता नहीं दिखाई पड़ती । यद्यपि पद्मावती के प्रति उसका प्रेम पूर्णतः एकनिष्ठ रहता है।

प्रेम में पद्मावती की इस दृढ़ निष्ठा में रत्नसेन निर्द्वन्द्व हो आनन्द में मग्न हो जाता है, उसके हृदय से सूली का भय भाग जाता हैं। प्रेम के प्रभाव से प्रेमी की वेदना मानो उसके हृदय के साथ–साथ प्रिय के पास चली जाती है। अतः जब विरह प्रेम चरम–सीमा को पहुंच जाता है तब प्रेमी तो दुख की अनुभूति से परे हो जाता है और उसकी सारी वेदना प्रिय के मत्थे जा पड़ती है संवेदना का यही उत्कर्ष तुल्य प्रेम है। रत्नसेन इसी प्रेम के बल पर अलाउद्दीन जैसे अनाचारी, नृशंस, शक्तिशाली बादशाह का सामना करता है, देवपाल को बांधकर मार डालता है एंव स्वंय मर जाता है एवं पद्मावती तथा नागमती स्थिर शांत मन से उसके साथ सती हो जाती हैं। इस प्रकार 'पद्मावती' की इस अमर प्रेम कथा का शांत रस में पर्यावसन हो जाता है प्रेमियों का प्रेम अंत तक शाश्वत रहता है। ऐसा अमर प्रेम ही जायसी का काम्य है। जायसी का यह प्रेम मार्ग ऊपर से देखने पर तो सरल सा प्रतीत होता है परनतु इसे आसानी से नहीं प्राप्त किया जा सकता इसके लिये अनेक साधनों की आवश्यकता पड़ती है। गुरू इसका मूल मंत्र–दाता है। जायसी प्रेम के अमर चितेरे हैं। उन्होंने संयोग और वियोग का विस्तृत वर्णन किया है। प्रेमाभिव्यक्ति के रूवरूप का विवेचन संयोग और वियोग के परिप्रेक्ष्य में किया गया है।

संयोग प्रेम :– शृंगार के दो रूप माने गये है– लौकिक और अलौकिक शृंगार। जब भक्त के हृदय में ईश्वर के प्रति प्रेम भावना उत्पन्न होती है तो इस कारण जो भगवद् विषयक प्रेम या रति भाव उत्पन्न होता है वह अलौकिक शृंगार कहलाता है। यह अध्यात्मिक प्रेम की अभिव्यक्ति में भी लौकिक दाम्पत्य की भावना पूर्ण रूप से विद्यमान रही है। कबीर, जायसी आदि सन्त कवियों के ईश्वर के प्रति अपने प्रेम को

लौकिक सम्बन्धों पर आधारित दाम्पत्य भाव के आधार पर अभिव्यक्त किया है। यहाँ जायसी के संयोग श्रृंगार का वर्णन 'पद्मावत' के आधार पर किया गया है 'पद्मावत' संयोग श्रृंगार के दो आलम्बन हैं–रत्नसेन–नागमती, रत्नसेन–पद्मावती।

इनमें जायसी ने रत्नसेन – नागमती के संयोगावस्था का कम चित्रण किया है और रत्नसेन पद्मावती का अधिक रत्नसेन–नागमती की संयोगावस्था का केवल एक पूर्ण चित्र उस समय मिलता है जब रत्नसेन सिंहल से लौटकर चित्तौड़ आता है नागमती को जब प्रिय के आगमन का समाचार मिलता है तो हृदय शीतलता से भर जाता है।

नागमती कहँ अगम जनावा। गई तपनि वर्षा जनु आवा।।

नागमती आनन्द से भर गयी एवं सोलह श्रृंगार कर पति का स्वागत किया। रत्नसेन भी सारे दिन दान देता रहा और रात होने पर नागमती के पासा आया।

सब दिन राजा दान दिआवा।
भइ निसि नागमती पहँ आवा।।

परन्तु नागमती के हृदय में मान की भावना जागृत हो उठी। क्योकि नागमती पति विरह में दग्ध हो रही थी इसलिये अब वह पति से मान कर रही है। उसने बहुत दुख उठाये हैं। वह पति से कहती है –

तूँ जोगी होइगा बैरागी। हौं जरि छार भयहुँ तोहि लागी।

यदि नागमती पति से मान न करती तो उसे नारी नहीं माना जा सकता था। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नागमती का अपने पति से इस तरह का व्यवहार नितान्त स्वाभाविक और सुन्दर हैं। नागमती नारी है इसलिये उसमें सौतिया–डाह है रत्नसेन पद्मावती को अपने साथ ले आया है इसलिये वह कहती है –

काह हँसौ तुम मोसो, कियउ और सो नेह।
तुम्ह मुँख चमकै बीजुरी, मोहि मुख बरसत मेह।।

रत्नसेन चतुर नायक हैं। वह नागमती के मान को समझता है इसलिये वह नागमती के सम्मान में वृद्धि करता हुआ बड़े कौशल के साथ परिस्थिति को सँभालने का प्रयत्न करता है। वह कहता है कि पद्मावती भले ही गोरी हो परन्तु मुझे तो अपनी साँवली सलोनी तूँ ही अच्छी लगती है। इस पर नागमती प्रणय–विह्वल हो उठती है–

नागमती हँसि पूछी बाता
कहहु कंत ओहि देस लुभानें कसि धनि मिलि भोग कस माने।।

इसके उपरान्त नागमती पुरुष की भ्रमर–वृत्ति पर चोट करती है। वह अपनी और पद्मावती की तुलना करती है और साथ ही रत्नसेन की दुर्बलता पर चोट भी करती जाती है।

इसके उपरान्त –

कहिं दुःख–कथा जो रैनि–विहानी ।
भयउ भोर जहँ पद्मिनी रानी।।

बस कुछ पदों में कवि रत्नसेन–नागमती के सुखद संयोग का वर्णन समाप्त कर देता है। जो अपनी संक्षिप्तता में भी अत्यन्त सम्यक् और मार्मिक है। जायसी ने रत्नसेन पद्मावती का चित्रण कई खण्डों में किया है–बसन्तखण्ड, पद्ावती रत्नसेन–विवाह–खण्ड, पद्मावती–रत्नसेन भेट खण्ट, षटऋतु वर्णन खण्ड, लक्ष्मी–समुद्र खण्ड, चित्तौड़ आगमन खण्ड तथा पद्मावती–मिलन खण्ड। बसन्त के मादक वातावरण में कवि रत्नसेन और पद्मावती का प्रथम मिलन करवाता है। इस मिलन से रत्नसेन का पूर्वराग और दृढ़ हो जाता है। तथा पद्मावती भी उसे हीरामन के वर्णन के अनुरूप पाकर उस पर मुग्ध हो जाती है। और उधर जोगी रत्नसेन ने भी पद्मावती की पहली झलक देखी। रत्नसेन पद्मावती की सुन्दरता देख मुर्छित हो गया इस पर उसको देख पद्मावती झुंझला उठी और उसके हृदय पर कुछ भर्त्सना के वाक्य लिख दिये कि "घड़ी आने पर तूं सो गया।"

पद्मावती रत्नसेन के मूर्छित हो जाने पर उसके प्रति कोई सहानुभूति नहीं दिखाती। इस प्रथम मिलन में रत्नसेन अधिक संतप्त होता है। अतः यहाँ शृंगार एक

पक्ष में अरोपित है। इसलिये इसे मार्मिक नहीं माना जा सकता। यद्यपि इससे पूर्व पद्मावती रत्नसेन को सूली दिये जाने का समाचार सुन उसके पास संदेश भिजवा चुकी है। 'जियै तो जियों मरो एक साया।' पद्मावती के ह्रदय में रत्नसेन के प्रति धीरे–धीरे–प्रेम प्रगाढ़ होता जाता है। आगे चलकर रत्नसेन–पद्मावती भेट खण्ड में कवि इन्हीं प्रेम विह्हल प्रेमी–प्रमिका का संयोग दिखाता है। जायसी इसके लिये पहले उपयुक्त वातावरण बनाते हैं। महल के ऊपर सातवाँ खण्ड है जहॉ चित्रसारी में विलास की सम्पूर्ण सामग्री प्रस्तुत है। ऐसे अवसर के उपयुक्त पहले कवि ने कुछ विनोद का विधान किया है। कवि इस अवसर को और अधिक उत्तेजक रूप प्रदान करता है। मिलन से पूर्व ही सखियाँ पद्मावती को छिपा देती हैं। रत्नसेन विरह–व्याकुल हो उठता है। सखियाँ उससे हास–परिहास करती है। राजा पद्मावती से मिलने को आतुर होता है। पर इस विधान में जायसी को सफलता नहीं मिली है। इस प्रकार कुछ बाधक प्रसंगों के होते हुये भी वर्णन अत्यन्त रसपूर्ण है। पद्मावती जिस समय श्रृंगार करके राजा के पास जाती है उस समय का मनोहर चित्र देखिये :–

साजन लेइ पठावा, आयसु जाइ न मेट।
तन, मन, जोबन साजि कै, दइ चली लै भेंट।।

इस दोहे में तन,मन और यौवन तीनों का अलग–अलग उल्लेख बहुत ही सुन्दर है। मन का सजाना क्या है? समागम की उत्कंठा या अभिलाष। बिना इस मन की तैयारी के तन की सब तैयारी व्यर्थ हो जाती है। संयोग वर्णन में जायसी पहले तो सहसा सौन्दर्य के साक्षात्कार से ह्रदय के उस आनन्दसम्मोहन का वर्णन करते हैं जो मूर्छा की दशा तक पहुंचा हुआ जान पड़ता है फिर राजा अपने दुख की कहानी और प्रेम मार्ग में अपने ऊपर पड़े हुये संकट का वर्णन करके प्रेम मार्ग की उस सामान्य प्रवृत्ति का परिचय देता है जिसके अनुसार प्रेमी अपने प्रियतम के ह्रदय में अपने ऊपर दया तथा करूण का भाव जागृत करने का बराबर प्रयत्न किया करता है।

शुक्ल कहते हैं कि इसी प्रवृत्ति की उत्कर्ष व्यंजना के लिये फारसी या उर्दू शायरी में मुर्दे अपना हाल सुनाया करते हैं। सबसे बड़ा दुख होने के कारण

मरण–दशा के प्रति सबसे अधिक दया या करूणा का उद्रेक स्वाभाविक है। शत्रु तक का मरण सुनकर सहानुभूति का एकाध शब्द मुँह से निकल ही जाता है। प्रिय के मुख से सहानुभूति के वचन का मूल्य प्रेमियों के निकट बहुत अधिक होता है। इसके उपरान्त नायक–नायिका के बीच कुछ वाक्चातुर्य और परिहास भी भारतीय प्रेमप्रवृत्ति का एक मनोहर अंग है। जायसी ने यहाँ संभोग का वर्णन किया है ये पंक्तियाँ निश्चित रूप से अश्लील हो गयी है:–

भयउ जूझ जस रावन रामां। सेज विधंसि विरह संग्रामा।।
लीन्ह लंक कंचन – गढ़ टूटा। कीन्ह शृंगार अहा सब लूटा।।
औ जोवन मैमत विधंसा । विचला विरह जीउ सो नासा ।।
टूटे अंग–अंग सब भेसा। छूंटी माँग, भंग भये केसा ।।
कंचुकि चूरि–चूरि भई तानी । टूटे हार मोति छहरानी।।

लेकिन इसके बाद जायसी अपने वर्णन में रहस्य का पुट दे कामानन्द को ब्रहमानन्द सहोदर का सा रूप दे देते हैं। रत्नसेन पद्मावती से कहता है –

सुनु धनि ! प्रेम–सुरा के पिये। मरन–जियन डर रहै न हिये।

पद्मावती पति के साथ एकाकार हो चुकी है वह सखियों से अंत में कहती है–

करि सिंगार तापहँ का जाऊं। ओही देखहुँ ठाबहिं ठाऊँ।।

प्रेम रस का पूर्ण परिपाक हो जाता है। दोनों प्रेमी–प्रेमिका तन–मन से एकाकार हो जाते है। पद्मावती कहती है –

आज मरम मै जानिउँ। जस पियारे पिउ और न कोई ।

शुक्ल जी को इस संयोग वर्णन में एक कमी पाते हैं। इसमें 'हावों' का विधान नहीं हुआ है–"हावों की सम्यक् व्यंजना न होने से जायसी के संयोग पक्ष में वैसी सजीवता नहीं दिखाई देती।" इस संयोग वर्णन की एक विशेषता और है कि इसमें शारीरिक भोग–विलास के बीच प्रेम का भावात्मक स्वरूप ही अधिक प्रस्फुटित हुआ है। शुक्ल जी ने संयोग वर्णन का विश्लेषण करते हुये प्रश्न उठाया है कि जायसी ने तुलसी और सूर के समान संयोग का चित्रण सम प्रेम के द्वारा न कर विषम प्रेम द्वारा प्रारम्भ किया है। उन्हीं के शब्दों में "दूसरा उत्तर यह है कि–जायसी को इस प्रेम को लेकर भगवत्पक्ष में भी घटाना था। ईश्वर के प्रति प्रेम का उदय

पहले भक्त के हृदय में होता है। ज्यों–ज्यों यह प्रेम बढ़ता जाता है, त्यों–त्यों भगवान की कृपा दृष्टि भी होती जाती है, यहाँ तक पूर्ण प्रेम दशा को प्राप्त भक्त भगवान को भी प्रिय हो जात है। प्रेमी होकर प्रिय होने की यह पद्धति भक्ति की है। भक्ति की साधना का क्रम यही है कि–भगवान हमें प्रिय लगे, पीछे अपने प्रेम के प्रभाव से हम भगवान को प्रिय लगने लगेगें।"

जायसी ने आगे चलकर पुनः 'षटऋतु वर्णन खंड' में संयोग शृंगार का चित्रण किया है। इसमें कवि विभिन्न ऋतुओं का नायक–नायिका पर प्रभाव दिखलाता है। 'लक्ष्मी–समुद्र खण्ड' में जायसी पुनः संयोग शृंगार का वर्णन करते हैं। समुद्र में भटक जाने के उपरान्त रत्नसेन और पद्मावती का पुनः मिलन होता है। इनका यह मिलन पूर्णतः भावात्मक एवं मानसिक है। दोनों एक दूसरे से इस प्रकार मिलते हैं कि मानो प्यासे को शीतल जल मिल गया है। संयोग का एक संक्षिप्त सा चित्र उस समय आता है जब रत्नसेन चित्तौड़ लौटने पर रातभर नागमती के पास रह प्रभात होने पर पद्मावती के पास पहुँचता है। वह रोकर रत्नसेन से उसकी निर्ममता की शिकायत करती है। यहाँ पद्मावती का दीन रूप ही अधिक उभर कर सामने आता है। लेकिन रत्नसेन उसे मना लेता है।

रत्नसेन–पद्मावती संयोग का अंतिम चित्र वहाँ आता है जब रत्नसेन दिल्ली से छूटकर चित्तौड़ आ जाता है। फिर दोनों का मिलन होता है। जायसी ने इस मिलन का अप्रतिम चित्र अंकित किया है। जिसमें सात्विक प्रेम अपने निर्मलतम रूप में उद्भासित हो उठा है।

धनि पूजे पिउ पाँय दुइ, पिउ पूजा धनि माथ।

पद्मावती पति के ऊपर अपना सर्वस्व न्यौछावर करने की बात करती है। संकट से मुक्त हुये पति के प्रति पत्नी के हृदय में अथाह प्रेम का कितना निर्मल स्रोत प्रवाहित हो रहा है।

"रोइ बुझाइअ आपन हियरा। कंतन दूर अहै सुठि नियरा।।

पद्मावती की यह उक्ति उसके अथाह प्रेम की ज्वलन्त प्रतीक बन जाती है। इस अथाह प्रेम जनित अद्वैत की स्थिति के कारण ही रत्नसेन की मृत्यु होने पर पद्मावती विलाप नहीं करती प्रत्युत शान्त मन से श्रृंगार कर उसके साथ सती हो जाती है। यदि जायसी गहन–प्रेम के इतने मार्मिक चित्र अंकित न करते तो वह पद्मावत की समाप्ति इस निर्वेदपूर्ण वातावरण में करने में असमर्थ रहते। संयोग के ये विभिन्न मार्मिक चित्र ही पाठक को मानसिक रूप से इस दुखद परन्तु सौम्य शान्त अंत की असीम शान्ति का रसास्वादन कराने में समर्थ होते हैं। प्रेम जब अपने अनन्त शिखर पर पहुँच जाता है तब प्रेमी अनन्त विछोह के समय भी विचलित नहीं होता। और संयोग ही प्रेम को सर्वोच्च शिखर तक ले जाने वाला प्रमुख साधन है। पद्मावत का अंतिम अंश इसका प्रमाण है। रत्नसेन की मृत्यु हो जाती है क्षणिक वियोग के अवसर पर भयंकर विलाप करने वाली नागमती और पद्मावती इस चरम वियोग के अवसर पर विलाप नहीं करती। दोनों प्रशान्त धर्य के साथ श्रृंगार कर पति के साथ सहगमन को प्रस्तुत हो जाती है। इस अनन्त विछोह के उपरानत होने वाले अनन्त संयोग की कल्पना उन्हें व्याकुल होने से बचा लेती है।

अनन्त मिलन की कल्पना ही चिता की अग्नि को शीतल बना देती है। जायसी की प्रेम–विभोर मादक कल्पना ही ऐसे अनन्त–मिलन की कल्पना करने में समर्थ हो सकी है। यह अनन्त मिलन शान्त वातावरण में सम्पन्न होता है।

विरह प्रेम :– सूफी साधना के अन्तर्गत प्रेमाभिव्यक्ति का पूर्ण विकास जायसी कृत 'पद्मावत' में हुआ है। सूफियों के प्रेम की मुख्य विशेषता है कि उसमें प्रेम की बड़ी कसक एवं पीर होती है। उन्होंने प्रेम–पीर को वेदना का पर्याय नहीं माना है, परन्तु उसे ईश्वर का वरदान मान लिया है। सूफियों के अनुसार प्रेम की वेदना सुखात्मक है। सूफी मत के अनुसार खुदा से पृथक होते रूह (आत्मा) हमेशा विरह में तड़पने लगती है। और विरह ज्वाला में जलती है। विरह प्रेम की पुष्टि करता है और शुद्धि भी क्योंकि विरह ही प्रेम का सार तत्व है। प्रेम के अंकुरित होते ही विरह की विह्वलता प्रत्यक्ष होती है। प्रिय का संयोग जब तक नहीं होता तब तक प्रिया विरह

की आग में जलती है। विरह की आग मन की समस्त कामजन्य कलुषताओं को जला कर प्रेम–भावना को परिभाषित करती है।

जायसी का विरह वर्णन हिन्दी साहित्य में ही नहीं बल्कि संसार के सभी साहित्यों में अद्वितीय माना जाता है। शुक्ल जी का कथन है कि "जायसी की अक्षय कीर्ति का आधार है – पद्मावत जिसके पढ़ने से यह प्रकट हो जाता है कि जायसी का हृदय कैसा कोमल और प्रेम की पीर से भरा हुआ था।" यद्यपि नागमती का विरह वर्णन ही प्रसिद्ध है फिर भी जायसी ने रत्नसेन, नागमती और पद्मावती तीनों का ही विरह वर्णन किया है। जायसी ने वियोग वर्णन को दो आलम्बनों के सहारे चित्रित किया है। 1. नागमती–रत्नसेन, 2. पद्मावती–रत्नसेन।

नागमती रत्नसेन में केवल नागमती ही विरह व्यथित दिखाई गयी है, जबकि पद्मावती रत्नसेन में पद्मावती और रत्नसेन दोनों को ही अनेक बार विरह व्याकुल चित्रित किया गया है।

जायसी सम्पूर्ण प्रकृति को मनुष्य के सुख दुख से प्रभावित दिखाते हैं। मनुष्य द्वारा पालित पेड़ पौधे भी मनुष्य के दुख से दुखी और उसके सुख से सुखी होते हैं। रत्नसेन के चित्तौड़ से लौटते ही मुरझाई हुई फुलवारी पुनः हरी–भरी हो उठती है। समष्टि रूप से पद्माक्त में वियोग शृंगार ही प्रधान माना जा सकता है। उसके प्रदर्शन में जायसी ने भारतीय–पद्धति का अनुसरण किया है। यद्धपि उस पर फारसी काव्य परम्परा का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। उसमें इस प्रभाव के कारण वीभत्स वर्णन कही–कहीं आ गये हैं कृषता, ताप, वेदना आदि के सुन्दर चित्रण अधिक हुये हैं। इस विरह वेदना में निर्मल और कोमल स्वरूप, हिन्दू दाम्पत्य–जीवन का मर्म स्पर्शी माधुर्य, चतुर्दिक व्याप्त प्रकृति और व्यापारों के साथ हृदय की साहचर्य–भावना तथा प्रसंगानुकूल स्वच्छन्द भाषा का प्रवाह है। प्राकृतिक वस्तुओं के संश्लिष्ट विशद् चित्रण के साथ–साथ सादृश्य और वैषम्य के चित्रों के द्वारा प्रस्तुत और अप्रस्तुत का सुन्दर सामंजस्य सम्पूर्ण स्थलों पर मिलता है। जैसे :–

बरसै मघा झकोरि–झिकोरी।
मोर दुई नैन चूवैं जस ओरी।।

शुक्ल जी के अनुसार—यह सादृश्य भावना जायसी की कोई मौलिक उद्‌भावना नहीं है, कविगण परम्परा से इसका प्रयोग करते चले आये हैं। सूरदास का—"निसि दिन बरसत नैन हमारे" पद अत्यन्त प्रसिद्ध है। ऐसा सादृश्य कथन बहुत स्वाभाविक होता है क्योंकि उसमें ऊहा कल्पित न होकर सामने प्रस्तुत रहता है। जायसी ने प्रकृति के माध्यम से हृदय के वेग की व्यंजना स्वाभाविक रूप से करते हुये भाव को अत्यन्त उत्कर्ष दशा में पहुंचा दिया है।

कवि 'अभिलाष' नामक मानसिक वृत्ति का वर्णन कर रहा है।

राति दिवस बस यह जिउ मोरे। लागौं निहोर कंत अब तोरे
यह तन जारौं छार के, कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरे जहाँ पाव ।।

जायसी के विरह विशेषताओं का परिचय देने के पश्चात अण नागमती के विरह—वर्णन पर प्रकाश डाला गया है।

नागमती का विरह :— वस्तुतः जायसी ने नागमती के रूप में एक आदर्श भारतीय हिन्दू नारी को चित्रित किया है, जो अपने पति के वियोग के कारण उत्पन्न मानसिक एवं शारीरिक वेदना को अभिव्यक्त करती है। कवि लोग प्रेम की गहराई का अन्दाजा लगाने के लिये विरह का आधार लिया करते है। अतः नागमती का विरह सारी प्रकृति पर प्रभाव डालता दृष्टिगोचर होता है। नागमति का प्रेम दाम्पत्य रति से उत्पन्न होता है और आनन्दपूर्ण कौटुम्बिक जीवन में पुष्ट होकर अग्रसर होता है। जब इस दाम्पत्य प्रेम की मधुरता में व्यवधान आ जाता हैं, तब विरह की उत्पत्ति होती है। विरह की आग में तपकर प्रेम उज्जवल हो जाता है। नागमती का पति रत्नसेन अपनी यौवनयुक्ता पत्नी को राजमहल में अकेले छोड़कर परदेश चला गया है, जिससे नागमती को प्रवास विरह की अनुभूति हुई। नागमती का विरह—वर्णन तो पद्‌मावत के नागमती वियोग खण्ड, नागमती संदेश खण्ड, चित्तौड़ आगमन खण्ड, पद्‌मावत नागमती विलाप खण्ड और पद्‌मावती—नागमती सती खण्ड में दर्शित है। नागमती वियोग खण्ड एवं नागमती संदेशखण्ड ही सबसे प्रधान है, जिनमें जायसी की विरह—भावना की सम्यक् अभिव्यंजना हुई है।

नागमती का पति रत्नसेन सिंहलद्वीप की राजकुमारी पद्मावती के प्रेम में जोगी बन उसे प्राप्त करने के लिये चित्तौड़ त्याग, चला गया है, यह कार्य (हरकत) उस तोते का था। नागमती रात–दिन चित्तौड़ को आने वाले मार्ग पर टकटकी लगाये बैठे रहती है –

नागमती चितउर पथ हेरा। पीउ जो गये पुनि कीन्ह न फेरा।
सुआ काल होई लेइगा पीऊ। पिउ नहिं जात, जात बरू ।।

उसके मन में बार–बार यह शंका उठती है कि सारस की जोड़ी को किस व्याध ने मार डाला ।

सारस जोरी कौन हरि, मारि वियाधा लीन्ह।
झुरि–झुरि हौं पिंजर भई, विरह काल मोंहि दीन्ह ।।

पति वियोग के कारण सारा संसार उसे भयावह प्रतीत होने लगता है। सारी प्रकृति का सम्पूर्ण सौन्दर्य उसकी विरह–वेदना को अधिक उद्दीप्त करने लगता है–

पिउ वियोग अस बाउर जीऊ। पपिहा नित बोलै पिउ–पिऊ।।
अधिक काम दाधै सो रामा। हरि लेइ सुआ गएउ पिउ नामा।।
प्रान पयान होत को राखा । को सुनाव प्रीतम कै भाखा।।

उसकी इस दशा को देख सखियाँ उसे समझाती है–

पुनि बसंत ऋतु आव नवेली। सो रस मधुकर सो बेली।

परन्तु सखियों की यह सान्त्वना निस्सार प्रतीत होती है क्योंकि एक–एक कर वर्ष के महीने बीतते चले जाते है परन्तु उसका प्रियतम लौटकर नहीं आता। नागमती विवश है। वह एक–एक कर प्रत्येक महीने में झेले गये विरह ताप का वर्णन अपने सखियों को सुनाती है–जायसी ने उसकी इसी दु,ख गाथा का बारहमासा के रूप में वर्णन किया है। 'वाहरमासा' के बारे में शुक्ल जी का विचार है कि "वेदना का अत्यन्त निर्मल एवं कोमल स्वरूप, हिन्दू दाम्पत्य जीवन का अत्यन्त मर्मस्पर्शी माधुर्य, अपने चारों ओर की प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों के साथ विशुद्ध भारतीय हृदय की साहचर्य भावना, तथा विषय के अनुरूप भाषा का अत्यन्त स्निग्ध, सरल, मृदुल और अकृत्रिम प्रवाह देखने योग्य है। पर इन कुछ विशेषताओं की

ओर ध्यान जाने पर भी इसक सौन्दर्य का बहुत कुछ हेतु अनिर्वचनीय रह जाता है।''

संयोग के समय जो प्रेम सृष्टि के सम्पूर्ण उपकरणों से आनन्द का संचय करता है वही वियोग में उनसे दुख का संग्रह करने लगता है। जायसी ने इसी दुःखद रूप में वर्ष के प्रत्येक महीने के उन सामान्य प्राकृतिक उपकरणों और व्यापारों का वर्णन किया है जिनके साहचर्य का अनुभव राजा से लेकर रंक तक सभी करते हैं। इस दारूण विरह के जाल में पड़ रानी नागमती अपना रानीपन भूल साधारण सामान्य नारी बन जाती है। इसलिये उसका विलाप सबके ह्दय को अन्दोलित कर देता है। आसाढ़ का महीना है।, आकाश में बादल गरज रहे है।, मानो वह नागमती पर चढ़ाई करनेकी घोषणा कर रहे हों–

चढ़ा अषाढ़ गगन घन गाजा। साजा विरह दुंद दल बाजा।

नागमती व्याकुल हो पति को पुकारती है, परन्तु प्रियतम नहीं आता। नागमती एक गहरी साँस लेकर कहती है –

जिन्ह घर कंता ते सुखी। तिन्ह गारौ औ गर्व।
कन्त पियारा बाहिरै, हम सुख भूला सर्व।।

श्रावण मास उसे और भी अधिक संतप्त करता है–सावन बरस मेह अति पानी। भरनि परी, हौं विरह झुरानी। संसार में चारों ओर अथाह जल भरा हुआ है। नागमती को नाव का खिवैया सात समुद्र पार है। उसकी नाव बिना खिवैया के थक गई है। – "मोर नाव खेवक बिनु थाकी" वह उस तक कैसे पहुँचे–

परबत समुद अगम बिच, बीहड़ धन बन ढाख ।
किमि कै भेटौं कंत तुम्ह, ना मोहि पांव न पाँढा।।

भादों का महीना उसे और अधिक दुख देता है। जैसे तैसे वर्षा ऋतु बीत जाती है। शरद ऋतु का आगमन होता है। क्वार का महीना लग गया है। जल घट गया है। विरहिणी कंत से प्रार्थना करती है कि अब तो लौ आओ मेरा शरीर थक गया है –

परन्तु कंत नहीं आते "कंत न फिरे विदेसहिं भूले" ऐसे ही प्रत्येक महीना आता है, ऋतुयें बदलती हैं। नागमती का विरह बढ़ता ही चला जाता है। वह अन्य साधन न देख भौंरा और काग के द्वारा पति के पास आपना संदेश भेजती है –

पिउ सो कहेउ संदेसड़ा, हे भौंरा। हे काग।
सो धनि बिरहै जरि मुई, तेहिक धुआँ हम लाग।।

नागमती का प्रियतम फिर भी नहीं लौट कर आता। फागुन का महीना भी आ जाता है। बसन्त का सौन्दर्य उसे और अधिक व्याकुल करने लगता है। सारी वनस्पितियाँ उल्लसित होने लगती हैं परन्तु नागमती के लिये जग में दूनी उदासी भर जाती है –

मो कहँ भा जग दून उदासू

नागमती अपने कंत को न पा सकने की स्थिति में यह अभिलाषा व्यक्त करती है –

यह तन जारौं छरि कै, कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जहँ पाव।।

इसके उपरान्तु ग्रीष्म ऋतु आ जाती है। ग्रीष्म का ताप उसकी विरहाग्नि को और भी अधिक प्रज्वलित कर देता है। वह अपने सखी से कहती है कि मानसरोवर में खिला हुआ कमल जल के अभाव में सूख गया है परनतु यदि प्रियतम आकर उसे पुनः सींच दे तो फिर हरा–भरा हो सकता है–

कँवल जो विगसा मानसर, बिनु जल गयउ सुखाय।
अवहूँ बेलि फिर पलुहै, जौ पिउ सीचै आय।।

जेठ में चारों ओर अंगार बरस रहे है।, बवंडर उठ रहे हैं। विरह की अग्नि इतनी भयंकर है कि इसे कोई नहीं झेल सकता।

अंत में पुनः वर्षा ऋतु आ जाती है। नागमती विलाप करती हुई कहती है –

तपै लागि अब जेठ असाढ़ी।
मोहि पिउ बिनु छाजनि भइ गाढ़ी।।

शुक्ल जी के शब्दों में—"यह आशिक माशूका का निर्लज्ज प्रलाप नहीं है, यह हिन्दू गृहिणी की विरह वाणी है। इसका सात्विक मर्यादापूर्ण माधुर्य परम मनोहर है।" नागमती इस प्रकार विलाप करती हुई बारहमासा में उठाये गये दुखों का वर्णन करती है।विरह का सर्वाधिक मार्मिक एवं सात्विक रूप तो नागमती संदेश खण्ड में मिलता है।

नागमती को जब प्रियतम का कोई भी समाचार नही मिला तो वह राजमहल से निकल वन में जा विलाप करने लगती है। वहाँ वह जिस भी पक्षी के पास जा अपनी विरह गाथा सुनाती है वही जल जाता है और वृक्ष पत्र—हीन हो जाता है —

जेहि पंखी के नियर होइ, कहे विरह कै बात।
सोई पंखी जाइ जरि, तरविर होइ निपात।।

उसका कैसा दुर्भाग्य है कि वह रक्त के आँसू रो रही है। वह इस प्रकार रोती हुइ वन—वन भटकती रहती है परनतु उसके रूदन को सुन कोई भी विचलित नहीं होता, अंत में एक पक्षी को उस पर दया आ जाती है। वह उससे रोने का कारण पूछता है, नागमती कहती है कि मेरा कंत जोगी बन सिंहल द्वीप चला गया है। तबसे मुझे उसका कोई संदेश नहीं मिला है और कोई मेरा संदेश लेकर उसके पास नहीं जाता मेरे लिये सारा संसार उजाड़ हो रहा है। मेरी कथा को जो जाकर प्रियतम को सुनायेगा मैं जन्म भर उसकी दासी बनी रहूंगी —

कथा जो कहै आई ओहि केरी। पाँवरि होउँ जनम भरि चेरि।।

इसके उपरान्त वह पक्षी द्वारा पद्मावती को अपना संदेश भिजवाती है —

सवति न होसि तू बैरिन, मोर कंत जेहि हाथ।
आनि मिलाव एक बेर, तोर पाँय मोर माथ।।

इस संदेश में उसके जीवन की सारी मार्मिक व्यथा घुल निखर कर पावन हो उठी है। वस्तुतः यह संदेश ही सम्पूर्ण विरह—गाथा का प्राण बिन्दु है।

इसके पश्चात नागमती रत्नसेन के लिये संदेश भिजवाती हुई उसकी माता की दारूण दशा का वर्णन करती है। परन्तु अपने स्वंय के दुख के लिये एक शब्द भी नहीं कहती है। "उसका बिरह उस प्रणय का विरह है जो स्वंय जलना जानता

है।, दूसरे तक उसकी लपट नहीं पहुंचने देना चाहता ।" नागमती का विरह यहीं समाप्त होता है। रत्नसेन के चित्तौड़ लौट आने पर वह एक ही दोहे में उससे मानो अपनी सम्पूर्ण विरह–व्यथा का वर्णन कर देती है –

काह हँसो तुम मोसौं, किएउ ओर सों नेह।
तुम मुख चमकै बीजुरी, मोहि मुख बरसै मेंह।।

नागमती का विरह दो जगह चित्रित हुआ है। पद्मावती–नागमती विलाप–खण्ड में तथा सती खण्ड में। सती–खण्ड में दोनों रानियों का सम्मिलित विरह वर्णित है।

पद्मावती का विरह :– पद्मावती का विरह वर्णन विभिन्न खण्डों में चितत्रत हुआ है–जैसे : पद्मावती वियोग खण्ड, राजागढ़–छेका खण्ड, गंधर्व सेन–मंत्री खण्ड, लक्ष्मी समुद्र खण्ड, पद्मावती नागमती विलाप खण्ड तथा पद्मावती नागमती सती खण्ड। लेकिन इनमें सभी विरह का महत्व नहीं है। केवल दो विरह का महत्व है। पद्मावती–नागमती विलाप एवं पद्मावती–नागमती सती खण्ड। इन दो के अतिरिक्त अन्य विरह का महत्व इसलिये नहीं हैं कि वह संयोग से पूर्व का विरह है। कवि की अनुभूति वहाँ बोलती नहीं दिखाई देती है। संयोग के उपरान्त होने वाली विरह ही वास्तविक,मार्मिक और अधिक अनुभूतिमय होता है पद्मावती के ऐसे विरह के दर्शन हमें उस समय होते हैं जब समुद्र में वह रत्नसेन से विछुड़ जाती है। विछुड़ जाने पर वह पति–वियुक्ता क्रौची के समान आर्त–क्रन्दन करने लगती है। उसका प्रियतक सदैव उसके हृदय में ही निवास करता है।

लेकिन वह उससे मिल नहीं पाती और सती होने के लिये तैयार हो जाती है यह विरह नागमती की स्मृति को ताजा बना देता है। विरह का दूसरा चित्र वहाँ आता है जब रत्नसेन बंदी बनकर दिल्ली चला जाता है। पद्मावती उसके विरह में करूण विलाप कर उठती है। पद्मावती के विरह का अंतिम चित्र विरह–वेदना से आवोष्टित होने के स्थान पर एक प्रशान्त गांभीर्य रूप धारण कर लेता है वह सोलह शृंगार कर पति के साथ सती हो जाने के लिये तैयार हो जाती है। इस प्रकार विरह का अंत शांत वातावरण में होता है।

रत्नसेन का विरह :– रत्नसेन पद्मावती का नायक है जिसका विरह चित्रण कई स्थानों पर दीख पड़ा है। भारतीय परम्परा के अनुसार नायिका को नायक से अधिक प्रेमोद्दीप्त दिखाया जाता है और नायक में विरह व्याकुलता बहुत कम प्रकट की जाती है। पर सूफी प्रेमाख्यानों की विशेषता यह है कि नायक को भी नायिका की भाँति प्रेम पीर से पीड़ित एवं वेदना से व्याकुल दिखाया जाता है। रत्नसेन के विरह वर्णन में पूर्वराग–और प्रवास विरह के कई स्थल हीरामन सुये द्वारा पद्मावती के रूप–लाण्वय का वर्णन सुनने पर, रत्नसेन के मन में एक पक्षीय प्रेम का उदय हुआ। उसका नख–शिख वर्णन सुन करके पद्मावती के प्रति प्रेम अंकुरित हुआ और उस प्रेम पात्र के प्रत्यक्ष दर्शन की व्याकुलता से बेहोशी भी आ गयी। यह सत्य है कि प्रेम की दशा मृत्यु से भी कठिन हैं। जब रत्नसेन जोगी बनकर घर से निकलने को तैयार हुआ तो ज्योतिषियों के रास्ता रोकने पर वह कहा–"प्रेम पंथ दिन घरी न देखा" रत्नसेन एक जगह स्पष्ट कहा है कि मैं भी सती के समान पद्मावती के प्रेम के कारण चिता में अपने को जला देना चाहता हूँ। सूफी सिद्धान्त के अनुसार जायसी ने रत्नसेन के मुंह से प्रेम की त्याग भावना को व्यक्त कराया है। इस प्रकार रत्नसेन के मानस–भवन में पद्मावती की रूप–छवि भर गयी और पद्मावती के प्रति उनका एकनिष्ठ प्रेम विकसित हुआ। 'वसंत खण्ड' में पद्मावती शिव मंदिर में पूजा करने आयी तब उसका दर्शन करते ही रत्नसेन बेसुध हो गया। होश आने पर पीड़ा बढ़ गयी और करूण–विलाप करने लगा।

सबसे मर्म स्पर्शी विरह चित्र पार्वती–महेश खण्ड में अंकित है। इस खण्ड में पार्वती रत्नसेन से प्रेम परीक्षा लेती है और यह जान जाती हैं कि रत्नसेन पद्मावती के प्रेम में जल रहा है और पद्मावती के रूप दर्शन से पूर्णता को प्राप्त हुआ। इस प्रकार रत्नसेन पद्मावती का विवाह हुआ और चित्तौड़ लौटते समय समुद्र में तूफान आने से दोनों अलग हो गये। अब रत्नसेन पद्मावती के विरह में तड़प रहा है। चित्तौड़ लौटने पर वह नागमती के मान को शान्त करता है। और "नागमती तू पहिलि ब्याही''–फिर आगे कहता है "बहुते दिनन्ह आवै जो पीऊ। धनि न मिल धनि पाहन जीऊ।" लेकिन एक बात और और नागमती के प्रति रत्नसेन का विरह वर्णन पूरे पद्भावत में कही नहीं दिखाई देता। इनका विरह विशालता, मार्मिकता एवं

प्रभाव की दृष्टि से सर्वोपरि है। जायसी का मत है कि प्रेम का मार्ग कष्टतर और वेदना की राह है।, जिनमें त्याग भावना अधिक होती हैं। ये कहते हैं कि सच्चा प्रेमी समस्त संसार मे प्रेम का दर्शन करता है। और वह प्रिया के अलावा और कुछ नहीं चाहता। इनके विरह वर्णन में नायक–नायिका ही नहीं, बल्कि उनके साथ ही साथ उनसे सम्बन्धित सारी प्राकृतिक जड़ चेतन वस्तुयें भी विरहाग्नि में जलती है। प्रत्येक जीव परमात्मा के विरह में तड़पता है। सूफी साधना का आधार प्रेम ही रहा है। और उनके अनुसार–प्रेम और ईश्वर में कोई अन्तर नहीं है।

इस प्रकार भारतीय अद्वैतवाद और फारसी रहस्यवाद के सुन्दर समन्वय से उद्भूत जायसी का रहस्यवाद उनके आध्यात्मिक चिंतन का परिणाम है। जायसी ने अपने पद्मावत में यह सिद्ध कर दिया है कि जीवात्मा ईश्वर का ही अंश है, इसलिये वह हमेशा अपने मूल उत्स में मिलने के लिये तड़पती रहती है। यही जायसी के विरह संबंधी आध्यात्मिक चित्रण का केन्द्र है। विरह के बाद जो मिलन होता है उससे परमानन्द की प्राप्ति होती है इसलिये जायसी ने अपने काव्य में विरह भावना की खुलकर अभिव्यक्ति करके अपने आध्यात्मिक विचारों को सिद्ध किया है।

जायसी के प्रेम की उपासना माधुर्य भाव की है या मादन भाव की ? श्री चन्द्रबलि पाण्डेय के अनुसार–किसी भी सूफी साधक की साधना मधुर रस की साधना के अन्तर्गत नहीं आती। ये सूफीयों की भक्ति भावना को सहज भाव या कांत भाव से भिन्न मानते हैं। माधुर्य भाव और मादन भाव पर विचार करते हुये आचार्य पांडे लिखते हैं कि "माधुर्य भाव के नामकरण का प्रधान कारण रति भाव के आस्वादन की मधुरता ही है। भारत वर्ष में मनुष्य अपने को रति का अवतार समझता है काम का नहीं। सूफी इस विषय में हमसे प्रतिकूल हैं। उनकी भक्ति का आधार मदन व काम है, रति नहीं। काम अमृत है तो रति आनन्द है। और दोनों ही ब्रह्मके दो रूप हैं। माधुर्य भाव में रति काम को चाहती है तो मादन भाव मे काम रति का पीछा करता है। एक मधुर कोमल मन है तो दूसरा उन्मत भीषण और उग्र।"

आचार्य गुलाब राय का भी यही मत है कि–"भारतीय प्रेम-भक्ति और सूफी प्रेम में जो प्रधान अन्तर है, वह माधुर्य और मादन भाव का। यद्यपि दोनों ही भावों के मूल में रति ही विद्यमान है।" भारतीय रमणी प्रियतम के संयोग और वियोग के अभिव्यक्ति में जो शील और संकोच का अनुभव करती है, जिस मर्यादा का ध्यान रखती है, उस शील, सकोच और मर्यादा का सूफी प्रेम में अभाव मिलेगा । भारतीय प्रेम भावना माधुर्य भाव की उपासिका है जबकि सूफी प्रणय–मादन भाव का।

किन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भारतीय एवं सूफी उपासना पद्धति मे ऐसा कोई अन्तर नहीं देखते। उनका कथन हैं कि सूफी मत की भक्ति का स्वरूप प्रायः वही है जो हमारे यहाँ की भक्ति का। श्याम मनोहर पाण्डेय के अनुसार – प्रेम साधना में वासना के लिये कोई स्थान नहीं है इसमें नफ्स पर विजय पाना आवश्यक है। यह दृष्टिकोण ईरान के फारसी प्रमाख्यानों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। सूफी साधकों में प्रेम के दो स्वरूप होने की बात कहीं जाती है। एक तो शान्त क्षेत्र रहित रूप है। और दूसरा उन्मत हर्षोन्माद पूर्ण। प्रथम स्वरूप सामान्य एवं विशेष दोनों साधकों में पाया जाता है जबकि द्वितीय स्परूप के केवल विशेष प्रकार के साधकों में ही दृष्टिगोचर होता है। यह प्रभु तक सीधे पहँचा देता है यह हषोन्मादपूर्ण प्रेम ही रहस्यकाव्य का जनक है।

जायसी के लिये प्रेम एक कठोर साधना है। जायसी के संबंध में उठाया गया मादन और माधुर्य भाव का प्रश्न किसी दृढ़ युक्तियों पर आधारित नहीं है। यदि शास्त्रीय दृष्टि से विचार किया जाय तो मादन भाव माधुर्य भाव का एक महत्व पूर्ण अंग है तथा इस रूप में जायसी के उद्‌गारों से उसका पर्याप्त समय दुष्टिगोचर होता है। इस प्रकार प्रेम का परिभाषा देना उतना ही कठिन है, जितना कि जीवन की या आत्मा की परिभाषा देना। सम्भवतः इसीलिये देवर्षि नारद और सूफी सन्त सभी ने प्रेम को अनिर्वचनीय माना है। धर्मो में भी प्रेम को विश्व का सर्वोपरि वस्तु

माना है। जायसी को तीन लोक और चौदह भुवनों में प्रेम से अधिक सुन्दर और कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता। जायसी की मान्यता है कि साधक और परमात्मा के पारस्परिक प्रेम के स्वरूपों में भिन्नता नहीं है। परमात्मा के विरह में केवल मानव को नहीं अपितु समस्त प्रकृति का तड़पते हुये चित्रित करना सूफी प्रेमाभिव्यक्ति की विशेषता है। जायसी के प्रेम का वास्तविक रूप आध्यात्मिक है। भाव की दृष्टि से जब हम जायसी के प्रेमाभिव्यक्ति को परखते हैं तो उसमें और भारतीय माधुर्य भाव की भक्ति में विशेष अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता। उनके प्रेम संबंधी दृष्टिकोण का सार निम्नालिखित नौं शब्दों में निहित है–

मानुष प्रेम भयउ बैकुण्ठी। नहित काह छार भूरि मूठी।।

सूर :— भागवतकार ने भक्ति का लक्षण इस प्रकार दिया हैं "मनुष्यों के लिये सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है, जिसके द्वारा भगवान कृष्ण में भक्ति हो, भक्ति भी ऐसी जिसमें किसी प्रकार की कामना न हो और जो नित्य निरन्तर बनी रहे, ऐसी भक्ति से हृदय आनन्द स्वरूप भगवान की उपलब्धि करके कृतकृत्य हो जाता है।" श्रीमद्‌भागवत में भक्ति के तीन स्वरूप मिलते हैं— प्रेम विशुद्ध भक्ति, नवधा भक्ति एवं प्रेमाभक्ति। श्रीमद्‌भागवत में विशुद्ध भक्ति का विवेचन कई स्थानों पर हुआ है और उन्होंने भक्ति को योग ज्ञान, धर्म, स्वाध्याय, तप, दान आदि से भी ऊपर माना है। भागवत में भक्ति और ज्ञान में कोई तात्विक भेद नहीं माना गया है। भक्ति की पराकाष्ठा ज्ञान है और ज्ञान की पराकाष्ठा भक्ति है। जहॉ भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ बताया गया वहाँ भक्ति का अर्थ साधन भक्ति है जहाँ ज्ञान को भक्ति से श्रेष्ठ बताया गया है वहाँ ज्ञान का अर्थ परोक्ष ज्ञान है। पराभक्ति और परम ज्ञान दोनों एक ही वस्तु है। गीता की निष्कामता भी भक्ति योग के अन्तर्गत है। भागवत महात्म्य में ज्ञान और बैराग्य को भक्ति का पुत्र बतलाया है। भागवत में भक्ति के साध्य और साधन दोनों ही पक्षों का विवेचन हुआ है। मन की एकाग्रता से भगवान का नित्य निरंतर श्रवण, कीर्तन और आराधन भक्ति का साधन पक्ष है और भगवान में परानुरक्ति उसका साध्य पक्ष है।

साधन रूपा भक्ति को नवधा भक्ति, वैधी भक्ति अथवा मर्यादाभक्ति कहते हैं और साध्य रूपा भक्ति को प्रेमाभक्ति अथवा रागात्मिका भक्ति के नाम से जाना जाता है। नारदभक्तिसूत्र में प्रेम रूपा भक्ति के सम्बन्ध में ग्यारह आसक्तियों का उल्लेख किया गया है।

भक्ति के बिना ज्ञान और कर्म व्यर्थ हैं इस तथ्य को द्योतित करने के लिये सूरदास जी ने एक बड़ा ही सुन्दर दृष्टांत उपस्थित किया है—उनका कथन है कि जिस प्रकार—पतंग दीपक से प्रेम करता है और उसकी दीप्त शिखा से न डरता हुआ उस पर गिर पड़ता है उसी प्रकार ज्ञानी पुरूष भी अपने ज्ञान रूपी दीपक से सांसारिक सुख—रूपी कूप को प्रकट देखता हुआ भी उसमें गिर जाता है।

सूरदास भक्त कवि है। भक्ति इनके काव्य का साध्य है । भगवान की रसमयी लीलाओं की आत्मानुभूति की सहज अभिव्यक्ति ही सूरदास के काव्य की अन्त–प्रकृति की विशेषता है। भक्ति स्वतः ही पूर्ण है। वह कर्म ज्ञान आदि किसी भी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रखती। प्रेम के शाश्वत बन्धन द्वारा भक्त, आदि से अंत तक निज व्यक्तित्व को स्वतंत्र बनाये रखता है। अर्थात वह एकात्म की कल्पना से दूर रहकर अपने प्रेमी के प्रेम में निमग्न रहने को ही जीवन की सार्थकता मानता है। सूर की भक्ति मूलतः प्रेमाभक्ति है। प्रेमाभक्ति पाँच प्रकार की होती है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। सच्ची–भक्ति भावना का उदय होने पर भक्त सम्पूर्ण कामनाओं, पूजाओं, ज्ञान और कर्म को त्याग कर श्री कृष्ण में अनुरक्त हो जाता है।

भक्ति की पूर्णता के लिये किसी अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं है। भक्ति मार्ग में भक्त का कर्तव्य भगवान का श्रवण एवं कीर्तन ही एक मात्र है। इस प्रकार सूर की भक्ति भावना दास्य, शक्ति, आत्म निवदेन की वैधी भक्ति से दास्य, संख्य, वात्सल्य और माधुर्य भाव की रागानुगा भक्ति के विविध सोपानों को पार करती हुई प्रेमाभक्ति की सिद्धावस्था में पहुंची है। उसमें भक्ति भावना के सभी रूप हैं। उसमें नारद भक्ति सूत्र की ग्यारहों प्रकार की आसक्तियों का क्रमिक विकास है। सूरदास के कृष्ण बचपन से ही वात्सल्य संख्य और माधुर्य–तीनों भावों के आलम्बन बन गये हैं। इसलिये सूर के काव्य मे वात्सल्य, सख्य और माधुर्य तीनों भावों की प्रधानता है।

कृष्ण भक्ति साहित्य का केन्द्रीय भाव प्रेम ही है। लेकिन कृष्ण भक्त कवियों के प्रेम–निरूपण में सूफी–कवियों की सी प्रेम–विवशता दृष्टिगत नहीं होती। प्रेम की प्रतिष्ठा करना तथा संसार चक्र के परिचालन में उसके एकान्तिक महत्व का उपादान सूरदास का मुख्य उद्देश्य रहा है।[1]

---

1. सूर का श्रृंगार वर्णन– डॉ० रमाशंकर तिवारी (द्वितीय भाग) पृष्ठ – 72

प्रेम ईश्वरीय चमत्कार है और दैवीय देन भी। परमात्मा स्वंय प्रेम स्परुप है। अतः उस प्रेम स्वरूप भगवान के निकट पहुंचने के लिये मनुष्य को प्रेम की प्रत्येक चीढ़ी पर चढ़कर अग्रसर होना चाहिये। इसी तत्व को मानकर कृष्ण भक्त कवियों ने प्रेम के महत्व को स्पष्ट करने का प्रयाय किया है। सूर ने अपनी भक्ति भावना की अभिव्यक्ति के लिये राधा–कृष्ण तथा गोपियों के प्रेम को आधार बना लिया है। सूर ने प्रेम के व्यापक अर्थ को स्पष्ट करने के लिये भक्ति शब्द का प्रयोग किया है, जिससे नर–नारी की परस्पर रति भावना द्योतित होती है।

सूरदास ने प्रेम, प्रीति और अनुराग शब्दों को समानार्थक माना है। इसी प्रकार उनकी दृष्टि में प्रेम और काम में कोई अन्तर नहीं है। सखी राधा से कृष्ण को सब कुछ समर्पित करने का उपदेश देती है। काम और प्रेम में कोई तात्विक भेद नहीं है। काम रूप–दर्शन से होता है। जिसका संबंध शरीर से है, जबकि प्रेम एक मानसिक वृत्ति का रूप धारण करता है। सूर का मत है कि प्रेम का महत्व वही जान सकता है जिसे उसकी आस्वादता का अनुभव हुआ है –

प्रेम क्या सो पै जाने, जापै बीती होई।
तू नीरस एती कह जानै, बूझि देखियै लोई।।

सूर के भक्ति भावना में प्रेम के विविध रूपों की अभिव्यक्ति दिखाई देती है। जैसे :–दैन्य भक्ति, वात्सलय प्रेम, सख्य प्रेम एवं माधुर्य प्रेम। प्रारम्भ में सूर ने विनय भाव की भक्ति की है भक्ति को साध्य मानते हुये वे कहते हैं कि इसकी प्राप्ति सब कामनाओं की इति श्री है। हरि का भक्त स्वंय हरि स्वरूप हो जाता है –

हरि के जन सब ते अधिकरी।[1]

जिस पर हरि की कृपा हो जाती है, उसे फिर किस बात की कमी? भक्ति का विशाल क्षेत्र जाति–पाँति की परिधि से बँधा नहीं है। बड़े–बड़े महाराज ऋृषिराज और मुनिराज भी हरि–भक्ति के समक्ष सिर झुकाकर वन्दन करते हैं और उसके तेज से लज्जित होते हैं–

हरि के जन की अति ठकुराई।

---

1. सूरसागर (ना. प्र. स.) पद, 55

महाराज रिषिराज महामुनि देखत रहे लजाई।।[1]

सूरदास जी बल्लभाचार्य से मिलने के बाद पुष्टि–सम्प्रदाय में दीक्षित हुये तो उनकी भक्ति का आदर्श की बदल गया था तथा मायामय मिथ्या संसार के प्रति विराग उनकी भक्ति का आधार नहीं रहा गया था। उन्होंने ऐसी सहज भक्ति–धर्म का निरूपण किया। जिसका आधार कृष्ण की रूप–माधुरी और लीलायें हैं इसलिये वहाँ निर्गुण पंथ के प्रति स्पष्ट विरोध है। सूरदास जी यद्धपि भक्ति के साध्य रूप को ही महत्व देते थे और प्रेम ही उनकी साध्य–रूपा भक्ति का आधार है फिर भी स्थान–स्थान पर हमें सूरसागर में वैधी भक्ति के उदाहरण मिल जाते है। गोपियों को प्रेमाभक्ति का आश्रय मानकर उनके माध्यम से सूर ने अपने सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया है।

सूरदास ने साधन रूप में ही नवधा भक्ति को कहकर इसी प्रेमा–भक्ति की ओर संकेत किया है। मन से सम्बद्ध भक्ति ही रस की कोटि तक पहुँचती है और ये ही प्रेमाभक्ति के मूल तत्व हैं जब कृष्ण के प्रति भक्ति का चिद्‌विषयक रतिभाव सान्द्र हो जाता है तब उसे प्रेम कहते है। अष्टछाप के कवियों ने प्रेम–पक्ष में सख्य और वात्सल्य भाव को ही विशेष रूप से अपनाया है। सूर में वात्सल्य भाव की भक्ति भी बड़ी महत्वपूर्ण है। यदि यह कहा जाय कि सूर ने पुरूष होते हुये भी माता का ह्रदय पाया था तो असंगत नहीं होगा। सूर के भक्ति विवेचन में मधुरा भक्ति पर प्रकाश डालना अनिवार्य है।

माधुर्य भाव की भक्ति शृंगार–प्रेम की भक्ति कही जा सकती है। लौकिक प्रेम के जितने स्वरूप हो सकते हैं, वे सभी मधुरा भक्ति में आ जाते हैं। अन्तर केवल इतना है कि लोक से हटाकर उन्हें ईश्वर से जोड़ दिया जाता है। लोकपक्ष में जिसे हम शृंगार कहते हैं, भक्ति पक्ष में वही मधुररस कहलाता है। इस रस में औचित्य अनौचित्य का विचार नहीं होता, तथा स्वकीया ओर परकीया दोनों ही भावों की रति रहती है। यही कारण है कि भक्त सूरदास की अन्तरात्मा का अन्तर्भाव हम राधा में देखते हैं।

---

1. सूरसागर (ना. प्र. स.) पद, 63

आत्मसमर्पण और अनन्य भाव मधुरा भक्ति के लिये आवश्यक है जो सूरदास की दानलीला, चीरहरण और रासलीला में पूर्णता को प्राप्त हुये है। गोपियों के पूर्वराग की अवस्था में गोपियों ने कुल–मर्यादा का अतिक्रमण किया है तथा संयोगरति की पूर्ण अवस्था मिलन में दिखाई गयी है। सूर का विरह संयोग से भी अधिक उज्जवल और प्रबल है। मधुराभक्ति की आश्रय स्वरूपा गोपियाँ कृष्ण में इतनी तल्लीन हैं कि उद्धव द्वारा प्रतिपादित ज्ञान–योग साधन उन्हें निरर्थक प्रतीत होते हैं और वे उनका मजाक उड़ाती हैं। सूर की प्रेमाभक्ति में यह माधुर्य भाव ही निहित है। वे ब्रजधाम के वास को कृष्ण का फल मानते हैं, जिसके प्राप्त होने पर भक्त को अन्य कुछ प्राप्य नहीं रहता और न ही उसकी अन्य कामना रहती है। इस भक्ति की प्राप्ति का मुख्य साधन हरिकृपा और सत्संग ही है।

सूर का वात्सल्य प्रेम :– प्रेम में आत्मदान और आत्मीयता के सहारे जिस आत्म विभोरावस्था की उपलब्धि होती हैं उसकी पराकाष्ठा वात्सल्य में प्रकट होती है। बालक माता–पिता की आत्मा का दृश्य रूप ही होता है। पुत्र माता–पिता का आत्मांश होता है। माता–पिता का बालक के प्रति स्नेह दाम्पत्य जीवन का जीवनरस बन जात है। महाकवि भवभूति ने लिखा है कि सन्तान निश्चय ही प्रेम की पराकाष्ठा है और सन्तान मात–पिता के परस्पर प्रेम का प्रधान हेतु भी होता है। बालक की प्रत्येक क्रिया और चेष्ठा से माता–पिता का हृदय आनन्दमग्न होता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि माता–पिता का अपनी सन्तान के प्रति एवं वृद्धों का छोटे–छोटे सुन्दर हृष्ट–पुष्ट हँसमुख बच्चों के प्रति, जो स्नेह होता है, मुख्यतः उसी का वर्णन वात्सलय रस के अन्तर्गत आता हैं। यह विषय सर्वकालिक एवं सार्वजनीन होता है।

सूरदास ने कृष्ण जन्म के पूर्व ही मोह ममता की एक झलक दिखाकर सिद्ध कर दिया कि वात्सल्य का भाव इतना नैसर्गिक है कि वह भावुक और सहृदय माता–पिता के हृदयों में नहीं, वज्र–कठोर और निष्ठुर हृदयों में भी सुगमता से उमड़ सकता है इसके लिये यह आवश्यक नहीं कि बालक अपना ही हो।

कंस के कारागार में देवकी का पहला पुत्र जन्मता है। प्रतिज्ञानुसार वासुदेव उसे कंस के पास ले जाते है। भोले–भाले नवजात शिशु को देखकर अन्यायी और अत्याचारी कंस का कठोर हृदय भी इतने वात्सल्य से भर जाता है कि वह वसुदेव को बालक लौटाकर उनके सब अपराध क्षमा कर देता है –

पहिलौ पुत्र देवकी जायौ लै वसुदेव दिखायौ।
बालक देखि कंस हसि दीन्यौ, सब अपराध छमायौ।।[1]

श्री कृष्ण के जन्म पर शिशु रक्षा के लिये देवकी विकल हो जाती है। वसुदेव भी पुत्र की जीवन–रक्षा के लिये चिंतित हो जाते है। वासुदेव बालक कृष्ण को गोकुल ले जाने के लिये तैयार होते हैं। तब उसकी रक्षा कामना करने वाली माता देवकी शिशु से विछुड़ने का दुख नहीं सह पाती। उनके मुख से यह स्वर स्वतः निकल पड़ता है– हाय ऐसे सुत के विछुडने के दुख से तो यही अच्छा था कि कंस विवाह के दिन ही मुझको मार डालता।

वसुदेव जी बालक कृष्ण को गोकुल पहुंचा आते हैं और नन्द–यशोदा बालक कृष्ण को अपना पुत्र स्वीकार करते हैं। जन्मोत्सव का आनन्द सर्वत्र ब्रज में छा गया। सभी नवजात शिशु को गोद में लेने के लिये उत्सुक है। उनकी उत्कंठा का आभास देखिये –

नैंकु गोपालहिं मोकौं दै री !

बालक कृष्ण एक दिन पालने में पड़े है। बालक ने अपने हाथ से पैर का अंगूठा मुँह में डाल लिया है और उसे चूस रहे हैं। यह दृश्य कितना स्वाभाविक है–

कर पग गहि अंगुठा मुख मेलत।
प्रभु पौढ़े पालनै अकेले हरिष–हरषि अपनैं रंग खेलत।।[2]

इसी प्रकार माता यशोदा की गोंद में बालक कृष्ण किलकारी भरता दिखाई देता है:–

हरि किलकत यशुदा की कनियाँ।

---

1. सूरसागर दशय स्कंध पद संख्या 63
2. सूरसागर दशम स्कंध पद संख्या 63.

पुत्र को घुटने चलते देखकर माता को बहुत सन्तोष होता हैं। जब उसे पैरों चलना सिखाती है। यहॉ सूर का स्वाभाविक चित्रण देखा जा सकता है –

सिखवति चलन जसोदा मैया।
अरबराइ कर पानि गहावत, डगमगाइ धरनी धरै पैया।

बालक कृष्ण बडा हो गया है–वह अपने माता यशोदा से कहता है कि यदि आप मुझे चंदा नहीं दोगी तो मैं धरती पर लोटकर अपने वस्त्र गंदे कर लूंगा, तेरी गोंद में नहीं आऊंगा, दूध नहीं पीऊँगा चोटी नहीं कराऊँगा। धौंस की ये बातें तो साधारण हैं, सबसे बड़ी धमकी उसकी यह है कि चंदा न मिलने पर मैं तेरा पुत्र न रहकर बाबा नंद का पुत्र बन जाऊँगा –

मैया मैं तो चंद खिलौना लैहों।

सब तरह से फुसलाने पर जब बालक कृष्ण नहीं मानता और चंदा लेने का हठ नहीं छोड़ता तब माता एक नया प्रलोभन देती है–

आगैं आउ बात सुन मेरी, बलिदउहिं न जनैहौं।
हँसि समुझावति कहति जसोमति नई दुलहिया दैहौं।।

प्रस्ताव बहुत आकर्षक था बालक कृष्ण ने उसे सुना, क्षणभर विचार किया और तब सहमत होकर बोला –

तेरी सौं, मेरी सुनि मैया, अबहिं वियाहन जैहौं।

माता यशोदा ने जल पात्र में बालक को चन्द्रमा की छाया दिखा दी और उसे माता की बात पर विश्वास हो गया। एक दिन कृष्ण ने माता से गाय चराने की आज्ञा माँगी । माता ने इसका विरोध किया। कृष्ण माँ से बताते है कि मैं बड़ा हो गया हूँ फिर मेरे जब सभी साथी–रैता, पैता मनसुखा आदि जब गाय चराने जाते हैं तो मैं क्यूं पीछे रहूँ –

मैया हौं गाइ चरावन जैहौं।
तू कहि महर नंद बाबा सौ, बड़ौ भयो न डरैहौ ।।

यहाँ पर कृष्ण श्रीदामा के खेल–खेल में जीत–हार का स्वाभाविक चित्रण देखा जा सकता है –

खेलत में को काको गुसैयाँ?
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयाँ?

हर बार झगड़ा करने वाले से कोई कहाँ तक दबे इसलिये सब सखा श्रीदामा की तरफ हो गये और उन्होंने साफ–साफ कह दिया कि बड़े होगे तो अपने घर के होगे, हम किसी के दवैल थोड़े ही हैं। बालक कृष्ण साफ–साफ माता से कहता है– बलराम पर हमें ज्यादा ही क्रोध आ रहा है क्योंकि वे अपने होकर चिढ़ाते हैं :–

मैया मोंहि दाऊ बहुत खिझायो।
मोसौं कहत मोल को लीन्हों तू जसुमति कब जायो।

इस प्रकार सूर का वात्सलय वर्णन नितांत सहज और स्वाभाविक है। यहाँ पर सूरदास ने माता यशोदा की जगह अपने आपको रखकर बालक कृष्ण से प्रेम किया है यह सूर का वात्सलय प्रेम ही है जो माता यशोदा की जगह कृष्ण के प्रति छलक पड़ता है। एवं बाल–चित्रण को देखकर प्रेम में आनन्द विभोर होता है।

यहाँ पर सूर ने बाल–मनोविज्ञान का परिचय देने में सफलता पायी है। वात्सलय वर्णन में तो तुलसी भी सूर के सामने नहीं ठहरते। क्योंकि तुलसी की भक्ति में दैन्य भाव की प्रधानता हैं। वात्सल्य प्रेम की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सूर से छोटी से छोटी बात भी नहीं छूटी हैं क्योंकि कवि जानता हैं कि पुत्र की छोटी बातें भी माता–पिता का मन मुग्ध कर लेती है।

सूर ने वात्सल्य प्रेम का सबसे सरल, स्वाभाविक और ऐसा पूर्ण चित्रण किया है कि माता यशोदा के मातृ–स्नेह का वात्सल्य पूर्ण – सूक्ष्म वर्णन सह्रदय पाठक को मंत्र मुग्ध कर लेता है। वस्तुतः वात्सलय वर्णन में सूर विश्व कवियों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं।

सख्य प्रेम :– मानव जीवन के विकास क्रम में वात्सल्य के बाद दूसरा रूप संख्य में प्रकट होता है। बंधुत्व, मित्रता और सह्रदयता आदि सख्य के ही विभिन्न पक्ष हैं। पुष्टि सम्प्रदाय में सख्य भाव की भक्ति का बड़ा महत्व है। अष्टछाप के आठों कवियों ने भी संख्य भाव को ही अपनाया था।

सूरदास की सखा भाव की यह विशेषता है कि उसमें एक ओर तो मनोवैज्ञानिक रूप से मानवीय संबंधों का निर्वाह किया गया है और दूसरी ओर भक्ति भाव की पूर्ण तल्लीनता और भावात्मकता की अनुभूति भी की गयी है।

सूरसागर के गोचारण–प्रसंग में सख्यभाव की अभिव्यंजना हुई है। कृष्ण वाल्यावस्था को पार कर किशोरावस्था प्राप्त करते हैं। वे रैता, पैता मनसुखा और हलधर के साथ जाना चाहते हैं लेकिन यशोदा उन्हें मना कर देती हैं किन्तु बलराम के संरक्षण में कृष्ण गोचारण में जाते हैं गोचारण में कृष्ण का गोपाल रूप अत्यन्त आकर्षक है। कृष्ण के घर से छाछ आने पर कृष्ण गिरिश्रृंग पर चढ़कर श्रीदामा आदि को बुलाते हैं और सभी गोप बालक एक साथ प्रेम से भोजन करते हैं यह है– संख्य का उत्कर्ष जहाँ श्री कृष्ण ग्वाल संखाओं से सहजीवन और समानता का व्यवहार करते हैं सखाओं में क्रीड़ा के समय संख्य और समानता का भाव व्यक्त हुआ है जब खेलने में कृष्ण एक बालक से हार जाते हैं तो उस पर अपने बड़प्पन का रोब जमाना चाहते हैं। इससे सखाओं में क्षोभ उत्पन्न होता हैं। क्रीड़ा में हार जाने के पश्चात कृष्ण जब बुरा मान जाते हैं तो श्रीदामा क्षुब्ध होकर कहते हैं :–

खेलत मैं को काकौ गुसैयाँ।
हरि हारे जीते श्री दामा बरबस ही कत करत रिसैयाँ।।
जांति–पांति हमते बड़ नाही, नाहीं बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातैं जातें अधिक तुम्हारे गैयां
× × × × × × × ×
सूरदास प्रभु खेल्यौइ चाहत, दाउं दियौ करि नंद दुहैयां

सूरसागर में बाल लीलायें, गोचारण लीलायें और सुदामा दारिद्रय विदारण, ये तीनों स्थल संख्य भक्ति के हैं। ये समवयस्क सखा ही उनके पूर्ण विश्वास पात्र हैं, जो उनके साथ सब प्रकार की केलियों में रहते हैं और उनके सभी रहस्यों को जानते हैं ये समवयस्क सखा ही भगवान के भक्त हैं। इनकी संयोग और वियोग दोनों ही अवस्थाओं का वर्णन कवि ने किया है। इस सखाभाव में सूरदास ने कहीं–कहीं भक्ति–भाव दिखाया है। कृष्ण के संख्य भाव की सबसे बड़ी विशेषता उसमें स्वाभाविकता का समावेश है, जिसके दर्शन हमें कृष्ण की प्रत्येक अलौकिक लीला से पहले होते हैं कलीय–दामन लीला, गोवर्धन–लीला, माखन–लीला आदि

सभी स्थलों पर सूर के सखा, कृष्ण के अलौकिकत्व को भूले हुये हैं। दीन लीला में उन्होंने अपने कुछ सखाओं को साथ लिया हैं इससे स्पष्ट है कि वे अपनी रास लीलाओं में भी सखाओं का परामर्श लेते थे। राधा और कृष्ण की गोपनीय लीलाओं से भी ये सखा अनभिज्ञ नहीं थे। स्वयं राधा ने कृष्ण से इस बात की शिकायत करते हुये कहा है, "तुम मुझे सखाओं में लज्जा से क्यों मारे डालते हो? गोप-सखा मुरली की ध्वनि सुनने के लिये लालायित हो उठते है।-

"छबीले मुरली नैकु बजाउ।" इस प्रकार कृष्ण गोपालों का मनोरंजन भी करते हैं।"

जहाँ गोचारण में समता का भाव है वहॉ सखाओं में संख्य एवं अटूट-प्रगाढ़ प्रेम है। जहाँ उनका अलौकिक कर्म से सम्पन्न रक्षक रूप है वहॉ सखाओं में विनय की भावना दिखाई पड़ती है। सूरदास यह कहते रखते हैं कि उनके कृष्ण ब्रजवासी गोपाल होकर भी परम ब्रह्महैं, इसलिये प्रत्येक प्रेममयी लीला में कृष्ण का दिव्य स्वरूप भी प्रकट होता है। संयोग में ही नहीं, वियोग में - कृष्ण के ब्रज से चले जाने पर और राजा हो जाने पर भी सूर ने संख्य भाव को बनाये रखा है। बाल्यकाल के सहचर अपनी मित्रता के मार्ग में पद अथवा स्थान के व्यवधान को उत्पन्न ही नहीं होने देते। कृष्ण के समवयस्क उन्हें सखा ही मानते हैं, भले ही वे आज महाराज हो गये हों पर उनके लिये तो यशोदानन्दन, ब्रज मोहन, माखन चोर, मुरलीधर श्याम ही हैं।

संयोग प्रेम :- काव्य शास्त्र में जिसे श्रृंगार रस कहा जाता है, वही भक्ति शास्त्र में मधुर रस या उज्जवल रस कहा जाता है। माधुर्य भाव दाम्पत्य प्रेम का ही दूसरा रूप है। दोनों में भेद आलम्बन का ही होता है। मानव जीवन का रति भाव ही अपने विशष्ट रू‍प में माधुर्य भाव बन जाता है। भक्त कवि सूरदास के काव्य में रतिभाव और माधुर्य भाव का ऐसा समन्वित रूप है कि दोनों अभिन्न बन गये हैं। लोक में जो कुछ भी उज्जवल और उदात्त है वह सब रति का विषय है। रति सभी मानवीय संबंधों का आधार है और इसकी गति लोक जीवन से लेकर दिव्य साधना तक है।

नर–नारी के पूर्ण एकात्म–रागात्मक संयोग की अभिव्यक्ति रति में होती है। नारी के आत्मसमर्पण तथा पुरूष में आत्मप्रसार से रति की चरम अवस्था सिद्ध होती है

सूर सागर का गोपी कृष्ण प्रेम स्वच्छन्द प्रेम है इसकी सबसे बडी विशेषता है सहज–क्रमिक विकास। गोकुल में कृष्ण प्रेम लीला अनेक धाराओं में प्रवाहित हुई है किन्तु उसमें मुख्य धारा राधा कृष्ण प्रेम की है जिसमें प्रेम की सभी धारायें समाहित हो जाती है। इस प्रकार माधुर्य भाव की भक्ति श्रृंगार प्रेम की भक्ति कही जा सकती है। लौकिक प्रेम के जितने स्वस्थ रूप हो सकते हैं वे सभी मधुर भक्ति में आ जाते हैं। अन्तर केवल इतना है कि लोक से हटाकर उन्हें ईश्वर से जोड दिया जाता है। मधुर भक्ति के सम्बन्ध में उचित, अनुचित का ध्यान नहीं रहता। सभी सम्बन्ध परमात्मा के साथ हो सकते है। लोक पक्ष में जिसे हम श्रृंगार रस कहते हैं, भक्ति पक्ष में वही मधुर रस कहलाता है। भक्ति रस में औचित्य–अनौचित्य का विचार ही नहीं होता। उसमें स्वकीया एवं परकीया दोनों भावों की रति है एवं संयोग और वियोग दोनों पक्ष भी श्रृंगार रस की भाँति होते है। इस भक्ति रस में कान्तारूपी प्रीति कामरूपा भी हो सकती है और संबंधरूपा भी, सूरदास जी की भक्ति भी ऐसी ही है।

कृष्ण के प्रति गोपियों का आकर्षण ऐन्द्रिय है, इसलिये उनकी प्रीति को सूर ने काम रूपा माना। सूर की भक्ति का उद्देश्य भक्त को संसार के ऐन्द्रिय प्रलोभनों से बचाना है यही कारण है कि उनकी भक्ति भावना स्त्री भाव से ओत–प्रोत है, जिसका प्रतिनिधत्व गोपियाँ करती है। वे कृष्ण में इतनी तल्लीन है कि उनकी काम रूपा प्रीति भी निष्काम है।[1] इसलिये संयोग और वियोग दोनों ही अवस्थाओं में गोपियों का प्रेम एक रूप है। आत्मसमर्पण और अनन्य भाव मधुर भक्ति के लिये आवश्यक है, जो सूरसागर की दानलीला, चीरहरण और रासलीला में पूर्णता को प्राप्त हुये हैं। सूर की दान लीला को मधुर – रति की परम–परिणति कहा गया है। अनुराग जब अपनी पराकाष्ठा को पहुंच जाता है तो वह औचित्य की उपेक्षा कर देता है अनुरागी जन उचित–अनुचित में विवेक नहीं कर पाते। लोक

---

1. सूर और उनका साहित्य – हरबंश लाल शर्मा पृष्ठ – 245

सीमा में रहने अथवा उसका उल्लघंन करने में उन्हें कोई अन्तर नहीं दिखता। आलोचक उसके अनौचित्य को सहन नहीं कर सकता और उसे खरी-खोटी सुनाता है, किन्तु जब उसके अनुराग की अतिशयता को देखता है तो मंद स्वर में उसके हॉ में हाँ मिला देता है। अनुराग और निष्ठा की यहीं विजय हो जाती है।

सूर ने कृष्ण को 'पतित-पावन और अपने आप को सब पतितन को टीकौ' कहा तो महा प्रभु बल्लभ बोले, "सूर ह्वै कै ऐसौ घिघियात काहे को" तभी सूर की दिशा बदल गई भगवान कृष्ण अब सूर के लिये सखा कृष्ण बन बाल कृष्ण बने और बाल होते हुये भी युवा कृष्ण बने और तब का पतित सूर अब रसिक भक्त सूर में परिवर्तित होता चला गया। सूर के कृष्ण के तीन रूप आये-सखा बाल और बाल होते हुये भी युवा। इस तीसरे रूप में कवि का अनुराग औचित्य की भी सीमा पार कर गया। कृष्ण की तीसरा रूप (युवा-रूप) ही श्रृंगार के क्षेत्र में मधुर रस के रूप में उत्पन्न हुआ।

सूर के संयोग श्रृंगार के आलम्बन कृष्ण, राधा और गोपियाँ है। पर गोपियों की अपनी कुछ भी सत्ता नहीं है। वे तो राधा का ही विकीर्ण रूप हैं। अतः उनका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं। कभी वे दूती हैं और कभी राधा की सखियाँ। रास, वसन्त, हिंडोला, फाग, होली आदि सभी प्रसंगों में राधा और कृष्ण भाग लेते हैं। यहाँ गोपियों से राधा को कोई ईष्या नहीं। इस युगल मिलन में उन्हें उतना ही आनन्द मिलता है, जितना राधा को। वे राधा का रूपान्तर जो हुई। ललिता, चन्द्रवली, प्रमदा, शीला आदि सखियों के साथ कृष्ण का बहुनायकत्व संबंध है, पर वे सभी की सभी खण्डिता हैं-रसिक और सलोने कृष्ण की चातुरी का शिकार! उनमें इतना साहस भी नहीं कि खण्डिता हो जाने पर मान प्रदर्शन कर सकें। यदि मान करती भी हैं तो अपना मॉथा ही फोड़ेंगी। उन्हें मनायेगा कौन ?

बाल कृष्ण को उन्होंनं माखन खिलाया, बाल-युवा कृष्ण से उन्होंने प्रेम किया, उसके वियोग में उन्होंने उधौ को खरी-खोटी सुनाई। अंत में रूक्मिणी के साथ कृष्ण के कुरूक्षेत्र में वापस लौटने पर उनका स्वागत किया पर किसी भी रूप में वे कृष्ण को अपना न सकीं। कृष्ण ने विवाह किया तो राधा से, लीलाओं में

सोलह हजार गोपियों के बीच केन्द्र थी, तो राधा ही, गोपी–उद्धव–संवाद के समय श्याम भ्रमर बैठा तो राधा के चरण पर, और अत में द्वारका से लौटकर कृष्ण ने गोपियों में से एकान्त–मिलन किया तो राधा के साथ। अतः संयोग शृंगार के प्रधान आलम्बन कृष्ण और राधा ही हैं।

कृष्ण और गोपियों की प्रेम लीला मनोभूमि से निकल कर सम्पूर्ण ब्रज–भूमि में व्याप्त हो गयी है गोपियों में कृष्ण के दर्शन की उत्सुकता, प्रेम मग्न हृदय की अनन्दमयता ओर प्रेमोन्माद की पग–पग पर व्यंजना हुई हैं। पनघट लीला और दान–लीला में गोपियाँ श्याम–रस मतवाली हैं। श्यामरस प्रेम रस ही है और शृंगार रस भी। पनघट लीला एवं दानलीला गोपी कृष्ण की प्रेमलीला के रूप में क्रमशः विकसित हुई है। यहाँ पर गोपी–कृष्ण एवं राधा–कृष्ण के संभोग शृंगार का कुछ चित्रण दृष्टव्य है जो रास लीला, जल क्रिड़ा, हिंडोला आदि के रूप में परिलक्षित होता है। संयोग वर्णन को दो भागों में बाँटा गया है। प्रथम सामूहिक संयोग–जिसमें संयोग–लीलाये सम्मिलित की गयी हैं। जिनमें राधा के साथ सभी गोपियॉ अथवा राधा को छोड़कर सभी गोपियाँ सम्मिलित हैं। द्वितीय राधा–कृष्ण संयोग–जिसमें उन प्रसंगों को गृहीत किया गया–जिनमें केवल राधा तथा कृष्ण के रति–बिहार का वर्णन हुआ है।

माखन लीला :– संयोग शृंगार में सबसे पहला प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ब्रजनारियों की कृष्ण विषयक शृंगार–रति का आविर्भाव कब से होता है? ब्रजनारियॉ सभी प्रकार की तरूणियाँ–(विवाहित, अविवाहित पुत्रवती, मुग्धायें एवं प्रौढ़ाये) हैं। काम–बिहार की अनुभूति के लिये ये सभी तरूणियाँ मनसा वाचा और कर्मणा समर्थ हैं। जहाँ तक कृष्ण का संबंध है, वे तो लीला पुरूषोत्तम हैं और उन्होंने सुख भोग के निमित्त ही गोकुल में जन्म किया है। मैं ब्रज के घर–घर में माखन खाऊंगा, मैंने सुख के लिये ही गोकुल में जन्म ग्रहण किया है। यशुमति मुझे बाल रूप समझेंगी और गोपियों के साथ मिलकर सुख–भोग करूँगा। अतएव बाल–रूप में ही कृष्ण ब्रज–तरूणियों की शृंगार रति के आस्पद बन गये हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण चराचर सृष्टि आनन्द–मग्न होकर कृष्ण के साथ प्रेम–सूत्र में बँध गई है। माखन चोरी के

संदर्भ में गोपियों की आसक्ति का रंग प्रायः प्रकट हो जाता है। अन्तर्यामी कृष्ण तरूणि ग्वालिन की आंतरिक अभिलाषा जानकर उसके घर जाते हैं और चोरी से माखन खाते हैं और उसे अपने 'अनुरूप' से गद्गद् करते हैं।[1] कभी गोपियाँ ये मानती हैं कि कृष्ण उनके पति हो जाते । वे भी गोपियों के उर पर नखघात करते हैं और युवतियाँ रस–बस जाती हैं कभी वे कृष्ण को कठिन कूचों के बीच लगा लेती है और कभी कृष्ण स्वंय गोपियों को अपने भुज–पाश में बॉध लेते हैं, चोली फाड़ देते हैं और हार तोड़ देते हैं। लेकिन यह बात जल्दी पाठक के गले नहीं उतरेगी कि पाँच वर्ष के कृष्ण यह प्रणय लीला करेंगे। किन्तु कृष्ण गोपियों के साथ छेड़खानी करते समय बाहर–वर्ष के किशोर बन जाते हैं तथा माता के सम्मुख आने पर बालक बन जाते हैं। कृष्ण के उस द्वैत रूप का वर्णन देखा जा सकता है–

कान्हहिं बरजति किन नन्द रानी।
तुत जो कहति मेरो कन्हैया, गंगा कैसो पानी।।
बाहिर तरून किसोर वयसवर, बारघाट को दानी।
अचरज महर तुम्हारे आगैं, आबै जीव तुतरानी।।

यह स्पष्ट है कि माखन चोरी की लीलाओं में कृष्ण तथा ब्रज–तरूणियॉ शृंगार रति की रज्जु में बंध गये हैं। सूर ने पहले ही कह दिया है कि कृष्ण ने सुख–भोग के निमित ही गोकुल में जन्म ग्रहण किया है। सूरदास लिखते है–

सब ब्रज बांध्यौ प्रेम की डोरी।
अब तोरत चोली–बन्द डोरि।[2]

इस प्रकार यहा शृंगार और वात्सलय दोनों भावों की व्यंजना हुई है।

चीर हरण लीला :– भागवत से लीला गान की मूल–प्रेरणा प्राप्त करने के कारण सूर चीरहरण को गोपी–कृष्ण शृंगार की प्रथम संयोग लीला मानते हैं क्योकि पनघट, रास तथा फाग के प्रकरणों में इस लीला का उल्लेख हुआ है। इस लीला के अन्तर्गत यमुना में स्नान करती युवतियाँ सूर्य से प्रार्थना करती हैं कि कृष्ण उनके पति हो। अन्तर्यामी कृष्ण उनकी इच्छा जानकर तथा सबका प्रेम देखकर, जल में

---

1. सूरसागर–पद संख्या 929. (ना० प्र० स०–पृष्ठ–429)
2. सूर सागर–पद सं०–945 पृष्ठ–297

ही प्रकट हो जाते हैं और तरुणियों की पीठ स्पर्श करने लगते हैं जिससे उनका व्रत पूर्ण हो जाता है तथा उनके तन की जलन मिट जाती है।[1] अतएव युवतियाँ आनन्दमग्न हो जाती हैं। जल में पीठ स्पर्श वाली घटना चीरहरण लीला की भूमिका के रूप में नियोजित हुई है।

कृष्ण दूसरे दिन यमुना में स्नान करती इन तरूणियों का चीरहरण करते हैं। इन सभी सुन्दरियों के वसन एवं आभरण का अपहरण कर, कृष्ण विस्तृत कदम्ब के वृक्ष पर चढ़ जाते हैं और उसकी शाखाओं, प्रति शाखाओं में बहुरंगी साड़ियों, चुनरियों को जहाँ तहाँ लटका देते हैं। तरूणियाँ शिशिर की शीत में कांप रही हैं और नाभि–पर्यन्त नीर में खड़ी होकर नितांत लज्जाग्रस्त हो, कृष्ण का यह अनुरोध सुन रही हैं–– कि तुम्हारा ब्रत पूर्ण हो गया है, अब पानी से बाहर निकल कर आओ। मैं चोली, चीर, हार सभी दे रहा हूँ। बाहें उठाकर विनय करो, मेरे सामने आ कर सभी श्रृंगार करो।

गोपियाँ नंगी बाहर निकलने में लज्जा का अनुभव कर रही हैं। अतः जल में ही बाहें उठाकर अंग दिखाने का प्रस्ताव वे करती हैं जिस श्याम अस्वीकृत कर देते हैं। वे आग्रह करते हैं कि गोपयाँ अपने उरोजों को बिना हाथ से छिपाये प्रदर्शित करें। अपनी कामना को फलवती देख तरूणियाँ कृष्ण के आग्रह का पालन करती हैं तथा अपनी व्रतोपासना का फल प्राप्त करती है –

सूर श्याम पति तुम तै पायौं, यह कहि धरहिं बहोरी।[2]

कृष्ण हंसकर कहते हैं कि मैं तुम लोगों का पति हूँ और तुम सभी हमारी पत्नियाँ हो। तुम्हारे कारण मैंने बैंकुण्ठ विसार कर व्रज में यह शरीर धारण किया है। मैं तुमसे कभी अलग नहीं होता। यहीं कृष्ण ने ब्रज तरूणियों को यह आश्वासन दिया कि वे शरद की रात में रास रचायेंगे, उन्हें अपने अंक में भर लेंगे तथा उनकी मनः कामना पूर्ण करेंगे।

---

1. सूरसागर – 1386 (पद) – 87. 9 (ना. प्र. स.) – पृष्ठ –419
2. सूरसागर – पद 1416.

पनघट लीला :— पनघट लीला में लोक प्रणय के तथ्य को देखा जा सकता है। कृष्ण ने इस लीला में अपने ग्वाल सखाओं को भी सम्मिलित किया है। जबकि चीरहरण और रास में अकेले हैं। सूर ने इस प्रकरण में कृष्ण की 'अंचगरी' का चित्रण किया हैं गोपियों का जल भरने के लिये तट पर जाना तथा कृष्ण की रूपछवि का उनकी आँखों में गड़ जाना, उनके पीतपट का नीचे फहराना—ये परिस्थितियाँ हैं जिन्होंने पनघट पर जाने वाली ब्रज—बालाओं को कृष्ण की दासी बना दिया है—

परी तब तैं ठगमूरि ठगौरी।
देख्यो मैं जमुना—तट बैठो ढौटा जसुमति कौ री।।

कृष्ण की अचगरी का रूप यह है : कभी वे पनघट पर रोक लेते हैं, कभी युवतियों का घड़ा पीछे से ढरका देते हैं, कभी जल भरकर आती तरूणी को अचानक अंक में भर लेते हैं[1] और ब्रज—तरूणियां भी निष्क्रिय नहीं हैं वह भी कृष्ण के साथ छेड़खानी करती हैं तो कृष्ण उन्हें चीरहरण—लीला का स्मरण करा देते हैं।

विसरि गई सुधि ता दिन की तोहि हरे सबनि के चीर
यह बानी सुनि ग्वारि विवस भई तन की सुधि विसराई।

पूर्व प्रसंग की याद दिलाकर प्रेमिका को विवश कर देना — यह सूर के प्रेम मनोविज्ञान का असांदिग्ध प्रमाण है। पनघट लीला में कुछ राधा के भी मोहक चित्र सूर ने अंकित किये हैं। गगरी सर पर रखे जाती हुई राधा—नागरी का ग्रीवा कैसे डोलती है, कैसे वह भौंहे हिलाती है तथा कपोलो पर छलक कर पड़ती बूंदों का चित्रण सूर ने किया है।

सखियन बीच नागरी आवै।
छवि निरखत रीझ्यो नदनन्दन, प्यारी मनहिं रिझावै।।

अनेक तरूणियों ने पनघट की रसीली अनुभूतियों से प्रभावित होकर कुल—लोक लाज इत्यादि की भावनाओं का परित्याग कर देने का संकल्प ले लिया है ओर कृष्ण में पातिब्रत्य बुद्धि रखने का निश्चय कर लिया है। इस प्रकार पनघट का शृंगार प्रणय लीलाओं के ललित, ह्दयवर्जक चित्रों से परिणूर्ण हो गया है। इसी

---

1. सूरसागर—पद **2051**

तरह दीन–लीला में कृष्ण गोपियों से अंगदान लेते है। यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या गोपियों का मिलन मानसिक है?

पहले कृष्ण गोपियों का मानसिक मिलन हुआ, उस मानसिक आत्मदान में गोपियों को यह बिल्कुल भान नहीं था कि वे किस प्रिय से मिली हैं? बाद में जब प्रिय का प्रकृत ज्ञान हुआ तब उन्होंने। अपने शरीर भी सौंप दिये और कृष्ण ने गुप्त रूप से उनके साथरमण किया, और यह प्रक्रिया संगत और स्वाभाविक इसलिये प्रतीत होती हे क्योंकि मन–मिलन की नैसर्गिक परिणति तन–मिलन में ही सम्पन्न होती हैं ।

गुप्त यौवन दान प्रसंग के बाद गोपियों ने प्रेम–पूर्वक कृष्ण तथा उनके सखाओं को जो माखन खिलाया हैं, वह सूर की सबसे महत्वमयी उद्भावना है। इस प्रकार सूर ने दानलीला में प्रीति–भोज की योजना की है। कृष्ण सखाओं सहित पत्तों के दोनों में दही–माखन खा रहे हैं। राधा का माखन तो कृष्ण ने विशिष्ट स्वाद एवं आनन्द के साथ खायाा है।

कृष्ण को प्रेमिकायें जब दही–माखन खिला रही हैं तो ऐसा जान पडता है जैसे ये वनितायें हमारे साधारण परिवारों को सुशोभित करने वाली कुलांगनायें हो जिनका प्रणय प्रसंग के बाद पति के स्वास्थ्य सुख की अभिलाषा से भूषित एवं सुरभित हो जाता है। इस प्रकार दान–लीला गोपी–कृष्ण में प्रेम की प्रौढावस्था का द्योतक है। लीला के आरम्भ में संकोच एवं औचित्य की भावना से अधिग्रस्त तरूणियाँ उसके अवसान तक, आत्मदानी पत्नियों के गौरव से मण्डित हो गयी हैं।

रास लीला :– रास लीला का प्रसंग भागवत से ग्रहण किया गया है। यदि चीर हरण गोपी–कृष्ण प्रेम प्रसंग में कृष्ण की आक्रामकता तथा गोपियों के वाध्यतापूर्ण समर्पण की कहानी है, तो रास विजित गोपियों की प्रणयदान की आतुरता एवं उनकी कठोर परीक्षा का प्रकरण है। 'मुरली' का शब्द सुनते ही गोपियाँ अपने सुत–पति को छोड़कर अस्त–व्यस्त अवस्था में कृष्ण– मिलन के लिये दौड़ पड़ती हैं, वहाँ पहुँचने पर कृष्ण उन्हें घर लौट जाने का उपदेश देते हैं गोपियॉ अत्यन्त

दैन्य भाव से अपनी आसक्ति का निवेदन करती है। तब कृष्ण प्रसन्न होकर रास आरम्भ करते हैं। इसी उल्लास के संदर्भ में राधा–कृष्ण का विवाह सम्पन्न होता है। बाद में गोपियों तथा राधा दोनों को अपने सौभाग्य पर गर्व होता है। जिसके फलस्वरूप कृष्ण अन्तर्धान हो जाते हैं, जब राधा एवं गोपियॉ विरह से नितांत विह्वल हो जाती हैं तब कृष्ण प्रकट होते हैं एवं रास नृत्य दूने उल्लास के साथ फिर आरम्भ हो जाता है। प्रातः काल तक यह लीला चलती है, कृष्ण एवं गोपियॉ यमुना में स्नान करते हैं ओर सभी ब्रज को लौट जाते हैं।

हिंडोल लीला एवं फाग लीला :– हिंडोल एवं फाग–लीलायें समष्टि शृंगार के संभोग पक्ष के एकांत आनन्दमय स्वरूप की निदर्शक हैं। इन लीलाओं में राधा–कृष्ण गोपियों तथा सम्पूर्ण ब्रजवासियों का सुख सागर एवं व्यापक सर्वनिष्ठ सममतल भूमि पर लहराने लगा है। जहाँ पर संकोच एवं प्रतिबन्ध की छाया तिरोहित हो गयी है। इसके साथ ही प्रकृति की सुषमायें इन क्रीड़ाओं के रस–प्रवाह में सहयोग का दान देती हुई चित्रित की गयी हैं। झूलने के अनेक अभिराम चित्र सूर ने इतनी तल्लीनता से अंकित किया है मानों सूर ने स्वंय इन आनन्द लीला में भाग लिया हो वे वर्णन करते हैं कि – शीतल मंद सुगंध पवन बह रहा है जिससे तरूणियों के अंचल उड़े जा रहे हैं और नयनों के मिल जाने से वे लजा जाती है कृष्ण झुलते–झूलते उनको कंठ से लगा लेते हैं।

फाग लीला में सभी क्रीड़ायें एवं रंगरेलियाँ हो सकती हैं उन सभी को फाग–लीला में समाविष्ट किया गया है। मोहन, हलधर एवं ग्वाल सखा बनठन कर होली खेल रहे हैं और फेटे में अबीर की झोली कसे, लाल गुलाल की राशि उड़ाये जा रहे हैं। दूसरी ओर ब्रज–बालाओं की टोली राधा के साथ पिचकारियों में रंगभरकर वहाँ पहुच जाती है एवं रंग डालने के लिये मचे संघर्ष में गोपियाँ कृष्ण की अभिभूत कर देती हैं तथा उनके पीताम्बर एवं राधा के नीलाम्बर में गांठ लगा देती हैं और हरि के ऊपर ढेर का ढेर रंगों का घोल उड़ेलने लगती है। सारे ग्वाल–बाल मिलकर राधा–माधव की जोड़ी को अलग कर देते हैं। फाग के इस चित्र में संयोग के आनन्द पक्ष के ही अधिक दर्शन होते हैं। होली सभी सुखों की

चरम परिणति हैं। और उसमें हरि के 'अन्तर का अनुराग ही' स्वच्छन्द भाव से प्रकट हुआ है।

राधा–कृष्ण संयोग :– कृष्ण राधा के प्रथम मिलन में एक नाटकीय दृश्य उपस्थित होता है–**'नैन–नैन मिलि परी ठगौरी'** स्नेह बढ़ा। नयनों ही नयनों में बात हुई। राधा को कृष्ण का निमंत्रण स्वीकार हुआ। राधिका ब्रज में 'फेरा' करने को राजी हो गई। दोनों एक–दूसरे से मिलने के बहाने ढूँढने लगे। उन्हें अब ज्ञात हुआ कि प्रेम का पंथ कितना कठिन होता है। राधिका घर जाकर अपनी माता से बोलती है–यदि मुझे वहाँ देर भी हो जाय तो तुम चली मत आना। और जब गायों एवं ग्वालों के बीच पहुंची तो

देखे जाई जहाँ हरि नाहीं, चकृत भई सुकुमारि।
कबहूँ इत कबहू उत डोलति लागी प्रीति खँमारि।।

इतने में नन्द जी अपने कुमार को लेकर आ पहुंचते हैं । लो वृषभानु की बेटी कृष्ण के साथ खेलो। नागरी राधा को तो यही चाहिये था उसने इस अवसर का पूर्ण लाभ उठाया और बोली– **बाँह तुम्हारी नैकु न छाँड़ो, महर खीझिहैं हमकौं।** इस तरह उनका प्रेम बढ़ता गया और एक दिन तो–**"जबहिं सरोज घर्यों श्री फलपर, तब जसुमति गई आई।"** किन्तु तभी कृष्ण ने स्थिति सँभाल ली। और नागर होने का प्रबल प्रमाण दिया–देखो माँ इसने मेरी गेंद चुरा ली, अब देती नहीं। राधा बोली –**"काहे को झकझोरत नोखे, चलहु न देउँ बताई।"**

कृष्ण और राधा श्रृंगार की नूतन स्थिति को प्राप्त कर रहे थे। अर्थात उन दोनों में सब कुछ नवीन था। आचार्य विश्वनाथ ने भी कहा है कि कामदेव के अंकुरित होने को 'श्रृंग' कहते हैं और इस उद्‌भव की उत्पत्ति का कारण श्रृंगार कहलाता है। कृष्ण–राधा इसी अवस्था को प्राप्त कर रहे थे। इसलिये लालसा की उद्यामता में कोई कमी क्यो हो? कृष्ण को आलिंगन करते समय हार विघ्न बनने लगा तो राधा ने उसे उतार दिया।[1] परस्पर चुबंन में उनकी शोभा दर्शनीय थी–

---

1. सूरसागर – 10/686,687 (ना.प्र.स.)– पृष्ठ सं० 401

चुबंत अंग परस्पर जनु जुग, चंद करत हित–चार।

और फिर–'**दसननि बसन चाँपि सु चतुर अति करत रंग विस्तार।**' और तब–'**गुन–सागर अरू रस–सागर मिलि, मानव सुख व्यवहार।**' और अंत में दोनों के वस्त्र शिथिल थे, वे सम का सुख अनुभव कर रहे थें कभी एक दूसरे के कंधे पर हाथ रखकर और कभी एक दूसरे की पीक में अपने कपोल रंगकर मानो वे मदन की ज्वाला फिर 'प्रजारन' करने में लगे थे। ऐसे में राधिका कृष्ण के पीछे क्यूं रहेंगी–**अपनी भुजा श्याम भुज ऊपर, श्याम भुजा अपने उर धरिया।** और वे दोनों –

यो लपटाई रहे उर–उर क्यों।
मरकत मनि कंचन में जरिया।।

रति समय में राधा की शोभा का वर्णन करने में कवि सूर ने उपमाओं का अंत कर दिया है। एक उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य है। अति सूक्ष्म कटि, विशद नितंम्ब, भारी पयोधर बाली सुकुमारी राधा जब 'कन्दुक–केलि' करती हैं तो उसका चंचल अंचल हट जाता है और फटी कंचुकी ओर सटे कुच दिखाई देने लगते हैं। और तभी दोनों के मिलाप से ऐसा जान पड़ता है मानो नव जलद ने विधु को बन्धु बना लिया है। और नभ में अनियारी कला का उदय हो गया है।

एक दिन राधा की गाय दोहते समय कृष्ण को मजाक सूझा तो एक धार तो दोहनी में डालने लगे और दूसरी प्यारी के मुख पर। दूध के समान उजली गोरी का मुख दूध से नहा गया। इस प्रकार उनका विनोद चलता रहा। ओर अब अलग होने लगे तो राधिका के पांव अपने घर की ओर चलते ही न थे। मोहन ने उसे मोह लिया था। वह अचेत हो भूमि पर गिर पड़ी ओर सखियॉ उसे घर लायी। यहाँ सूर के संयोग चित्रों को शास्त्रीय दृष्टि से विचार किया गया है।

संस्कृत काव्य शास्त्र के अनुसार शृंगार रस के दो भेद होते हैं– संयोग और विप्रलम्भ पं० जगन्नाथ ने संभोग को संयोग नाम दिया है ये। दोनों शब्द परस्पर पर्याय हैं। पं० रामदहिन मिश्र ने संभोग ओर संयोग में एक विभाजन रेखा खींची है–"जहाँ नायक और नायिका को संयोगावस्था में पारस्परिक रति होती है, वहाँ संयोग शृंगार होता है" यहाँ संयोग का अर्थ संभोग सुख की प्राप्ति है, 'जहाँ नायक

और नायिका की संयोगावस्था में पारस्परिक रति होती है, पर संभोग सुख प्राप्त नहीं होता, वहाँ संयोग श्रृंगार होता है। ये परिभाषाये देकर उन्होंने आलिंगन, चुंबन आदि की स्थिति को संभोग श्रृंगार के अन्तर्गत माना है और परस्पर अवलोकर आदि की स्थति को संयोग श्रृंगार के अन्तर्गत और मम्मट ने भी आलिंगन अधरपान, परिचुवंन आदि के साथ परस्परावलोकर को भी संभोग श्रृंगार का विषय मान लिया है। आचार्य विश्वनाथ का भी यही मत है।

इस दृष्टि सूर के काव्य के उपरोप्त वर्णित सभी चित्र संभोग (अथवा संयोग) श्रृंगार रस के अन्तर्गत आयेंगे। यहाँ पर कृष्ण और राधा की रति को देवादि विषया न मानकर कान्त कान्ता–विषया रति मानकर ऐसा कहा गया है। साहित्य शास्त्र के सिद्धान्तानुसार मान अथवा किसी अन्य कारण से उत्पन्न क्रोध और नायक–नायिका के दूर बसे होने पर पारस्परिक रति रहने की अवस्था में तो विप्रलम्भ श्रृंगार स्वीकृत किया ही जाता है। उनके पास–पास एक ही तल्प पर रहने की अवस्था में भी ईर्ष्या आदि के कारण मिलन न हो सकने पर, यह वर्णन विप्रलम्भ श्रृंगार के अन्तर्गत आता है। राधा के मान–प्रसंग का यहाँ एक दृश्य देखा जा सकता है–

आलिंगन दै अधर दशन खँडि कर गहि चिबुक उठावत।
नासा सो नासा लै जोरत नैन नैन परसावत ।
यहि अन्तर प्यारी उर निरख्यो झझकि गई तब न्यारी।।
सूर श्याम मोको दिखरावत उर लाये धरि प्यारी।[1]

कृष्ण ने समझाया–अपराध के बिना मान करती हो। अपनी ही छाया मेरे ह्रदय में देखकर मुझे अपराधी ठहराती हो' पर राधा को विश्वास नहीं आया। बोली–

मोहि छुवौ जनि दूर रहौ जू।
जाके ह्रदय लगाई लइ है, ताकि बाँह गहौ जू।[2]

निः संदेह ऐसे उदाहरण विप्रलम्भ श्रृंगार के अन्तर्गत मान लिये जायेंगे। पर जिनके अंत में मान शमन के उपरान्त परस्पर मिलन हो जात है, उन्हें संभोग श्रृंगार मानना चाहिये। जैसे :– कृष्ण के अंगों पर राधा ने रति चिन्हों को देखा तो वह

---

1. सूरसागर (ना.प्र.स. 10/2412–पे0 1015 पद सं० (ना. प्र. सं.) पृष्ठ 1016.
2. सूरसागर (ना.प्र.स. 10/2412–पे0 1015 पद सं० (ना. प्र. सं.) पृष्ठ 1016.

मान कर बैठी। कृष्ण संकोच में वापस चले आये पर उन्हें चैन कहाँ? दूती को भेजना तो व्यर्थ ही गया। फिर अंत में अकुलाकर स्वंय क्षमा मागँने पहुच गये और परस्पर दर्शन होते ही दोनों मुस्करा पड़े। इस प्रकार विप्रलम्भ की स्थिति संभोग में परिणत हो गई।

ये चित्र कृष्ण और राधा के एकांतिक मिलन के थे। इसके अतिरिक्त पनघट–लीला, दान–लीला, रास, बसंत, फाल्गुन, होली और जल क्रीड़ा–सभी में राधा को केन्द्र बनाया गया है। केवल चीरहरण लीला में राधा को स्थान दिया गया है। इन सभी लीलाओं का चित्रण इससे पहले किया जा चुका है। और रास लीला में सूर ने कृष्ण और राधा का विवाह रचाकर राधा को स्वीकीया रूप में प्रस्तुत किया है। बसंत, होली, जल, क्रीड़ा आदि लीलाओं में राधा–कृष्ण भाग लेते हैं। और गोपियॉ केवल दर्शन से ही आनन्द लेती हैं।

इस प्रकार हम देखते है कि संभोग शृंगार का वर्णन करने में सूर ने सहज स्वच्छन्दता का ही परिचय दिया है। चाहें गोपियों की सामूहिक लीलायें हों चाहे राधा–रमण का एकांत प्रसंग हो। सूर की लेखनी संकोच करना नहीं जानती। सुख–विलास के वर्णनों में सूर को संतोष नहीं होता। सहजानूभूति जहाँ तक पहुच सकती है, वहाँ तक सूर की रस–अन्वेषिणी प्रतिभा पहुंचती है और लीला शृंगार की समस्त भावनाओं का अनुसंधान कर उसका मोहक चित्र अंकित करती है। सूर की अपनी आत्मा का दैन्य मानो इस संभोग चित्रणों की रस धारा में बह जाता है और वे कृष्ण की समस्त केलियों के अत्यन्त विश्वस्त एवं राधा कृष्ण के अन्तरंग गायक बन जाते हैं।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या सूर का यह वर्णन ऐन्द्रिक वासना से परिपूर्ण हैं? क्या यह घोर श्रृंगारिक काव्य है? क्या इसी काव्य के आधार पर श्रृंगारिक कवि न कहकर भक्त कवि कह सकते है? यहाँ पर इसका समाधान करने का प्रयास किया गया है। एक समाधान तो यह है कि कृष्ण और राधिका छोटी आयु के हैं और गलियों मे खेलने वाले बालक–बालिका हैं।

खेलन कबहुँ हमारे आवहु, नन्द सदन ब्रजगाँउँ।

राधा तो स्पस्टतः सात बरस की ही बालिका है–

भई बरस सात की, शुभ घरी जात की।[1]

कृष्ण के प्रथम मिलन में भी राधा को 'दिन थोरी' कहा गया है। चीरहरण की लीला के पश्चात गोपियाँ यशोदा के पास कृष्ण की उद्दण्डता की शिकायत करने चलीं तो यशोदा ने कभी विश्वास नहीं किया कि उसका दस वर्षीय बालक ऐसे कार्य भी कर सकता है। जो बालक यशोदा के लिये अल्प वयस्क है वही राधा ओर गोपियों के लिये युवकवत् व्यवहार करता है। उसकी लीला का सबसे बड़ा यही महात्म्य है। सूर का शुद्धाद्वैती दृष्टिकोण ही इसके लिये उत्तरदायी है।

इस समस्या का दूसरा समाधान यह है कि इन सभी प्रसंगों का–चीरहरण, दानलीला, दान पनघट आदि सभी लीलाओं का–सम्बन्ध आध्यात्मिक हैं। कृष्ण परमब्रह्महैं, गोपियाँ जीवात्मा है, मुरली भगवान की 'पुष्टि' है जो मनुष्य को समय–समय पर सचेत करती है, और संसार से सम्बन्ध छुड़ाकर अपनी ओर आकृष्ट करती है।

पनघट लीला का रहस्य यह है कि गोपियों को–जीवात्माओं को–अन्त में संसार त्यागकर कृष्ण की–परमब्रह्मकी शरण में जाना पड़ा। चीरहरण लीला में गोपियों ने जीवात्माओं ने आनन्दभाव से जब अपनी गोप्यतम निधि परम–ब्रह्मको अर्पित कर दी, तभी उन्हें भगवान का नैकट्य प्राप्त हो सका। दान–लीला में भी यही रूपक है। परम ब्रह्मने गोरस (दही) के ब्याज से गोरस (इन्द्रियों का विषय रस) माँगा और वह उसे समर्पित कर दिया गया।

इन्द्रिय जन्य वासना को समर्पित करके ही जीव उसमें आत्मसात हो सकता है। रासलीला में 'रास' शब्द का अर्थ है–आनन्दमयी लयावस्था। सूर के इस काव्य की सभी जीवात्मायें परमब्रह्ममें लीन होकर आनन्दमयी बन गयी है।

---

1. सूरसागर – पद सं० – 699 पृष्ठ 404,

इसी प्रकार कृष्ण और राधा में भी आध्यात्मिक संबंध है। कृष्ण परम ब्रह्महैं राधा उन्हीं की प्रकृति या शक्ति है। इधर गोपियाँ जीवात्माओं का प्रतीक हैं। राधा इनकी प्रकृति और ये राधा की विकृति हैं। यहीं कारण है कि ये परमब्रह्म(कृष्ण) और उसकी शक्ति (राधा) के संयोग होने पर तनिक भी ईर्ष्या नहीं करती। वरन् आनन्दमयी हो उठती हैं।

इस प्रकार इस आध्यात्मिक रूप को संभोग–श्रृंगार का रूप देना भक्त सूर का कार्य नहीं है, कवि सूर का कार्य हैं भक्त सूर के सामने महाप्रभुबल्लभ का आदर्श है, जहाँ वह कृष्ण को बाल और सखा के रूप में देखते हैं।

कवि सूर के सामने भागवत पुराण, जयदेव और चण्डीदास आदि के काव्यों का आदर्श है। युगल–भक्ति के स्वरूप से भक्त सूर का हृदय प्रभावित हुआ और कवि सूर के कवित्व ने राधा और कृष्ण के मिलन को एक कथा के सूत्र में जोड़कर नन्द पत्नी, वृषभानु पत्नी और गोपियों को भी जोड़ दिया। कवि का सरस हृदय बाल कृष्ण को युवा कृष्ण के रूप में राधा का चुम्बन और आलिंगन करते हुये देखने को मचल उठा। इन मिलन से उधर यदि गोपियाँ प्रसन्न होती हैं तो उन्हीं के अनुकूल इधर सूर का भक्त हृदय भी प्रफुल्लित हो उठता है।

लेकिन आज का पाठक सूर के संयोग चित्रों को संभोग–श्रृंगार रस के उदाहरण मान लेता है, भक्ति रस के नहीं किन्तु जब तक एक भक्त हृदय पाठक और एक मर्मज्ञ आलोचक सूर के स्वर में स्वर मिलाकर उन्हीं के अनुरूप जब परमब्रह्मऔर प्रकृति के संयोग में पूर्ण विश्वास, श्रद्धा और आस्था रखकर सूर के संयांग चित्रों की परख करता है तो उसे विद्यापति आदि के संयोग चित्रों के समान संभोग श्रृंगार की गंध तक नहीं आती और इसी तथ्य में कृष्ण के प्रति सूर के अनुराग और निष्ठा की विजय निहित है। ऐसी स्थिति में सूर को खरी–खोटी सुनाने का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता, उन्हें 'महान भावुक भक्त कवि' की पदवि से आभूषित कर दिया जाता है।

सूर का वियोग प्रेम :– वियोग प्रेम का साधना काल है, जिसमें चेतना का प्रसार होता है। व्यक्ति की चेतना लोक में फैलकर कण–कण से आत्मीय संबंध स्थापित करती हुई दिखाई पड़ती है। विरह में प्रेम राशिभूत होकर प्रगाढ़ हो जाता है, तथा प्रेमानुभूति की मात्रा और उसकी पीड़ा बढ़ जाती है। विरह प्रेम की सात्विक अवस्था है जहाँ प्रेम की गति स्थूल से सूक्ष्म की ओर होती है। यहाँ प्रेमी शरीर से विलग होकर भी भावना के स्तर पर सदा संयुक्त रहते हैं। विरह में सूर की आत्मा स्वयं द्रवित होकर रसमय काव्य बन गई है।

वात्सल्य एवं श्रृंगार सूर के प्रधान विषय रहे हैं। श्रृंगार के संयोग एवं वियोग पक्ष दोनों में ही उत्कृष्टता का पराकाष्ठा है। उनके कृष्ण चरित के निरूपण में वात्सल्य और संयोग श्रृंगार वियोग की भूमिका मात्र है। कवि ने वात्सल्य और संयोग–रति के द्वारा कृष्ण को गोपियों के तन–मन में रमा दिया है, उनसे अभिन्न कर दिया है। गोपियों से ही नहीं, ब्रज के पशु–पक्षियों से भी, ब्रज के लता–पताओं से भी। जैसे ही संयोग भाव पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है वैसे ही वियोग उपस्थित हो जाता है। सूर का वियोग वहाँ से शूरू होता है जब कृष्ण गोकुल से मथुरा चले जाते है अक्रूर उनको लेने आते हैं, उसी समय से ब्रज में हलचल मच गयी। यशोदा बार–बार पूछती हैं ––

यशोदा बार–बार यों भाखै।
है कोउ ब्रज में हितू हमारौं, चलत गुपालाहिं राखै।।

किन्तु कृष्ण मथुरा चले गये और गोपियों को अत्यन्त विरह दे गये। गोपियाँ मथुरा जा सकती थी लेकिन वे कृष्ण को उस रूप मे नहीं पाती, जिस रूप में उन्होंने उन्हें गोकुल में देखा था। फिर प्रेम कितना ही अन्धा अथवा पागल क्यों न हो, वह अपनी प्रतिष्ठा नहीं गँवा सकता मान प्रेम का सबसे दृढ़ आधार हैं गोपियाँ मथुरा नहीं जा सकती थी। यही कारण है कि कृष्ण ने कभी भी यह संदेश गोपियों के पास नहीं भिजवाया कि वे मथुरा आ जाँय। सूर के विरह में तीन प्रकार के पात्र दिखाई देते हैं। एक हैं माता–पिता, दूसरे है गोपियाँ एवं तीसरी राधा। माता पिता का विग्रह वात्सल्य विरह है। यशोदा जी कहती हैं कि कंस उसका सर्वस्व छीन ले, उसे बंदी बना ले, केवल कृष्ण को उसकी आँखों के आगे खेलने दें।

"वरू ए गोधन हरौ कंस सब मोहि बंदि लै मेलै।"

जब कृष्ण मथुरा जाने को तत्पर हो गये तो यशोदा एक पल के लिये कृष्ण का मुँख देखना चाहती हैं।

मोहन नैकु बदन तन हेरौ[1]
राखौ मोहि नात जननी कौ, मदन गोपाल लाल मुख फेरौ।

माता के ध्वस्त हृदय की व्यावहारिक पीड़ा इन शब्दों में झांक रही है। यशोदा जिस मातृत्वगर्व में फूली नहीं समाती थीं, उसी मातृत्व गर्व की समाधि स्वंय यशोदा ही बन गयीं। क्या यह स्वर उसी यशोदा का है जो कभी कहती थी–

"सूरदास मो गोधन की सौं हौं माता तू पूत।"

यशोदा की अंतिम अभिलाषा और लालसा केवल कृष्ण के दर्शन की है। यशोदा ने अत्यन्त विनय और दीनता के साथ देवकी के पास संदेश भिजवाया–

संदेशौ देवकी सौ कहियौ
हौं तो धाय तिहारे सुत की, दया करत ही रहियौ।[2]

गोपी विरह :– गोपियों के प्रेम की अवस्था कुछ और ही है। उनके भावों की कोई सीमा नहीं है। गोपियों के विरह की सूर में दो अवस्थायें विशेष उग्र मिलती हैं–एक प्रतीक्षा की एंव दूसरी निराशा की। उद्धव के ब्रज आगमन से पूर्व तक की अवस्था प्रतीक्षा के विरह की अवस्था है उसके बाद की निराश विरह की। कृष्ण के चले जाने से ब्रज की क्या अवस्था हो गयी है—

कहाँ लौं कहिये ब्रज की बात।
सुनहु श्याम ! तुम बिन उन लोगन, जैसे दिवस विहात।।

गोपियाँ जिधर दृष्टि डालती हैं उधर ही उन्हें कृष्ण का स्मरण हो आता है। वे विश्वास नहीं कर सकतीं कि वियोग में किसी वस्तु की दशा पूर्व जैसी ही रह सकती है, तभी वे मधुवन के हरा–भरा देखकर पूछती हैं–

मधुवन तुमकत रहत हरे।
विरह–वियोग श्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे।
वह चितवनि तूं मन न धरत है, फिर–फिर पुहुप धरे।

---

1. सूरसागर पद संख्या – 3609 (ना.प्र.स.) पृष्ठ सं० 1194
2. सूरसागर (ना.प्रा.स.) पद सं० 3794 पृष्ठ सं०–1194

वियोग में उनकी विषम स्थिति और भी विडम्बनापूर्ण उस समय हो जाती है, जब कृष्ण की 'पाती' आती हैं वह अपने पत्र को पढ़ने के लिय व्यग्र हो जाती हैं पर यह पाती भी विरह की कॉंती बन जाती है। छुरी बन जाती है, दुख का उद्वेग और बढ़ जाता है और अवस्था यह होती है कि –

नैन सजल कागद अति कोमल, कर अँगुरी अति ताती।
परसैं जरैं विलौकैं भीजैं, दुहु भाँति दुख छाती।।

इस प्रकार प्रतीक्षा में दिन बीत रहे थे। प्रतिदिन प्रतीक्षा थी कि कृष्ण आयेंगे किन्तु तभी वर्षा ऋतु आ गई। बादलों को उमड़ता देख गोपियों के मन में एक हूक उठी, उन्होंने कहा –

वरू ये बदराऊ बरसन आये।
अपनी अवधि जानि नँद, नन्दन, गरजि गगन धन छाये।
सूरदास प्रभु रसिक–सिरोमनि, मधुवन बसि बिसराये।

गोपियों के ह्रदय टूट रहे हैं। विरह विषाद की ज्वाला से ब्रज जल रहा है। पशु–पक्षी भी पलायन कर गये हैं। तभी उद्धव 'कृष्ण की जैसी भूषा' में गोपियों को समझाने आते हैं निर्गुण ओर योग का संदेश सुनाने, पर उद्धव का संदेश गोपियों के जले पर नमक छिड़क देता है। वे कल्पना भी नहीं कर सकतीं कि कोई इस विरह में इस प्रकार के संदेश देने की घृष्टता भी कर सकता है। उनकी पीड़ा कटाक्ष–व्यंग–उपहास में परिणत हो उठती है, वे कहती हैं–

ऊधौ मन न भये दस–बीस।
एक हुतौ सो गयौ श्याम संग की अनवराधे ईस।

गोपियों को उद्धव के उपदेशों से संतोष नही हो रहा है–**"अखियाँ हरि दर्शन की भूखी"।**

इन गोपियों को ब्रज के कुंज अग्निपुंज हो गये हैं। उनकी शीतलता दाहक हो गयी है। उन गोपियों को लगता है–

वृथा बहति जमुना, खग बोलत, वृथा कमल फूलें, अलिगुंजैं
पवन, पानि घनसार, सँजीवन, दधि–सुत किरन भान भई भूजैं।

गोपियाँ उद्धव से कहती हैं–**"निर्गुन कौन देस कौ वासी"** आगे वे कहती हैं–**उधौ मन नहिं हाथ हमारे'** राधा का विरह तो यहाँ देखने योग्य है–**अति मलीन वृखभानु कुमारी।**

इस प्रकार गोपियों से सम्मानित और निरादृत होकर उनके प्रेम की गहराई की वियोगानुभूति से प्रभावित होकर उद्धव अपनी ज्ञान–गरिमा खो बैठे। उद्धव ने कृष्ण को ब्रज लौटने की बात कही, पर ब्रज लौटना कहाँ? वे तो मथुरा छोड़कर द्वारका चले गये। जो निराशा जन्य विरह उधौ के आगमन से आरम्भ हुआ, उसकी पराकाष्ठा इस संवाद से हुई कि कृष्ण द्वारका चले गये। और भी दूर चले गये। तब गोपियों ने निराश होकर कहा–

नैना भये अनाथ हमारे।
मदन गोपाल उहाँ तै सजनी, सुनियत दूरि सिधारै।

इस प्रकार सूर जैसे महाकवि ने अपनी पूरी शक्ति से इस वियोग की प्रत्येक दशा के साथ हृदय की पीड़ा का चित्र देना चाहा है। इस प्रकार भ्रमर गीत का मनोवैज्ञानिक पक्ष मानव–मानस के अन्तस्तल की गतिविधि का द्योतक है। मन और बुद्धि का द्वन्द्व शाश्वत है। सूरदास ने मन और बुद्धि के द्वन्द्व में मन या भावना या अनुभूति को ही विशेष महत्व दिया है। जिससे जीवन सृजन शील बनता है। कोरा बुद्धिवाद मानव के लिये घातक है। एक और महत्व पूर्ण विशेषता भ्रमरगीत में यह है कि इसमें प्रेम का सहज चरम विकास दिखाई देता है एवं मन का उदात्तीकरण एवं कृष्ण के प्रति समर्पण का भाव दिखाई देता है। कृष्ण के विरह में राधा कृष्ण ही बन गई हैं राधा का अस्तित्व, उनकी आत्मा कृष्णमय है। लगता है कि यह चिरंतन नारीत्व और चिरंजन पुरूषत्व का पूर्ण एकात्म्य है मन, बुद्धि और आत्मा का पूर्ण एकीकरण है।

यह ज्ञान की सर्वोच्च अवस्था है जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाते हैं यह भक्ति की चरम दशा हैं जहाँ भक्त और भगवान का भेद मिट जाता है। यही प्रेम की अनुभूति की उच्च दशा है जहाँ प्रेमी और प्रेमिका के व्यक्तित्व और अस्तित्व का पार्थक्य समाप्त हो जाता है। दुनिया के महान साहित्यकारों की रचनाओं में प्रेम की अनुभूति की इस दशा की बार–बार व्यंजना हुई है।

सूर की भावानुभूति की सबसे बड़ी विशेषता–सम्पूर्ण काव्य में भाव ऐक्य है। सूर ने 'सूरसागर' में संवेदना के उपादानों को इस प्रतिभा से सुसज्जित और नियोजित किया है कि इसमें प्रत्येक पद की प्रत्येक पंक्ति से एक ही भाव प्रकट होता है और वह भाव है– प्रेम। सूर के काव्य में प्रेम और भक्ति में कोई भेद नहीं है।

गोस्वामी तुलसीदास :– राम के प्रति तुलसी की भक्ति ही उनका प्रेम हैं इस प्रेम के वास्तविक रूप को समझने के लिये तुलसी की भक्ति एवं दर्शन का विवेचन आवश्यक है।

"तुलसी का युग भक्ति आन्दोलन का युग था। उस युग में हिन्दी कविता का प्रवाह राजकीय क्षेत्र से हटकर भक्तिपथ और प्रेमपथ की ओर चल पड़ा था।"[1]

तुलसीदास सगुणोपासक राभक्त थे। उन्होंने युग धर्म को पहचाना और गुण की आवश्यकता के अनुसार रामभक्ति का आदर्श प्रस्तुत किया। वे व्यक्तिगत मोक्ष के साथ लोककल्याण के भी अभिलाषी थे। उन्होंने अनुभव किया कि लोक कल्याण संग्रह के लिये निर्विशेष निर्गुण ब्रह्मआवश्यक नहीं है। विश्व को ऐसे ईश्वर की आवश्यकता है जो दीन दुखियें की पुकार सुन सके, तत्काल उनकी रक्षा कर सके।

परिस्थिति के अनुसार आवश्यक था कि जनता को लोकरक्षक–वर्णाश्रम, धर्मपालक धनुर्धर राम की आवश्यकता है जो अधर्म का नाश करके धर्म की प्रतिष्ठा कर सके। अतः तुलसी ने मार्यादापुरूषोत्तम राम के प्रति दास्य भक्ति का गौरव–गान किया।

रामचरित मानस में तुलसी दास ने भक्ति की भूमि निरूपति कर दिया। प्रथम सोपान के अंत में लिखते हैं –

सिय रघुवीर बिवाहु, जे सप्रेम गावहिं सुनहिं।
तिन्ह कहुँ सदा उछाहु, मंगलायतन रामजसु।।[2]

द्वितीय सोपान के अंत में कहते हैं –

भरत चरित करि नेमु, तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय–राम पद पेमु, अवसि होइ भव रस विरति।।[3]

तृतीय सोपान के अंत में गोस्वामी जी कहते है –

---

1. राम चन्द्र शुक्ल–गोस्वामी तुलसी दास पृ० सं० 1
2. बालकाण्ड–सो० 361, पृष्ठ–179
3. आयो० सो० – 326 पृष्ठ–317

"रावनारि असु पावन, गावहिं सुनहिं जे लोग।
राम भगति दृढ़ पावहिं, बिनु बिराग जप जोग" ।।[1]

इस प्रकार तुलसी दास ने 'मानस' में भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ माना है। वो कहते हैं कि मनुष्य जितना भी ज्ञान–दीप जला ले लेकिन वह परम प्रकाश नहीं पाता किन्तु रामभक्ति तो परम प्रकाश रूप है उसके लिये न तो दीप की आवश्यकता है और न घृत की ही। वे आगे कहते है –

भक्ति को छोड़कर जो लोग ज्ञान का सहारा लेते हैं वे कामधेनु को छोड़कर मदार में दूध खोजने जाते हैं। भक्ति की विशेषता वह बतलाते हैं –

धर्म ते विरति योग ते गयाना।
ग्यान मोच्छ प्रद वेद बखाना।।
जातें वेगि द्रवउँ में भाई।
सोमम भगति भगत सुखदाई।।
सो संतुत्र अवलम्ब न आना।
जेहि आधीन ग्यान–विज्ञाना।।
भगति तात अनुपम सुख मुला।
मिलइ जो संत होइ अनुकूला।।

इस प्रकार तुलसी दास जी भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हैं। यह भक्ति की श्रेष्ठता क्या है? उसका महत्व क्या है? मानस मे प्रारम्भ में ही उन्होंने कहा है –

भवानी शंकरौ वंदे श्रद्धा विश्वास रूपिणौ।
याभ्यां बिना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वात्तः स्थमीश्वरम्।।

भक्ति के लिये श्रद्धा की आवश्यकता होती है एवं श्रद्धा का संबंध हृदय से होता है। इस प्रकार भक्ति का इतिहास मनुष्य के हृदय का इतिहास है।

जहाँ पूर्व संस्कार से भक्ति का उदय होता है, अन्य बातें तो निमित्त मात्र होती है। अन्य सभी साधन उद्दीपन मात्र हैं।

---

1. अरण्य काण्ड दोहा–46 (क) पृष्ठ–349

मानव की चेतना में ही व्यक्ति का उदय होता है। मनुष्य में यह चेतना जब तीव्र हो जाती है तो अंश, अंशी को ढूँढने लगता है अर्थात अपने मूल को ढूढने लग जाता है। किसी न किसी दिन वह चेतना अपने मूल की ओर मुड़ती है परन्तु श्रद्धा के बिना यह सम्भव नहीं है। श्रद्धा क्या है? श्रद्धा का तात्पर्य है जहाँ "हृदय को उठाकर रख दिया जाय"। श्रद्धा में तर्क का कोई स्थान नहीं होता। श्रद्धा स्थित्यात्मक रूप है और विश्वास 'डायनिमिक' या 'गत्यात्मक'। जब श्रद्धा होती है तो विश्वास का प्रादुर्भाव होता है। हृदय उसको चलाने लगता है। श्रद्धा विश्वास रूप में चलने लग जाती है और वहीं भक्ति का उदय होने लगता है।

मानव जीवन में ही इष्ट का प्रश्न आता है और यह प्रश्न श्रद्धा से आता है। श्रद्धा के कारण ही हम अपने मूल की ओर बढ़ जाते है। यह मूल ही वस्तुतः सारी भक्ति का कारण है।

भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ इसलिये माना गया है क्योंकि भक्ति भाव पर अवलम्बित है और भाव की यह विशेषता है कि उसमें स्थायित्व होता है। इसमें प्रभु स्मरण बराबर होता रहता है। इसी भाव को "अनपायनी भक्ति" कहते हैं। इसका क्षय कभी नहीं होता है।

इस प्रकार स्पष्ट हो गया कि भक्ति का स्वरूप प्रेम है जैसा कि नारद के भक्ति सूत्र में वर्णित है। प्रभु के प्रति परम प्रेम ही भक्ति है शाडिल्य में भी ईश्वर में परम अनुरक्ति को ही भक्ति कहा गया है।

भक्त भगवानमय हो जाय यही भाव ही भक्ति है भारतीय चिंतन में भक्ति का व्यवहारिक पक्ष अधिक निरूपति हुआ है –

प्रीति राम सों नीति पथ चलिय राग रिस जीति।
तुलसी संतन के मतें इहै भगति की रीति।।

प्रस्तुत पंक्तियों में भक्ति का निरूपण करते हुये तुलसी ने दो महत्वपूर्ण बातों पर जोर दिया है–एक तो राग विषय, दूसरे नीति–पालन। संसार के लौकिक पदार्थों के प्रति रहने वाली आसक्ति को राग कहते है।

नीतिपालन का अभिप्राय है–नैतिक मान्यताओं, परम्परागत मूल्यों का पालन। नैतिक नियमों का पालन भक्ति के उदय मे साधक होता है। इस विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि भक्ति वस्तुतः ईश्वर विषयक प्रेम है।

तुलसी ने भक्ति के लिये प्रेम, प्रीति, रति स्नेह, अनुरागादि शब्दों का प्रयोग किया है। जब इन शब्दों को आराध्य के प्रति जोड़ दिया जाता है तो वह भक्ति का रूप धारण कर लेता है। राम की भक्ति के विषय में कवि ने प्रेम के अतिरेक को आवश्यक माना है–

कामहिं नारि पियारि जिमि लोभिहिं प्रिय जिमि दाम
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोंहि राम।

भक्ति विषयक प्रेम के अतिरेक को व्यक्त करने के लिये कवि ने लौकिक उपमानों का आश्रय ग्रहण किया है। उपमानों की सार्थकता देखते ही बनती है। प्रेम का यह परम पवित्र क्षेत्र सात्विकता अवलम्बित है।

तुलसी दास जी कहते हैं कि राम की कृपा से भक्त के हृदय में भक्ति अपने आप उदित हो जाती है। गोस्वामी श्री लक्ष्मण की प्रार्थना पर राम के मुख से कहलाते हैं।

भगति कि साधन कहौं बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी।।
प्रथमहि विप्र चरन अति प्रीति। निज–निज धर्म निरत श्रुति रीती
श्रवनादिक नव भगति दृढ़ाही। मम लीला रति अति मन माहीं।
संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम वचन भजन दृढ़ नेमा
गुरू पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोंहि कहँ जानै दृढ़ सेवा।
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गद्गद गिरा नयन बह नीरा।।
काम आदि मद दंभन जाके। तात निरन्तर बस मैं ताके।।
वचन कर्म मन मोरि गति, भजनु करहि निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ, करउँ सदा विश्राम।

तुलसी दास जी ने नवधा भक्ति का भी उल्लेख मानस में किया है–नवधा भक्ति 'भागवत' में इस प्रकार बतायी गयी है ––

श्रवणं कीर्तन विष्णों : स्मरणं पादसेवनम
अर्चनं वंदनं, दास्यं, संख्यं आत्मनिवेदनम्

तुलसी दास जी की अपनी प्रतिभा ही कही जायेगी कि उन्होंने परम्परागत नवधा भक्ति को एक नया रूप दिया। श्री रामचन्द्र जी के मुख से उन्होंने उत्तर काण्ड में नवधा भक्ति का वर्णन इस प्रकार करवाया है–

नवधा भक्ति कहऊं तोहिं पाहीं। सावधान सुनु धरू मन माहीं।
प्रथम भगति संतन कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।।
गुरू पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान
चौथि भगति मम गुनगुन, करइ कपट तजि गान।।
मंत्र जाप मम–दृढ़ विश्वासा। पंचम भजन सो वेद प्रकासा।।
छठ दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरन्तर सज्जन धरमा।।
सातवं सम मोहिमय जग देखा। मोंते सन्त अधिक करि लेखा।।
आठवं जथा लाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा।।
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हिय हरष न दीना।।[1]

इस प्रकार तुलसी दास जी ने अपने ढंग से भक्ति का वर्णन किया है। अहैतुकी भक्ति का वर्णन शिव जी ने उमा से किया है –

उमा जोग जप दान तप, नाना मख ब्रत नेम।
रामकृपा नहिं करहिं तसि, जसि निष्केवल प्रेम।।

राम की कृपा केवल निष्काम प्रेम से प्राप्त होती है। प्रेमा भक्ति के बिना भीतर के मल साफ नहीं हो सकते हैं तुलसी दास जी कहते हैं कि हमें एक को पकड़कर भक्ति करनी चाहिये। भक्ति में अनन्यता होनी चाहिये।

इस प्रकार मध्य युग में भक्ति की अनेक धारायें प्रवाहित होकर जन–मन की कलान्ति को नष्ट कर शान्ति में अवगाहन करा रही थीं, उनमें सबसे पवित्र और गंभीर प्रवाह तुलसी का था। उनके आराध्य राम ब्रह्मके अवतार थे। उन्होंने राम के लोक संग्रह और जन–मन विधायन के लिये शील, शक्ति और सौन्दर्य समन्वित घनश्याम राम के रूप में अवतरित ब्रह्मके चरणारबिन्द में चातक की भाँति अपने हृदय को पूर्ण रूपेण समर्पित कर दिया था–

एक भरोसो एक बल एक आस विश्वास।
एक राम घनश्याम हित चातक तुलसी दास।।

---

1. रामचरित मानस– अरण्य काण्ड दो० सं–356:5

जिस प्रकार चातक का आराध्य घनश्याम जगत को जीवन प्रदान करता है, उसी प्रकार राम त्रस्त एवं पीड़ित जन के कष्टों को नष्ट कर देते हैं। उनका दिव्य सौन्दर्य जन मानस को आकृष्ट करता हैं। उनका अनन्त शील हृदय को आहलादित करता है और उनकी शक्ति हृदय को विश्वास से पूर्ण कर देती है। इसलिये तुलसी ने आराध्य के रूप में राम का वरण किया।

सेवक के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने वाले, संकट के क्षणों में शरणागत की चिंता करने वाले, अपनों गुणगान से संकुचित तथा भक्त के गुणगान के समय प्रसन्न रहने वाले राम के प्रति अनन्य भक्तियुक्त होना तुलसी के लिये अत्यन्त स्वाभाविक था।

कवि को केवल राम भक्ति की अपेक्षा है। उसके अतिरिक्त कोई और कामना नहीं है। भक्त के लिये भक्ति का आनन्द ही उसका परम फल है। भरत के माध्यम से तुलसी स्वंय कहते है।

अरथ न धरम न काम रूचि गति न चहऊं निरबान।
जनम–जनम रति राम पद यह बरदानु न आन।।[1]

भक्त का एक मात्र साध्य और प्रयोजन आराध्य की भक्ति ही है। श्री राम के प्रति भक्ति की प्रीति में एकनिष्ठता होनी चाहिये। तुलसी का भक्तिमार्ग श्रुति सम्मत है।

तुलसी ने इन वेद–पुराण सम्बन्धी अभिमतों के विवाद में पड़ने के स्थान पर श्रुतिसम्मत हरिभक्ति पथ का मार्ग ग्रहण करना अधिक श्रेयस्कर समझा।

श्रुति सम्मत हरि भगति पथ संजूत बिरति विवेक।
तेहि न चलहिं नर मोह बस कल्पहिं पंथ अनेक ।।

तुलसी के आराध्य सगुण राम हैं यद्यपि कहीं–कहीं उन्होंने निराकार राम की भी वन्दना की है, किन्तु उनका मन सर्वाधिक राम के सगुण रूप के वर्णन में रमा है। तुलसी ने राम को अपना आराध्य चुना इसका कारण यह है कि दानशीलता

---

1. रामचरित मानस अयोध्याकाण्ड दो० –'204, पृ० सं– 265

भक्तवत्सलता, कृपालुता आदि गुण तुलसी राम में ही देख रहे थे। राम की दानशीलता का परिचय तब मिलता है, जब वे शत्रु पक्ष के विभीषण को सर्वस्वदान में देते हैं——

जो संपति सिव रावनहिं दीन्ह दिये दसमाथा।
सोइ संपदा विभीषनहिं सकुचि दीन्हि रघुनाथ।।

उपर्युक्त पंक्तियों में 'सकुचि दीन्हि' शब्दों के प्रयोग की व्यंजना देखते ही बनती है। जिस सम्पति को रावण ने सिर चढ़ा–चढ़ा कर शिव से प्राप्त किया था और गर्व से फूला नहीं समाता था, उसी सम्पति को श्री राम ने विभीषण को संकोच के साथ दिया।

राम प्रेम ही तुलसी के जीवन का सार है। वे कानों से राम–कथा स्रवण करने, मुख से राम–नाम का जप करने, हृदय में श्रीराम को बसाने, बुद्धि को राम में रमाने, राम के प्रेम, गति एवं बल को ही जीवन का फल मानते हैं।

वे भवसागर संतरण के लिये दास्य भक्ति को आवश्यक मानते है। दास्य भावना की भक्ति में इष्ट देव की महत्ता, उदारता, कृपालुता शरणागत वत्सलता और अपनी दीनता–हीनता, असमर्थता का सदैव स्मरण रहता है। जिससे कलुषित हृदय प्रक्षालित हो जाता है। मन का पाप मिट जाता है। इसी कारण तुलसी सेवक सेव्य भाव की भक्ति पर जोर देते है–

सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।
भजहु रामप्रद पंकज अस सिद्धान्त विचरि।।

तुलसी के समस्त ग्रंथों के मूल में भक्ति–भावना ही है किन्तु उनका हृदयोद्गार 'विनयपत्रिका मे व्यक्त हुआ है। उन्होंने अपनी पापों और दोषों को गणनातीत कहा है। अपने पापों को स्वीकार करने में उन्हें किसी प्रकार का संकोच नहीं है। भगवान की कृपा में उन्हें दृढ़ विश्वास है।

तुलसी आत्मस्वीकृति में अपने हृदय को खोलकर रख देते हैं। अपनी इस अनुभूति से प्रेरित होकर वे मन को प्रताड़ित करते हुये उसे भक्ति की ओर उन्मुख

कर देते है। वे संसार की नश्वरता, भ्रमात्मकता, क्षणिकता, असत्याता एवं मायाजनित अज्ञान से मन को अवगत कराकर उद्बोधन करते है।–

ऐसी मूढ़ता या मन की
परिहरि राम–भगति–सुरसरिता आस करत ओसकन की।
वे आगे कहते हैं–सुन मन मूढ़ सिखावन मेरो
हरि पद–विमुख लहयौ न काहु सुख, सठ यह समुझि सवेरों।

इस उद्बोधन से मन भगवान की ओर अभिमुख होता है मन में आत्मविश्वास और आत्मचिंतन का भाव उदित होता है। चिन्तन की इस प्रक्रिया से मन में भक्ति विषयक दृढ़ता उत्पन्न होती है।

संसार का यथार्थ ज्ञान हो जाने के अन्तर भक्त में आत्म निवेदन की भूमिका प्रस्तुत हो जाती है। भक्त भगवान से अपना अनेक संबंध स्थापित करता है। वह भगवान से किसी भी संबंध को स्वीकार करके चरणों में स्थान पाने की आकांक्षा व्यक्त करता है। भगवान का अनुग्रह प्राप्त करने के लिये वह विविध उपायों का अवलम्बन ग्रहण करता है।

तुलसी दास जी विनय पत्रिका में कहते हैं कि यदि भक्त का उद्धार न हुआ तो भगवान का यश क्षीण हो जायेगा

नाहिन नरक परत मोंकहँ डर, जद्धपि हौं अति हारो।
यह बड़ी त्रास दास तुलसी प्रभु नामहु पाप न जारो।।

तुलसी भगवान की इस निन्दा से दुखी होते है। भक्त का उद्धार न होने पर भगवान की लोक में निंदा होगी। लोक तो यह जानता नहीं है कि वह कितना बड़ा पापी है। लोक का ध्यान आने पर तुलसी लोक संग्रही राम को अपना पिता स्वीकार कर लेते हैं पुत्र कैसा भी हो वह पिता के लिये प्रिय होता है। वह अपना अपराध स्वीकार करता है। भगवान भक्त की करूणा से द्रवीभूत हो जाते हैं। कवि का आत्मविश्वास उसे भक्ति की उस उच्चता पर पहुंचा देता है जहाँ भक्त को भगवद् साक्षात्कार की अनुभूति होनी लगती है। तुलसी की भक्ति का यह व्यवहारिक रूप है जिसमें वे पूर्ण सफल होकर असीम आनन्द की प्राप्ति करते हैं।

गोस्वामी जी ने कहा कि साधनों के होते हुये भी भगत्कृपा के अभाव में भक्त की भक्ति निष्फल हो जाती है। कृपा की भक्ति में आराध्य के उदार स्वभाव की अभिव्यक्ति है।

गोस्वामी जी का यह भी मत है कि ज्ञान के अभाव प्रतीति नहीं हो सकती और प्रतीति के बिना प्रीति नहीं होती और प्रीति के अभाद में दृढ़ भक्ति की कल्पना निराधार है इस स्थिति का विश्लेषण इस प्रकार है।

राम कृपा बिनु सुनु खगराई।
जानि न जाइ राम प्रभुताई।।
जाने बिनु न होइ परतीती ।
बिनु परीतीति होई नाहिं प्रीति।।
प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई।
जिमि खगेस जल कै चिकनाई।।

इसी राम कृपा से मनुष्य को मानव शरीर प्राप्त होता है जो भक्ति का अनिवार्य साधन है। भक्त अपने आराध्य के साथ रागात्मक संबंध स्थापित करने के ध्येय से तरह–तरह का संवंध बना लेता है। विभिन्न प्रकार के रागात्मक संबंध (जैसे–पिता–पुत्र, गुरू–शिष्य, मित्र, स्वामी–सेवक आदि) भक्त और भगवान के सानिध्य द्वारा भक्ति–भाव दृढ़ करते हैं। रूपगोस्वामी ने साधनरूपा और साध्यरूपा दो प्रकार की भक्ति मानी है। साधनरूपा भक्ति सात्विकी, राजसी और तामसी तीन प्रकार की होती है।

पापों से मुक्ति प्रदान करने वाली कर्तव्य भाव से की गयी भक्ति सात्विकी होती है। तुलसी ने ऐसी भक्ति को स्वीकार किया है। और भौतिक वैभव की प्राप्ति की लालसा से की गयी भक्ति राजसी है। सुग्रीव और विभीषण की भक्ति इसी कोटि में आती है।

दूसरों को पीड़ित करने के उद्देश्य से की गयी भक्ति तामसी है। रावण द्वारा की गयी शिव–भक्ति इसी कोटि में आती है।

साध्यरूपा भक्ति का उद्देश्य भगवत्व की प्राप्ति है उसका आनन्द ही भक्त का लक्ष्य है। तुलसी ने ऐसी भक्ति की है–

चहौं न सुगति, सुमति, संपति कछु, रिधि–सिधि–विपुल बड़ाई।
हेतु रहित अनुराग रामप्रद बढ़ै अनुदिन अधिकाई।।[1]

भगवान के चरणों में निःस्वार्थ प्रेम की अभिवृद्धि ही तुलसी की कामना है। भगवत्प्रेम प्राप्त करने के लिये तुलसी भगवान की शरण का आश्रय लेते हैं। भगवान की शरण में जाना ही प्रपत्ति है। तुलसी की भक्ति प्रपत्ति या शरणागति है। यह छः प्रकार की होती है।

अनुकूलस्य विश्वासों प्रातिकूलस्यवर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वेवरणं तथा।
आत्मनिक्षेपकार्यव्यं षडविद्या शरणागतिः

आनुकूलस्य संकल्प :– यह भक्त की वह मनोदशा है जिसमें वह भगवान के सदैव अनुकूल बने रहने का विचार करता है जहाँ भक्त अपने को सभी ओर से खींचकर भगवान के चरणों में ही केन्द्रित करने का संकल्प लेता है। तुलसी कहते हैं–

अवलौं नसानी, अब न नसैहौं।
राम–कृपा भव–निसा सिरानी, जागै फिरि न डसैहौं।।

भगवान की भक्ति में बाधा उत्पन्न करने वाले अथवा उसके प्रतिकूल प्रेरित करने वाले व्यक्तियों भावों विचारों और प्राणियों के सर्वथा विमुख रहना और भगवान में विश्वास रखना प्रपत्ति का दूसरा रूप है। यथा–

जके प्रिय न राम बैदेही
तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्धार्य परम सनेही।

रक्षिष्यतीति विश्वास :– भक्त को पूर्ण विश्वास हो जाता है कि भगवान ही उसके रक्षक है। तुलसी को भी राम के प्रति ऐसा ही दृढ़ विश्वास है।

गेप्तृत्वरण :– भगवान को रक्षक के रूप में प्राप्त करने की भक्त कल्पना ही नहीं करता अपितु उन्हें रक्षक रूप में भी वरण कर लेता हैं।

---

1. विनय पत्रिका–पद सं0–103

आत्मनिक्षेप :– स्वयं को भगवान को समर्पित करके भक्त सभी चिंताओं से मुकत हो जाता है

कार्पव्य :– भक्त स्वंय को अत्यन्त दीन–हीन समहाकर जो आत्मनिवेदन करता है, उसे कार्पव्य कहते है। यथा–

माधव मो समान जग माहीं।
सब विधि हीन, मलीन, दीन अति, लीन विषयकोउ नाहीं।।

तुलसी की भक्ति प्रापत्ति से पूर्ण है। दास्य भाव की भक्मि ही प्रपत्ति है। भक्ति का यह रूप विनय एवं आत्मयनिवेदन से युक्त रहता है।

विनय की सात भूमिकाये मानी गयी है। यथा–दीनता, मामर्षता, भयदर्शन, भर्त्सना आस्वासन मनोराज्य और विचारण। दीनता और कार्पव्य दोनों एक ही भाव है। तुलसी ने 'विनय पत्रिका' में अपने दोषों की स्वीकृति के साथ अपने दैन्य को व्यक्त करके अपने अन्तःकरण की पवित्रतता का परिचय दिया है। यथा–

दीन, सब अँगहीन, छीन मलीन अघी अघाइ
नाम दौ भरे, उदर एक प्रभु दासी दास कहाइ।

मानमर्षता :– दोहाभिमान का सर्वथा त्याग करके अत्यन्त विनम्रभाव से भगवान के समक्षनत होना मानमर्षता कहा जाता है।

भयदर्शनाः– माया के भयंकर सांसारिक परिणामों से भयभीत करने पर भी जब मन संसार से उदासीन नहीं होता, तब भक्त उसकी भर्त्सना करता है।

सुनु मन मूढ़ सिखावन मेरो।
हरि–पद विमुख लह्यों न काहु सुख सठ!
यह समुझ सवेरो।

आश्वासन :– सांसारिक भयंकरता से भयभीत तथा भर्त्सना से त्रस्त मन को भक्त भगवान की कृपालुता एवं शरणागत–वत्सलता के प्रति विश्वास दिलाता है।

मनोराज्य :– भगवद्कृपा से आश्वस्त होकर भक्त भगवान अपनी पूर्ति के लिये निवेदन करता है, वह कहता है–

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्रीरघुनाथ कृपालु कृपा तें संत स्वभाव गहौंगों।

विचारणा :– भक्ति का अंतिम लक्ष्य आत्मा–परमात्मा, जीव–जगत की वास्तविकता का ज्ञान और उसका चिंतन है। 'विनय पत्रिका' में तुलसी दास जी कहते हैं–

केशव! कहि न जाइ का कहिये।
देखत तब रचना विचित्र हरि! समुझि मनहिं मन रहिये

भक्ति के जितने भी प्रकार बताये गये है। या वर्गीकरण किये गये हैं उनमें नवधा भक्ति सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। भागवत में इस भक्ति का उल्लेख है। तुलसी ने इस नवधा का विवेचन विभिन्न प्रसंगों में किया है–

जिन्ह हरि कथा सुनीनाहिं करना ।
श्रवन रन्ध्र अहिं भवन समाना।

कीर्तन के अन्तर्गत कहा गया है कि–**जो नहिं करइ रामगुन गाना। जीह सो दादुर जीह समाना।** स्मरण के अन्तर्गत कहा है कि–**सुमिरति श्री रघुबीर की बाहैं।** पादसेवन का उदाहरण इस प्रकार देखा जा सकता है–

अरथ न धरम न काम रूचि, गति न चहउँ निर्वान।
जनम–जनम रति राम पद, यह बरदानु न आव ।।

अर्चन के अन्तर्गत कहा है कि–

ऐहि भाँति गौरि असीस सुनि सिय सहित हिय हरषीं अली।
तुलसी भवानिहि पूजि पुनि–पुनि मुदित मन मंदिर चली।

वन्दन का अर्थ स्तुति है। तुलसी ने शंकर भगवान की स्तुति की है **'नमामी शमीशानं'।**

दास्य भाव के अन्तर्गत तुलसीदास जी ने कहा है कि–**'अस अभिमान जाइ नहिं भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मौरे।'**

ईश्वर की महिमा को समझकर अभिमान रहित होकर तन मन से अपने कर्मो को श्रद्धा–पूर्वक परमात्मा को समर्पित कर देना 'आत्मनिवेदन' है। **हे हरि कस न हरहु भ्रम भारी। जद्यपि मृषा सत्य भांसै जब लगि नहिं कृपा तुम्हारी।**

इस प्रकार समग्र रूप में यह कहा जा सकता है कि 'रामचरित मानस' तथा 'विनय पत्रिका' में भक्ति का स्वरूप, भक्ति की कोटियाँ एवं भक्ति प्राप्त करने के उपाय का सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक विश्लेषण तुलसी दास ने किया है। भक्तिरत का जैसा पूर्ण परिपाक इनके ग्रंथों में हुआ है। वह अन्यत्र दुर्लभ है तुलसी को भक्तिरस का आचार्य कहना अधिक संगत है। मोक्ष प्राप्ति के लिये उन्होंने ज्ञान और भक्ति दोनों उपायों की चर्चा की है किन्तु वे प्रेमरूपा भक्ति को श्रेष्ठ मानते हैं। तुलसी लोकदर्शी थे इसलिये उन्होंने ऐसे भक्तिमार्ग की स्थापना की जिससे व्यक्ति के साथ लोक कल्याण की भी भावना अन्तर्निहित है।

तुलसी में प्रेम के विविधरूप :– तुलसी ने लौकिक प्रेम के आधार पर ही राम के प्रति अपने प्रेम को प्रकट किया है। जैसे–**कामिहि नारि पियारि जिमि लोभहिं प्रिय जिमि दाम।। तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम।** लेकिन उनका प्रेम हर जगह मर्यादा से बंधा हुआ है। तुलसी के प्रेम को निम्नलिखित रूपों में बांटा जा सकता है– वात्सल्य भाव के प्रसंग, सख्य भाव के प्रसंग, दाम्पत्य भाव के प्रसंग, दास्य भाव के प्रसंग।

वात्सल्य प्रेम :– सभी कवियों और आलोचकों द्वारा यह स्वीकार किया जाता है। कि तुलसी साहित्य में दास्य भाव सर्वोच्च है इसमें वात्सल्य भाव का चित्रण उतना सजीव नहीं हो पाया है जितना सूर में। क्योंकि बाल–चित्रण में अलौकिक तत्व का समावेश हो गया है। तुलसी के अनुसार राम–कथा के प्रसिद्ध वक्ता शिव है। और शिव का इष्ट बाल–रूप राम है[1]। दूसरा प्रमुख स्रोत कामभुसुण्डि हैं राम जहाँ–जहाँ और जब–जब अवतार धारण करते हैं वहाँ–वहाँ कागभुण्डि जाकर बाल–रूपामृत का पान करते हैं। इस प्रकार कागभुशुंडि के भी इष्ट बाल–राम ही हैं। लेकिन प्रश्न ये है कि क्या ये प्रश्न वात्सल्य के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं ? भक्ति के क्षेत्र में वात्सल्य भाव वहाँ माना जाता है जहाँ कोई भक्त इष्ट को अपने पित्र रूप में ग्रहण करता है। यहाँ निश्चित रूप से शिव और कागभुसुण्डि बालक राम को पितावत प्रेम नहीं करते ।

---

1. बंदउ बाल रूप सोइ रामू। सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू–मानस बालकांड – दो0 111/3 पेज न0 71

शिव तो उस बाल–रूप को पूज्य ही समझते हैं अतः बाल–राम के प्रति दास्य–भाव ही शिव में मिलता है। यदि साथ कोई प्रेम सम्बद्ध है तो सख्य का। जब काकभुशुण्डि राम के आंगन में पहुंचे तो घुटनों से चलते हुये राम उनको पकड़ने के लिये दौड़े तब काकुभुशण्डि भागे, पर राम की भुजा उनको सर्वत्र अपने पास दिखाई दी

जिस प्रकार ब्रहमा कमल नील में होकर विष्णु के उदर में प्रविष्ट हुये और समस्त ब्रहमांड का विस्तार वहाँ देखा उसी प्रकार कागभुसुण्डि ने राम के उदर में प्रवेश करके विराट रहस्य के दर्शन किये किन्तु प्रत्येक ब्रहमांड में भी उसने बाल–विनोद ही देखा। इस प्रकार वाल भाव नहीं, बाल रूप से इष्टवत प्रेम इन दोनों विभूतियों का दिखता है। यह निश्चित रूप से वात्सल्य के अन्तर्गत नहीं आता

भले ही तुलसी का वात्सल्य सूर के सामने दब जाता हो परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि तुलसी के वात्सल्य की कोई विशेषता ही नहीं है। तुलसी ने भुसुंडि के द्वारा जो राम के बाल रूप का दर्शन कराया है वह किसी सूर से कम नहीं। कहते है–

अरून पानि नख करज मनोहर, बाहु विशाल विभूषन सुंदर।
कंध बाल केहरि दर ग्रीवा। चारू चिबुक आनन छवि सीवाँ।।

× × ×

पीत झीन झिगुली तम सोही।किलकनि चितवनि भावति मोंही।
रूप–शशि नृप अजिर बिहारी। नाचहिं निज प्रतिबिम्ब निहारी।
मोहि सन करहिं विविध विधि क्रीड़ा। बरनत मोहि होति अति ब्रीड़ा।।
किलकत मोहि धरनि जब धावहिं।
चलौं भागि तब पूप देखावहिं।।
आवत निकट हसहिं प्रभु, भाजत रूदन कराहिं
जाउँ समीप गहन पद, फिरि – फिरि चितइ पराहिं[1]

---

1. उत्तरकाण्ड, दो0–77, पेज नं0 510

सूर ने भी कृष्ण के वियोग को लिया है, पर राम के वियोग में माता कौशल्या की जो स्थिति होती है उसके सामने यशोदा की वेदना छूंछी पड़ जाती हैं। तुलसी का करूण वात्सल्य अपूर्व है और पिता का प्राणलेवा भी। अपना विराट रूप में राम ने माता कौशल्या को दिखाया है प्रेम में इस विराट तत्व का क्या सहयोग है। यह प्रश्न विचारणीय है?

माताओं को विराट रूप दिखाया गया है पर माताओं को इस रूप की स्मृति अधिक देर तक नहीं रहती। इसलिये इतना ही निश्चित है कि वात्सल्य में यह विराट भाव बाधक नहीं होता।

इससे एक चीज और प्रतीत होती है निर्गुणत्व से सगुणत्व की ओर बाल भाव पद–विन्यास है। यही कारण है कि विराट की पृष्ठिभूमि पर भक्ति काव्य में भक्त बालरूप के भव्य चित्र खीचे गये हैं, से आकर्षित होकर राम की ओर आता है और वहाँ अद्भुत तत्व का आश्चर्य मिश्रित परम सुख रूप का दर्शन कर गद्गद् हो जाता है। राजा दशरथ पुत्र–जन्म का समाचार पाकर मानों 'ब्रहमानन्द' में समा जाते हैं। उनका मन प्रेम से भर जाता है और शरीर पुलकित हो जाता है। उनके हर्ष का कारण पुत्र जन्म के साथ यह ज्ञान है कि

जाकर नाम सुनत शुभ होई। मोरे गृह आवा प्रभु सोई[1]

इस प्रकार इनके हर्ष में आलैकिकता का प्राधान्य हो जाता है।

तुलसी बालक राम का वर्णन इस प्रकार करते हैं—चारों भाई राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघन शील और गुण के धाम हैं। परन्तु राम सबसे अधिक सुखप्रद हैं राम जो सर्वव्यापक निरंजन, निर्गुण, विनोदरहित, अजन्मा ब्रह्म हैं वही प्रेम और भक्ति के वश में माता कौशल्या के गोंद शोभित कर रहे हैं। उनका मन–मोहक रूप करोड़ो काम देव की शोभा से युक्त है।

राम की बाल–लीला से भी यही प्रतीत होता है कि राम परब्रह्महैं।

---

1. मानस–बालकांड दोहा संख्या 201–पेज 109

तुलसी ने एक और घटना का उल्लेख किया है–एक बार माता राम को स्नान कर पालने में लिटा देती हैं और फिर स्वयं स्नान कर इष्टदेव पर नैवेद्य चढ़ाती हैं। लौटती हैं तो राम नैवेद्य खा रहे हैं। दूसरी तरफ पालने में राम सो भी रहे हैं। दोनों स्थान पर राम को देख वह व्याकुल होती हैं। राम हँसकर माता को अद्भुत अखण्ड रूप दिखाते हैं। जिसके एक–एक रोम में करोड़ों ब्रहमांड लगे हुये है–

देखरावा मातहिं निज अद्भुत रूप अखंण्ड।
रोम–रोम प्रति लागे कोटि–कोटि ब्रहमांड।।[1]

माता हाथ जोड़कर कहती हैं कि प्रभु मुझे आपकी माया कभी न व्यापे। बाल–स्वाभाव का वर्णन तुलसी इस प्रकार करते हैं–

भोजन करत बोल जब राजा, नहिं आवत तजि बाल समाजा।
कौशल्या जब बोलन जाई, ठुमुकि, ठुमुकि प्रभु चलहिं पराई।
निगम नेति शिव अंत न पावा, ताहि करे जननि हठि धावा।।
भोजन करत चपल चित, इतु, उत अवसर पाइँ
भाजि चले किलवत मुख दधि ओदन लपठाइ[2]

इस प्रकार तुलसी की बाल–लीला अलौकिकता से युक्त है। क्योंकि तुलसी राम को केवल बालक न समझकर परमब्रह्मका अवतार समझते हैं। जो लोक के कष्ट को दूर करने के लिये आया है। एक दूसरा दृश्य दृष्टव्य है–राम वन गमन की आज्ञा लेने जाते हैं पर माता कौशल्या को उनके राज्याभिषेक का ही समाचार ज्ञात था। अतः वे अपने सम्पूर्ण, हर्ष और उत्साह से उनका स्वागत करती हैं–

बार–बार मुख चुंबति माता। नयन नेह जल पुलकित गाता।
गोंद राखि पुनिः हृदय लगाये, स्रवत प्रेम रस पयद सुहाये
प्रेम प्रमोद न कछु कहिं जाई रंक धनद पदवि जनुपाई

तत्पश्चात् राम उन्हें सूचना देते हैं कि उन्हें चौदह वर्ष के लिये वन का राज्य दिया गया है जो सब प्रकार से लाभ– पूर्ण है। राम के इन सरल वाक्यों ने तीर की भाँति उनके हृदय को छेद दिया ––

---

1. मानस – बालकांड दोहा संख्या 201–पेज 109
2. बालकाण्ड दो सं0 203 पेज नं0–109

वचन विनीत मधुर रघुवर के। सर सम लगे मातु उर करके
सहमि सुखि सुनि सीतल बानी। जिमि जवाल परे पावस पानी।

वर्षा के पानी से जवास जैसे सूख जाता है, मृगी सिंह के वर्णन को सुन हतबुद्धि हो जाती है अथवा मछली जिस प्रकार माजा खाकर बदहवास हो जाती है वही दशा माता कौशल्या की हुई। तुलसी का यह वर्णन कितना स्वाभाविक और मार्मिक है।

वात्सल्य के विषय में इस प्रकार कहा जा सकता है कि पुत्र कि प्रेमधारा माता–पिता के हृदय में अतिशय प्रबल है। वात्सल्य भाव का संयोग पक्ष इतना सघन नहीं है जितना कि वियोग पक्ष। दूसरी बात यह है कि वात्सल्य के साथ दास्य की एक झीनी छाया अवश्य लगी रहती है। दास्य भाव वात्सल्य भाव में परिणत हुआ है। दास्य की विनय और वात्सल्य की तीव्रता मिलकर एक विशष्ट प्रेम–भाव की सृष्टि करते हैं।

सख्य प्रेम :– तुलसीदास ने संख्य भाव को आदर्श रूप में प्रस्तुत किया है। राम के सखा के रूप में विशेष उल्लेख सुग्रीव और विभीषण का है। यद्यपि सुग्रीव और विभीषण ने राम को प्रभु के रूप में स्वीकार किया है पर राम का उनके प्रति व्यवहार मित्र का सा है। राम ने विभीषण को तो कहीं शरणागत और कहीं मित्र के रूप में स्वीकार किया है। पर सुगीव को मित्र के रूप में ही मान्यता दी है स्वयं राम सुग्रीव से प्रथम परिचय पर सुग्रीव का मित्र के लक्षण का वर्णन कर मित्रता निर्वाह का आश्वासन देते हैं।

राम और सुग्रीव की मित्रता का पूरा निर्वाह अंत तक होता है। राम बालि की वध करते हैं। सुग्रीव सीता की खोज से रावण वध तक राम का साथ देता है। अयोध्या में राम के अभिषेक में सम्मिलित होकर उनसे विदा लेता है।

ऐसे कई अवसर आते है जिससे इनकी मित्रता पर प्रकाश पड़ता है। विभीषण के राम की शरणागति में आने पर राम सुग्रीव की प्रतिक्रिया इस प्रकार है–

जानि न जाइ निसाचर माया, काम रूप केहि कारन आया

भेद हमार लेन सठ आवा, राखिऊ बाँधि मोंहि जस भावा।।

पर राम तुरन्त ही उसका समाधान करते हैं :–

सखा नीति तुम्ह नीकि विचारी, मम पर सरनागत भय हारी।

यहीं पर राम विभीषण को शरणागत समझ कर स्वीकार करते हैं।

जिस प्रकार तुलसी के वात्सल्य के साथ दास्य संलग्न था उसी प्रकार संख्य भी दास्य से रहित नहीं है। जिस प्रकार शिव और कागभुसुण्डि राम को बाल रूप के साथ दास्य भाव रखते हैं, उसी प्रकार सुग्रीव और विभीषण सदैव राम के प्रति दास्य भाव रखते हैं। राम स्वयं कुछ भक्तों के प्रति सखा भाव रखते हैं। दास्य का आधिक्य तुलसी में सख्य भाव को पूर्णतः पनपने नहीं देता। वात्सल्य भाव तो आदर्श की सीमाओं में भी विकसित हो सका पर सख्य आदर्श की सीमाओं में बंधा हुआ दिखाई देता है।

भातृ प्रेम :– तुलसी के भातृ–भाव पर भी दास्य भाव हावी होता दिखाई देता है। स्वयं तुलसी ने इस दृश्य का स्पष्ट संकेत किया हैं। बचपन से ही श्रीराम चन्द्र जी को अपना परम हितैषी स्वामी जानकर लक्ष्मण जी ने उनके चरणों में प्रीति जोड़ी तथा भरत और शत्रुध्न दोनों भाइयों में स्वामी और सेवक की जिस प्रीति की प्रसंशा है वह दिखाई भी देती है[1]–

राम लक्ष्मण के पास्परिक व्यवहार के दर्शन जनकपुर में होते हैं। लक्ष्मण के हृदय में नगर–दर्शन की लालसी है, पर राम के भय व मुनि के संकोच के कारण वे कुछ प्रकट नहीं करते। राम उनके हृदय की बात समझ जाते हैं और गुरू से आज्ञा प्राप्त कर लेतें हैं। यहीं पर उनकी पारस्परिक अतंरंगता का परिचय मिलता है।

लक्ष्मण बिना राम की आज्ञा के कुछ नहीं करते थे। घनुष यज्ञ में जनक के वचन "वीर विहीन मही मैं जानी" पर लक्ष्मण के होंठ क्रोधवश हो फड़कने लगते हैं पर वे राम से आज्ञा लेकर ही गरजते हैं तथा संकेत पाकर पुनः चुप जाते हैं।

---

1. वारेहि ते निज हित पति जानी, लछिमन राम चरन रति मानी
   भरत शत्रुध्न दूनउ भाई। प्रभु सेवक जस प्रीति बड़ाई, मनस, बाल काण्ड दो0 197 चौ0 3 पेज नं0 107.

इस प्रकार सर्वत्र तुलसी ने लक्ष्मण को आज्ञाकारी सेवक की भाँति ही चित्रित किया है। राम की सेवा का भी उल्लेख है। जनकपुर में सोने के पूर्व राम लक्ष्मण के चरणों को हृदय से लगाकर भय और प्रेम सहित, परमसुख का अनुभव करते हुये, दबाते हैं।

बारहिं ते निजहित पति जानी, लछिमन राम चरन रति मानी।
भरत शत्रुघ्न दुनउ भाई, प्रभु सेवक जस प्रीति बढ़ाई।[1]

राम और सीता का स्नेह भी लक्ष्मण के प्रति पुत्रवत रहता है। शक्ति लगने पर राम का लक्ष्मण की चिन्ता में विलाप करूण है। उनके वचन उनकी हार्दिक पीड़ा के परिचायक हैं–

जौ जनतेउं वन बन्धु विछोहूँ, पिता वचन मनतेउं नहि ओहू।[2]
× × ×
जैहउं अवध कौन मुंह लायी, नारि हेतु प्रिय भाइ गवाई।

इस प्रकार राम लक्ष्मण का सम्बन्ध सर्वत्र आदर्श एवं मर्यादापूर्ण है। तुलसी ने भरत को भी विशेष स्थान दिया है। भरत का चरित्र राम के प्रति स्नेह के कारण ही विशेष उभरा है, उसी से प्रभावित होकर तुलसी ने उनकी भाव–भीनी अभ्यर्थना की है–

प्रनवउँ प्रथम भरत के चरना, जासु नेम ब्रत जाइ न बरना।
राम चरन पंकह मन जासू, लुबुध मधुप इव तजइ न पासू।[3]

भरत की राम की प्रति गंभीर स्नेह–भावना का यथार्थ परिचय वन गमन व दशरथ मरण के पश्चात भरत आगमन और तदुपरान्त प्रसंगों से मिलता है। भरत पिता के बाद बड़े भाई को ही अपना रक्षक व अधिकारी समझते हैं। इस तथ्य की अनायास अभिव्यक्ति मर्म स्पर्शी है।

---

1. मानस बाल काण्ड दो० 197 : 3, पेज नं0 107
2. मनस – लंकाकाण्ड – दो0 60/6 (पेज – 429–30)
3. मानस – बालकाण्ड – दो0 सं0 – 16 चौ0 –3 पेज नं0 27

सुन सुठि सहमेउ राजकुमारू, पाके छत जनु लाग अंगारू।
धीरज घरि भरि लेहिं उसासा, पापिनी सबहिं भाँति कुल।
जौ वैं कुरूचि रही अति तोही, जनमत काहे न मारे मोंही।

× × ×

जब तैं कुमति कुमत जिय ठयऊं, खण्ड–खण्ड होइ हृदय न गमऊं
वर माँगत मन भइ नहिं पीरा, गरि न जीह मुंह परेउ न कीरा।[1]

भरत के चरित में दो तत्व स्थायी रूप से विद्यमान रहते हैं–एक तो राम के प्रति अगाध अपरमित स्नेह तथा कैकेयी के कार्य के कारण आत्मग्लानि एवं क्षोभ। उन्हें राम और सीता पर तो विश्वास है कि वे कैकेयी की चाल में भरत का मत नहीं मानेगे पर अन्य किसी पर नहीं। वे चित्रकूट जाते हैं और राम के बहुत समझाने पर उनकी पादुका ले कर वापस आते हैं तथा सर्व सुख त्याग राम की प्रतीक्षा में तपस्वी की भाँति रहते हैं। अंत में रावण–वध के पश्चात राम के राजयाभिषेक के बाद उनकी सेवा करते हैं। राम के प्रति भरत की इस भावना में भी दास्य की झलक है जिसका संकेत अनेकत्र मिलता है। कहीं–कहीं स्पष्ट स्वीकारोक्ति भी है यथा–

अरथ न धरम न काम रूचि, गति न चहउं निरवान।
जनम–जनम रति राम पद, यह वरदानु न आन।[2]

इस प्रकार भातृ–प्रेम में आदर्श और मर्यादा के कारण दास्य–भाव दिखई देता है। इससे यही प्रतीत होता है कि तुलसी में दैन्य–प्रेम की भक्ति प्रमुख है।

दास्य प्रेम :– तुलसी साहित्य में दास्य भाव की भक्ति की सर्वाधिक प्रमुखता है। इसका प्रमुख कारण तुलसी की भावना है। तुलसी अपने को राम का सेवक मानते हैं। दूसरी बात ये है कि तुलसी का इष्ट मर्यादापुरूषोत्तम राम के आदर्श का आदर्श अलौकिक चित्र प्रस्तुत कर भटके व भ्रमित धर्माचार्यो व जननायकों का उचित पथ प्रदर्शन करना था। अतः तुलसी ने राम के अलौकिकत्व को अधिक महत्व दिया है। ऐसे अलौकिक रूप के प्रति दास्य भाव ही सर्वाधिक समीचीन प्रतीत होता है। शिव, भुसुण्डि राम के बाल रूप पर अधिक आसक्त होने के बाद भी दास्य भाव रखते

1. करत दण्डवत – दो० 193, अयो० – 260।
2. मानस अयोध्या काण्ड दो0– 204 पे0 265

दिखाई देते है। लक्ष्मण सुग्रीव विभीषण भरत आदि सभी पात्र दास्य भाव से ही राम से प्रेम करते हैं।

इस शीर्षक में उन्हीं भक्तों पर विचार किया जायेगा जो राम के प्रति शुद्ध दास्य–भाव रखते हैं इनमें प्रमुख हैं–हनुमान, अंगद, जाम्बवान जटायू, निषादराज और केवट। ध्यान देने की बात यह है कि इनमें निषाद राज, केवट नीच जाति के प्राणी है पर तुलसी ने इन्हें इसी कारण आदर दिया है। :–

बन्दउं सबके चरन सुहाये, अधम शरीर राम जिन्ह पाये।

शुद्ध दास्य–भाव के पात्रों में हनुमान सर्वोपरि हैं। यद्यपि राम ने उन्हें कई रूपों में स्वीकार किया है। कहीं उन्हें "भरत सम प्रिय भाई" कहीं पुत्र, कहीं उपकारी आदि भी माना हैं। तुलसी ने उन्हें रामदूत या राम के दास के रूप में स्वीकार किया है। हनुमान, राम से प्रथम बार किष्किंधा काण्ड में विप्र रूप में मिलते हैं। प्रभु को पहचान कर अपना वास्तविक रूप प्रकट करते हैं। राम उन्हें लक्ष्मण से भी अधिक प्रिय मानते हैं और स्पष्ट करते हैं कि उन्हें अपने सेवक में अनन्यप्रीति अनन्यगति होने के कारण सर्वाधिक प्रिय होते हैं इस प्रकार प्रारम्भ से लेकर अंत हुनमान राम की सेवा करते है। अनेक बार हनुमान राम को संकटों से बचाते हैं। सीता की खोज, संजीवनी लाकर लक्ष्मण को जीवित रखना, अहिरावण का संहार कर राम–लक्ष्मण की रक्षा, अनेक राक्षसों का वध और लंका दहन आदि प्रमुख कार्य हनुमान ने किये। इस प्रकार भक्तों में हनुमान का स्थान सर्वोच्च है।

मानस में भगवान शंकर ने उनकी सेवा प्रेम अनुराग तथा सौभाग्य की प्रशंसा की है।[1] तुलसी ने उन्हें पवन और अंजनि का पुत्र माना है। वहाँ 'शंकर सुवन' भी कहा है तुलसी ने यह उल्लेख भी किया है कि राम से आदर्श प्रेम करने का सौभाग्य प्राप्त करने की इच्छा से स्वंय शंकर ने हनुमान का रूप धारण किया।

माता जानकी ने हनुमान के लिये कहा है–**"अष्टसिद्धि नवनिधि के दाता, अस वर दीन जानकी माता"**

---

1. हनुमान सम नहिं बड़ भागी, नहि कोउ राम चरन अनुरागी
गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई, बार–बार प्रभु निज सुख गाई। – मानस, उत्तरकाण्ड दो0 49 चौ. 4,5

अर्थात जो आठों सिद्धियों और नवों निधियों को देने वाला हो वह स्वंय में ईश्वर का ही एक रूप दिखाई देता है। निषाद राज का प्रेम भरत के वन जाने पर प्रकट होता है उसे संदेह होता है कि भरत ससैन्य राम को मारने जा रहे हैं। वह अपने जाति वालों को युद्ध के लिये तत्पर करता है। एक वृद्ध की सलाह मानकर भरत का भेद लेने चलता है भरत के व्यवहार से संदेह दूर ही जाता है। भरत उसे हृदय से लागा लेते है।[1] राम का दूसरा भक्त केवट है जिसे तुलसी ने अधिक महत्व दिया है–इस प्रसंग को तुलसी ने बड़े भावपूर्ण ढंग से व्यक्त किया है।

गंगा तट पर राम–लक्ष्मण सीता खड़े हैं, गंगा पार करने के लिये नाव चाहिये। वे केवट से नाव मांगते हैं पर वह नहीं लाता क्योंकि उसकी अपनी विवशता है। यद्यपि वह आज्ञापालन के लिये तत्पर है। समस्या इस बात की है कि राम के चरण–स्पर्श से कहीं नाव भी अहिल्या के समान तर गयी अर्थात वह काठ की नाव से चन्द्रमुखी बन गयी तब केवट क्या करेगा? वहॉ पर हास्य–व्यंग का अच्छा उदाहरण तुलसी ने दिया है। जहाँ पर ऋषि–मुनि कहते हैं–

होइहैं शिला सब चन्द्रमुखी परसे, पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्ही भली रघुनायक जू कहना करिके करूना पग धारे।

पाषण से नारी बनने की कथा केवट सुन चुका था इसलिये वह बिना पग को धुले श्री राम को नाव चढ़ाने में असमर्थ है। मन में यह विचार करता है कि राम के चरणों का क्या दोष? उनकी धूल ही ऐसी पवित्र होती है फिर यहाँ तो नाव पत्थर की नहीं काठ की है। पत्थर से तो काठ कोमल होता है। रघुनाथ जी केवट के भोलेपन और निश्छलता पर विमुग्ध हो गये और जानकी की ओर देखकर हँस दिये। निम्न जाति का केवट जिसकी आजीविका का साधन केवल यही नाव है कैसे जानबूझकर विपत्ति मोल ले।

इसलिये वह बिना पग धोये नाव पर चढ़ाने में असमर्थ है। फिर राम दीनबन्धु होकर ऐसी अनोखी प्रेम भरी प्रार्थना को कैसे ठुकराते। वे तो स्वयं केवट के प्रेम पर

---

1. करत दण्डवत देखि तेहि, भरत लीन्ह उर लाइ – मानस – अयों. दो. 193.

रीझे जा रहे थे। चरण धाकर केवट ने जैसे–जैसे जन्म–जन्म के पुण्यों का फल पा लिया।

ये हैं केवट के निश्छल हृदय के प्रेम सिक्त चित्र। वह जन्म और कर्म से नीच होते हुये भी प्रेम के दरबार में अपना स्थान निश्चित कर लेता है। केवट की वाक्पटुता भी तुलसी की कला का अनूठा पक्ष है। केवट भी उसी सेवक–सेव्य भाव[1] का प्रतिनिधित्व करता है जहाँ स्वामी के चरणों का एक स्पर्श जैसे सेवक के जन्म जन्मान्तर की साध होती है।

दाम्पत्य प्रेम :– मर्यादा प्रधान कवि होने के कारण तुलसी में दाम्पत्य भाव की भक्ति का कोई विशेष स्थान नहीं है। जहाँ दाम्पत्य भाव दिखता है, शील, गुण, सौन्दर्य और मर्यादा से युक्त है। राम और सीता के दाम्पत्य प्रेम में सभी जगह रूप, शील, गुण तथा मर्यादा से युक्त सौन्दर्य ही दिखाई पड़ता है। क्योंकि तुलसी के लिये सीता और राम आदि शक्ति और आदि पुरूष हैं और उनका संबंध अनादि और अनन्त है। इस दिव्य दम्पति का प्रेम मर्यादा के साथ ही वर्णित है और उस प्रेम की अनादि परम्परा का उल्लेख तुलसी ने कई स्थानों पर किया है। एक स्थान पर राम के द्वारा सीता का पुष्प श्रृंगार भी कराया गया है। :—

एक बार चुनि, कुसुम सुहाये, निजकर भूषण राम बनाये
सीतहिं पहिराये प्रभु सादर, बैठे फटिक सिला पर सुन्दर

इन पंक्तियों में सीता के प्रति राम का श्रृंगार भाव ध्वनित है। संभवतः राजसी वातावरण में इस श्रृंगार की व्यंजना करने पर उतनी सात्विकता नहीं रह जाती जितनी वनवास के समय वर्णन करने में है। इस दिव्य दम्पति के प्रेम के अतिरिक्त शिव–पार्वती का प्रेम भी वर्णित है। वहाँ भी प्रेम के भोग पक्ष का इतना वर्णन नहीं है जितना कि उसके तप त्याग पक्ष का।

दूसरी तरफ मानवीय दत्पत्ति हैं बालि–तारा, दशरथ व रानियाँ आदि। राक्षसी वृत्ति वाला पति और मानवीय वृत्ति वाली पत्नी जैसे–रावण मन्दोदरी । लेकिन हमने

---

1. सेवक–सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उदगारि – मानस

सीता और राम के प्रेम को व्यक्त करने मे ही अपना ध्यान केन्द्रित किया है क्योंकि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आदर्श की पूर्णता राम और सीता मे प्रतीत होती है।

संयोग प्रेम :– तुलसी के आदर्श दम्पत्ति हैं राम और सीता। यद्धपि तुलसी ने राम के सभी व्यवहारों पर अलौकिकता की छाप लगायी है पर उनकी और सीता की पारस्परिक भावनायें मानवीय धरातल पर व्यक्त हुई हैं। यदि राम सर्वशक्तिशाली परमब्रह्महै तो सीता जगत्जननी। अतः उनका अलौकिक दाम्पत्य भाव अलौकितता का आवरण लेकर अवतरित हुआ है। उनके स्थायी दाम्पत्य भाव का रूप एक दूसरे परिवेश में अभिव्यक्त हुआ है। मार्यादापुरूषोत्तम राम का श्रृंगार वर्णन भी तुलसी ने मर्यादा के अनुरूप किया यद्धपि उनकी मानवों जैसी भावनाओं के लिये समुचित स्थान भी दिया है।

तुलसी ने श्रृंगार का कोना–कोना न झाँका हो पर श्रृंगार की पवित्रता, महानता और मधुरता के दर्शन अवश्य किये और गार्हस्थ–जीवन में उसे प्रबलतम् सम्बल के रूप में चित्रित किया है। पति–पत्नी का परस्परिक स्नेह, विश्वास सहानुभूति और सहृदय अथवा एक शब्द में ममत्व और एकात्मता इस संघर्षमय जीवन के लिये सबलतम आधार है। इसका दिव्य चित्र तुलसी के मानस के अतिरिक्त मिलना कठिन है। तुलसी ने दाम्पत्य प्रेम को एकांगी नहीं दर्शाया है। केवल पति–पत्नी का अपना सम्बन्ध ही सब कुछ नहीं वरन उनका घर और समाज के अन्य सदस्यों के साथ मिलजुल कर जो सर्वांगीण रूप सामने आता है उसकी छटा विस्तृत सूक्ष्म और स्पष्ट है। इस रूप को यदि व्यवहारिक जीवन में उतारने का प्रयत्न किया जाय तो समाज का स्वरूप अपने आप सुन्दर वन जायेगा।

राम केवल सीता के पति नहीं दशरथ और तीनों माताओं के पुत्र, भाई, राजकुमार, मित्र और भक्त वत्सल हैं तथा प्रजापालक राजा हैं। वे अपने सभी संबंधों के निर्वाह के साथ ही सीता के प्रति अपने सम्बन्ध का निर्वाह पूरी कुशलता से करते हैं।

इसी प्रकार सीता प्रधानतः राम की पत्नी होने पर भी सास–ससुर के लिये वधू, माता–पिता के लिये पुत्री, गुरूजनों के लिये कुलवधु तथा प्रजा के लिये महारानी हैं। इस प्रेम की प्रथम झलक हमें जनकपुर के वाटिका प्रसंग में मिलती है। जनकपुर में राम लक्ष्मण के सौन्दर्य को जो भी देखता है वह मोहित हो जाता है–

पीत वसन परिकर करि माथा। चार चाप सर सोहत हाथा।
तन अनुहरत सुचंदन खौरी श्यामलगौर मनोहर जोरी

× × ×

रूचिर चौतनी सुभग सिर मेचक कुंचित केस
नख–शिख सुन्दर बन्धु दोऊ शोभा सकल सुदेश।

राम और लक्ष्मण के स्वाभाविक पुरूषोचित सौन्दर्य के साथ अनुकूल सजावट भी है। और यह दोनों विशेषतायें उनके शील को प्रभावशील ढंग से प्रतिबिम्बित करती है। प्रातः काल जनक–वाटिका में अपनी एक सखी से राम–लक्ष्मण के अवर्णनीय सौन्दर्य[1] का समाचार पा उसी प्यारी सखी को आगे कर सीताजी चलीं। मर्यादा प्रेमी तुलसी ने "चली अग्रकर प्रिय सखी सोई" के साथ "प्रीति–पुरातन लखइ न कोई" वह सीता की मर्यादा की रक्षा की है। इधर राम सीता के ककंनि, किंकिनि और नूपुर की ध्वनि सुन राम लक्ष्मण से कहते हैं कि कदाचित कामदेव ने विश्वविजय की इच्छा से दुंदुभी बजाई है और तभी ––

अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा, सिय मुख ससि भये नयन चकोरा।
भये विलोचन चारू अचंचल। मनहु संकुचि वश तजे दिंगचल[2]

राम आत्म विस्मृत हो सीता के सौन्दर्य को निर्मिमेष देखते रह जाते हैं। इस पर तुलसी की उक्ति है कि कदाचित् जनक के पूर्वज निमि, जिनका निवास सभी पलकों में माना जाता है, ने संकोच वश अपना निवास छोड़ दिया, तभी राम के पलक गिरना ही भूल गये। राम लक्ष्मण से कहने पर विवश हो गये।

---

1. श्याम गौर किमी कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिन बानी (मानस)
2. मानस–अयोध्या काण्ड दो0 229 –2

जासु विलोकि अलौकिक शोभा, सहज पुनीत मोर मन छोभा।
सो सब कारन जान विधाता। फरकहिं सुभग अंग सुन भ्राता[1]।।

और जब सीता राम को देखती हैं तो उनके नेत्र भी थककर पलक गिराना भूल जाते हैं। इस प्रकार राम और सीता दोनों ही प्रथम दृष्टि में ही आत्मविस्मृत ही देखते ही रह जाते हैं। शील और सौन्दर्य के आगार राम ओर सीता प्रथम दृष्टि में ही एक दूसरे के प्रति रूपासक्त हो अपना हृदय समर्पित कर देते है। एक शील और चरित्र के आदर्श स्त्री–पुरूष का इस प्रकार एक–दूसरे के प्रति आकर्षित होना सौन्दर्य की मंत्रमुंग्धता और प्रेम की पराकाष्ठा का ज्वलन्त उदाहरण है।

यदि यहाँ राम–सीता के अलौकिक प्रेम को रूपासक्ति पर आधारित स्वाभाविक प्रेम के रूप में देखा जाय तो यह प्रसंग प्रसंशनीय प्रतीत होगा। तुलसी दास जी ने इस प्रसंग में भावों के साथ नाटकीयता का सुन्दर सामंजस्य किया है। राम के रूप की एक झलक से ही सीता जी की स्थिति दृष्टव्य है –

थके नयन रघुपति छवि देखे, पलकान्हिहूँ परिहरी निमेषे

× × ×

लोचन मग रामहिं उन आनी, दीन्हे पलक कपाट सयानी
जब सिय सखिन्ह प्रेम बस जानी, कहि न सकहिं कहु मन सकुचानी।

सीता राम के रूप का पान कर अपने नेत्र बन्द कर आत्म–विभोर हो जाती हैं तभी राम–लक्ष्मण लता भवन से बाहर आते हैं। उनके रूप–पान और रूप वर्णन का भार कवि ने सीता की सखियों पर छोड़ दिया है यहाँ तक कि वे भी आत्म–विस्मृत हो जाती हैं –

के हरि करि पट पीत धर सुषमा सील निधान।
देखि भानुकुल भूषनहिं बिसरा सबहिं अपान।

इस प्रकार सीता का स्नेह राम के प्रति गंभीर होता जा रहा है। सीता भवानी के मंदिर में प्रार्थना करती हैं :–

मोर मनोरथ जानहु नीकें बसहु सदा उर पुर सबही के।
कीन्हेंऊ प्रकट न कारन तेही, अस कहि चरन गहेउ बैदेही।

---

1. मानस–अयो0–दो0 226–2

इस मनोरथ को प्रकट न करने मे ही स्त्री सुलभ लज्जा, शील और भाव तन्मयता की छटा है। परन्तु गौरी का आशीर्वाद और आश्वासन देखते ही बनता है।

मन जाहि राच्यो मिलन सो वर सहज सुन्दर साँवरो
करूना विधान सुजान शील सनेह जानत रावरो।

यह सुनकर सीता जी खुशी से फूली नहीं समाती है।—

जानि गौरी अनुकूल सोय हिस हरष न जात कहि
मंजुल मंगल मूल, वाम अंग थरकन लगे।

तुलसी के मत में आदर्श प्रेम वही है जो नायक–नायिका में दोनों की ओर से एक दूसरे के प्रीत के लिये प्रकट हों।

तुलसीदास के संयोग वर्णन में अश्लीलता का लेश मात्र भी स्पर्श नहीं है। उनका संयोग वर्णन प्रेमालय, चुम्बन, आंलिंगन आदि से पूर्ण रूप से मुक्त है। और दर्शन तक में सीमित होकर अत्यन्त गौरवपूर्ण तथा प्रौढ़ है।

जब विश्वामित्र के साथ जनकपुरी में श्री रामचन्द्र पहुंच गये तब घनुष यज्ञ का समाचार पाकर वह बहुत आनन्दित हुये। उन्हें धनुर्विधा में अपनी कुशलता दिखाने और सीता की एक बार देखने की लालसा और उत्सुकता उत्पन्न हुई थी। यहीं राम, सीता के प्रथम संयोग की पृष्ठिभूमि तैयार हो जाती है।

जनकवाटिका में राम और सीता का प्रवेश निरूद्देश्य और अनावश्यक नहीं है। तुलसीदास ने रामचरितमानस में उनके प्रथम दर्शन की भूमिका उपस्थित करते हुये बताया है कि राम तो गुरू की आज्ञा से पूजा के वास्ते पुष्प चुनने के लिये इस जनक वाटिका में आये हैं।[1] उसी समय जनक की फुलवारी में राम और सीता का प्रथम दर्शन हुआ।

एकान्त स्थान में किसी युवक युवती का मिलन तुलसी की दृष्टि में अनुचित है। अतः तुलसी ने यों वर्णित किया है कि जब राम को सीता का दर्शन हुआ था, तब राम अकेले नहीं थे। उनके साथ प्रिय अनुज लक्ष्मण भी थे। सीता भी वहाँ

---

1. समय जानि गुरू आयस पाई। लेन प्रसून चले दोउ भाई। रामचरित मानस – 259

अकेली नहीं थी, उनके साथ कई सखियाँ भी थी। इस प्रकार उनके प्रथम साक्षात्कार के लिये तुलसी ने जिस पवित्र वातवारण का निर्माण किया, वह आदर्श पूर्ण मर्यादा से ओत–प्रोत है। सीता अनुरूप वर की प्राप्ति के लिये देवी से प्रार्थना करती हैं वह अपने मन की सारी अभिलाषायें गौरी मंदिर में जाकर भगवती के नजदीक प्रकट करती हैं।

पूजा कीन्ह अधिक अनुरागा।
निज अनुरूप सुभग वर माँग।।

इस प्रकार सीता रामचन्द्र जी के अनुपम सौन्दर्य के दर्शन पाते ही सीता ने अपनी आँखों के रास्त से रामचन्द्र जी को अपने हृदय में लाकर पलक रूपी किवाड़ बन्द कर दिये। राम सीता के प्रथम दर्शन में जो प्रेम का अंकुर फूट निकला यह प्रेम उनकी पूर्व प्रीति का ही परिणाम है। नारदमुनि ने सीता को यह बताया था कि उनका विवाह राम के साथ सम्पन्न होगा। इस गुरू वचन को मन में रखकर जब सीता ने राम को देखा तब उनके मन में राम के प्रति प्रेमा–भाव उत्पन्न हुआ, तो वह अस्वाभाविक और अमर्यादित नहीं है। राम को भी गुरू का आशीर्वाद अवश्य मिला था। अतः सीता को देखकर राम मन ही मन आनन्दित हुये –

देखि सीय सोभा सुखु पावा। हृदय सराहत बचनु न आवा।

सीता की अलौकिक शोभा देखकर राम का पवित्र चित्त भी क्षोभित हो गया[1]। तुलसी इस विक्षोभ को अकारण नहीं मानते। राम लक्ष्मण से कहते है –

रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मनु कुपंथ पग धरै न काऊ।
मोहि अतिशय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहुँ पर नारि न हेरी।[2]

इसलिये श्रीराम यह विश्वास करते हैं कि सीता उनकी अर्धांगिनी हो जायेंगी। तुलसीदास ने रामचरित मानस के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रेम व्यवहार विवाह से पहले भी हो सकता है, जब प्रेमी–प्रेमिका का मिलन वैवाहिक सम्बन्ध से प्राप्त होता है।

---

1. जासु विलोकि अलौकिक शोभा, सहज पुनीत मोर मन छोभा। मानस –बालकाण्ड, 263/2
2. मानस – बालकाण्ड 266/3

विवाह समाजोनुमोदित एक महत्वपूर्ण प्रथा है, जिसे प्रेमी–प्रेमिका को दाम्पत्य जीवन के लिये एक प्रमाण मिल जाता है। दाम्पत्य जीवन में उनका पूर्ण और दिव्य हो जाता है। प्रेम कभी एक पक्षीय न हो।

दाम्पत्य जीवन का लक्ष्य कोरी कामुकता भोगवृत्ति, या सन्तान सृष्टि मात्र नहीं है, अपितु पति–पत्नी के बीच अन्योन्य प्रेम द्वारा मधुर आनन्द की प्राप्ति भी है। तुलसीदास ने इस तथ्य के भलि–भांति जान लिया था। वस्तुतः दाम्पत्य जीवन का प्रमुख अंग प्रेम और उससे प्राप्त आनन्द है।

प्रेम के अभाव दाम्पत्य जीवन क्लेशपूर्ण, दुखसमन्वित एवं असफल बन जाता है। तुलसीदास ने इस तत्व को जानते हुये जनक–वाटिका प्रसंग में राम–सीता के बीच में प्रेम का अंकुर उगवाया था। सच्चे प्रेम में हृदय–हृदय का संयोग है।

धनुष–यज्ञ में आने पर एक बार पुनः सीता के नेत्र राम के रूप में उलझ जाते हैं पर तुरन्त ही लज्जा और संकोच के कारण वे उन्हें नियंत्रित कर लेती हैं।

गुरूजन लाज समाज बड़े, देखि सीय सकुचानि।
लागि विलोकन सखिन्ह तन रघुवीरहि उन आनि।।

राम चन्द्र जी के लिये धनुष तोड़ने के लिये उठने पर सीता का हृदय (जो कि भवानी आशीर्वाद प्राप्त कर चुका है) भी संशय से स्वभावतः भयभीत हो उठता है। वे सभी देवताओं की प्रार्थना करती हैं पिता का प्रण याद कर उन्हें पिता पर भी झुंझलाहट आ जाती है।

यहाँ तुलसी ने सीता के नारी हृदय का बड़ा सफल चित्रांकन किया है। एक ओर राम के प्रति अतुलनीय प्रेम, राम से विवाह की प्रबल आकांक्षा और उसी कारण संयम मानो अनेक हृदय को मथ देता है।

सीता का संशय ये है कि धनुष अत्यन्त कठोर है और कहाँ स्यामल मृदु शरीर के किशोर ("कहँ श्यामल मृदु गात किसोरा") यह सीता के अत्यन्त स्नेह की ही प्रतिक्रिया है। अपने स्नेह मात्र को कोमल मृदुगात समझना नारी हृदय की

कोमलता ही है। कदाचित् यह उसका मातृत्व है जो कभी–कभी पति के प्रति भी वात्सल्य जैसे भावों में बहने लगता है।

प्रेम की अधिकता भी बहुधा भय और संशय को जन्म देती है राम का धनुष तोड़ने में असफल होने का संशय इसी प्रकार का भय प्रतीत होता है। स्त्री–हृदय के पारखी तुलसी ने स्त्री सुलभ भावनाओं का सुन्दर वर्णन कियाा है। कुछ ही क्षणों में सीता को विश्वास हो जाता है। कि "जेहि पर जाकर सत्य सनेहूं तांहि मिलै कछु ना संदेहू।। इसके अनुसार यदि उन्होंने तन, मन और वचन से श्रीराम की चाहा है तो अवश्य ही भगवान उनकी इच्छा पूर्ण करेगा। प्रेमी हृदय का यह विश्वास प्रशंसनीय है। जयमाल पहनाते समय प्रेम का स्वरूप यहाँ देखा जा सकता है–

चतुर सखि लखि कहा बुझाई। पहिरावहु जयमाल सुहाई।
सुनत जुगल कर माल उठायी। प्रेम विवस पहिराइ न जाई

तुलसी ने कुछ हँसी के पुट भी दिये हैं। सीता की सखियाँ स्वामी के चरण छूने को कहती हैं लेकिन वह चरण नहीं छूती – यह बात सोचकर कि चरण स्पर्श होते ही अहिल्या तर गयी थी। राम सीता के इस अलौकिक स्नेह को जानकर हसँ देते हैं।[1] एक जगह और शादी के मंडप का सुन्दर चित्र तुलसी ने किस तरह विखेरा है–

दूलह श्री रघुनाथ बने, दुलही सिय सुन्दर मंदिन माहीं।
×   ×   ×
राम को रूप निहारति जानकी कंकन के नग की परछाई
याते सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही पल टारति नाहीं।

नववधू सीता का शील और लाज से युक्त और फिर भी प्रिय के रूप और अनुराग में लब्ध मुग्ध हृदय का यह कितना अनूठा चित्र है। प्रिय सन्मुख हैं फिर भी नारी सुलभ लज्जा के कारण आँखें उन्हें देख नहीं पातीं। वे इतने निकट हैं फिर कुलवधू का शील उस रूप–दर्शन की मधुर–बाधा बन जाता है। और ऐसे समय जब कंकण के नग में प्रिय का रूप प्रतिबिम्बित होता है तो–

---

1. गौतम तिय गति सुरति कर, नहिं परसति पग पानि
   मन बिहसे रघुवंश मनि, प्रीति अलौकिक जानि।

तो वरबस नयन उसमें उलझ जाते हैं। सीता अपने हाथ को इस भय से टेके ही रह गयीं कि हाथ के हटते ही नग प्रतिबिम्बित राम के रूपदर्शन से वंचित हो जायेंगी। अनुराग का प्रथम परिचयय ऐसे ही पागलपन की सृष्टि कर जाता है। प्रिय का चोरी–चोरी रूप–पान करने वाली सीता, कितने मधुर श्रृंगार का उदाहरण बन जाती हैं। जैसे समस्त रीतिकालीन मुग्धा नायिकायें इस एक सीता के सम्मुख फीकी पड़ जाती हैं। तुलसी को आचार्यो ने पवित्र श्रृंगार का चितेरा माना है। रस और कला की दृष्टि से ही नहीं प्रेम–भावना के मनोवैज्ञानिक निरूपण की दृष्टि से भी ये पक्तियाँ तुलसी को अतिशय श्रेय प्रदान करने वाली हैं।[1]

राम और सीता के प्रणय की प्राथमिक स्थिति के चित्रण को तुलसी ने मर्यादित रखते हुये भी मानवीय इच्छा, आकाक्षा संदेह, भय, हास्य आदि की सुन्दर छटा से अभिभूत किया है। इस प्रणय का दूसरी बार दर्शन जीवन की एक विकट स्थिति में होता है।

राम के वनवास का समाचार सुनकर सीता व्याकुल हो कौशल्या और राम के सम्मुख आ सास के चरणों की वन्दना कर सर झुकाकर बैठ जाती हैं। उनके आँखों से आंसू बह रहे हैं और उन्हें इस बात की चिन्ता है कि किस सौभाग्य के कारण राम का साथ होगा। बिना कुछ कहे ही माता कौशल्या मन के भावों की समझ सीता की सुकुमारता और वन की कठोरता का वर्णन कर राम से प्रश्न कर उठती हैं।

सोइ सिय चलन चहति बन साथू।

राम को यद्यपि माता के सन्मुख कुछ कहने में संकोच है पर समय का विचार कर सीता को वन की कठोरता सम्भावी कष्टों तथा सीता की सुकुमारता का भी वर्णन करते हैं। लज्जा और विनय की प्रतिमा सीता, राम के उन वचनों को सुन

---

1. श्रृंगार का इतना मार्यदित वर्णन हिन्दी में कम मिलेगा जहाँ अनन्तकाल तक घोर और कही–कहीं तो भद्दे श्रृंगार की अविछिन्न धारा वही हो, उस साहित्य में यदि इस कोटि का श्रृंगार वर्णन करने वाला है तो तुलसी। रसवादियों की दृष्टि छोड़कर यदि कलावादियों की दृष्टि से भी इस पथ पर विचार किया जाता है तो यह कला पूर्णता का, वस्तु निरूपण का और भाव व्यंजना का एक ही पथ ठहरता है। भावुक कवि की सबसे बडी विशेषता यही है कि मनुष्य के ह्रदयय में घुसकर उसकी भावनाओं का उथल–पुथल लखले और फिर उसका कला पूर्ण निरूपण करे। (श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र–कवितावली–भूमिका पृ0–13)

अत्यन्त विकल हो जाती हैं पर नेत्रों से बर्बस निकल पड़े आंसुओं को रोक धर्य धारण कर **कौशल्या** के पैर छू हाथ जोड़ कर अपनी ढिढाई के लिये क्षमा मांगते हुये कह उठती हैं–

मैं पुनि समुझि दीख मन मांही।
प्रिय वियोग सम दु,ख जग नाहीं।
×　　×　　×
प्रान नाथ करूनायतन सुन्दर सुखद सुजान।
तुम बिन रघुकुल कुमुद विधु सुरपुर नरक समान।

सीता के मुख से अर्द्धांगिनी की आवाज चीख पड़ती है —

मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू।
तुम्हहिं उचित तप मों कह भोगू।

सीता के इन स्नेहमय हार्दिक उद्‌गारों, पति के प्रति अटूट स्नेह, पति के बल और अपनी मति पर अटल विश्वास के सामने राम को झुकना ही पड़ा और वे समझ गये कि सीता उनके वियोग में जीवित नहीं रह पायेगी 'दृढ़ राखें नहिं राखहिं प्राना'।[1] अतः वे वन चलने की अनुमति देने पर विवश हो जाते हैं।

वन के पथ पर : प्रेम का चित्रण :– राम और सीता के उज्जवल प्रेम का मार्मिक और उदात्त पक्ष वन यात्रा के अवसर पर दिखाई देता है। जीवन की कठिन परिस्थितियों में पति–पत्नी में जो स्वाभाविक स्नेह एक–दूसरे के सुख–दुख, मान–मर्यादा एंव भावनाओं के प्रति जागरूकता एक–दूसरे के प्रति सहज विश्वास होना चाहिये जो दाम्पत्य जीवन का सबसे प्रमुख आधार हैं उसका बहुत ही सरल और सम्पूर्ण चित्र तुलसी ने खींचा है।

---

1. दृढ़ रा,खै नहिं राखहिं प्राना।

पुर तें निकसी रघुबीर वधू धरि धीर दये मग में डग है
झलकी भरि बाल कनि जल की पुट सुखि गये मधुराधर वै

× × ×

तिय की लखि आतुरता पिय की अंखियाँ अति चारू चली जल च्वै।

कोमल जनकनन्दिनी नगर से अभी दो ही कदम चलीं थी कि उनके माथे पर पसीने की बूंदे आ गयी और राम से कह उठी कि अभी कितना और चलना है आप अपनी पर्णकुटी कहाँ बनायेगे ? प्रिया का दुख छिपा न था। पत्नी ने वन के कांटो के बीच भी उनके साथ रहने का साहस किया था और उसे यथा शक्ति निभा भी रही थी। राम अच्छी तरह समझ रहे थे कि कोमलता की साकार प्रतिमा सीता के लिये राह की धूल में दो पग चलना भी कितना कष्टसाध्य था। फिर भी सीता के अपनी व्याकुलता को छिपाने का भोला प्रयास देखकर राम का हृदय भर आया और कमन–नयन प्रेमाश्रुओं से डूब गये। यथाः–

जल को गये लक्खन हैं लरिका, परिखौं पिय छाँह धरीक हवै ठाढ़े।
पोछि पसेउं वयारि करौं अरू पांय पखारौं भूभुरि डाढ़े।
तुलसी रघुबीर प्रियासम जानि के बैठि बिलंब सो कंटक काढ़े।
जानकी नाह की नेह लख्यो पुलको तनु वारि विलोचन बाढ़े।

सीता जी इतनी थक गयी है कि उनके पैर नहीं उठ रहे है। विश्राम करने का कितना सुन्दर बहाना सीता बना रही हैं। वे राम से कहती हैं कि हैं प्रभु लक्ष्मण जल लेने गये हैं जो भी हो अभी वे बालक हैं इसलिये क्यों न हम छाये में थोड़ी देन उनकी प्रतीक्षा कर लें। जब तक यहाँ रूके हैं तब तक लाइये आपके पसीने को में पोछ दूँ और जो पैर गरम धूल से जल गये हैं उन्हें मैं धुल दूँ।

राम समझ गये कि इन सब बातों के पीछे कारण है कि सीता अधिक थक चुकी हैं। इसलिये राम अपने पैर में काँटे चुभने का बहाना बनाकर देर तक बैठकर काँटा निकालने लगे। सीता भी कम चतुर नहीं है वो समझ गयी कि राम मुझे विश्राम देने के लिये ही कांटे का बहाना बनाकर कांटा निकाल रहे हैं। प्रिय के इस स्नेह को देखकर अनकी आंखों से आँसू गिरने लगे।

यहाँ दाम्पत्य रति का कितना मार्मिक कितना आदर्श कितना सम्पूर्ण चित्र हैं। शब्दों के आदान–प्रदान की भी आवश्यकता नहीं। नेत्रों का विनिमय ही जैसे प्रिया और प्रियतम के हृदय को एक दूसरे के सम्मुख खोल देता है। जानकी के स्नेह भरे अनुरोध के उत्तर में रघुनाथ का उन्हें अधिक से अधिक विश्राम देने की इच्छा से देर तक बैठकर कांटो को निकालते रहना कितना अर्थ भरा है। दम्पति के स्नेह का इतना करूण और मार्मिक चित्र निःसन्देह बेजोड़ है। इस तरह का चित्रण तुलसी जैसा मर्यादा प्रधान कवि ही कर सकता है। भारतीय संस्कृति की परम्परा में वर्णित और प्रशंसित दम्पति "दो शरीर और एक प्राण" की कल्पना तुलसी की इन पंक्तियों में सजीव हो गयी है।

फूलों की सेज पर एक दूसरे की धड़कनों में खोने वाले अथवा वियोग में विरहाश्रुओं मे डूब जाने वाले नायक–नायिकाओं से हमारा साहित्य भरा पड़ा है किन्तु जीवन की शूल भरी राहों में अनुराग के फूल खिला देने वाले, प्रेम आँसुओं से तन मन और प्राण सुरभित कर देने वाले तुलसी के ये रघुवीर और रघुवीर–वधु अद्वितीय हैं। अलौकिक सौन्दर्य से युक्त राम और लक्ष्मण, अप्रतिम सुन्दरी के सीता के तापस वेष धारण कर वन की ओर जाते हुये राह में स्त्री–पुरूषों का मन मोहित करते हैं यहाँ मग में ग्राम बालाओं का प्रश्न स्वाभावकि और मर्यादित है –

पूछति ग्राम वधू सिय सो कहो सावरे से सखि रावरे को हैं।

सादर और पवित्र दृष्टि से राम बार–बार प्रिया को देख लेते है। जिससे ग्राम–बन्धुओं का कोतूहल जग जाता है। वे कुछ समझ भी गयी और फिर पूछ भी बैठी –

सुनि सुन्दर बैन सुधारस साने, सयानि है जानकी जानि भली।
तिरछे करि नैन दे सैन तिन्हे समुझाइ कछु मुसकाइ चली।

प्रिय के अनुराग से गद्‌गद सीता केवल तिरछी दृष्टि से प्रियतम की ओर देखकर मुस्करा कर रह गई। उनकी इस तिरछी–दृष्टि के संकेत में क्या नहीं है? वे सर्वस्व हैं, स्वामी हैं और लोकरीति के अनुसार पति तो हैं ही। इतना सब सीता कैसे कहें समझायें? एक लाज और अनुराग में डूबी हुई तिरछी दृष्टि ही उनके पास

है। राम की पवित्र और सादर दृष्टि से प्रिया का बार–बार देखना भी उनके अतिशय प्रेम का परिचायक है। राम के लिये सीता केवल प्रियतमा ही नहीं, पूजा और आदर की वस्तु भी है, तभी उनकी दृष्टि में स्नेह के साथ आदर और पवित्रता भी झलकती है। इस प्रकार एकनिष्ठ अनुराग का परिचय ये पंक्तियाँ देती है।

पुरूष ह्रदय की रसिकता से तो हमारा हिन्दी साहित्य ही भरा पड़ा है किन्तु राम जैसे आदर्श प्रेमी का यह चित्रण केवल तुलसी की देन है। ग्राम वधुओं की इस दशा का यदि कृष्ण की गोपियों से तुलना करें तो पता चलता है कि इनमें भिन्नता है। राम की अविराम छवि और आकर्षक व्यक्तित्व ग्राम–वधुओं के ह्रदय में उनके प्रति स्नेह जगा देता है किन्तु यह ऐसा स्नेह है जैसा कि अतिशय सुन्दर पुष्प को देखकर मन का उसके आकर्षण में बंध जाना, लेकिन यहाँ आकर्षण का केन्द्र बिन्दु कोई दृष्य या पुष्प नहीं, एक असाधारण व्यक्तित्व है। एक ऐसा व्यक्तित्व जो केवल मनुष्यों को ही नहीं, अपितु पशुओं को भी मुग्ध कर देता हैं और वह भी उन पशुओं को जो स्वंय आखेटक के आखेट (शिकार) हैं।

अतः यहाँ आकर्षण केवल नयनों का नहीं मन और प्राण का भी है। किन्तु जिस प्रकार किसी सुन्दर फूल को देखकर प्रतिदान की आकांक्षा नहीं होती वैसे ही राम से ग्राम वधुओं को कुछ लेना नहीं, बस वे उस तीव्र आकर्षण से बंध गयी हैं और यह उनकी विवशता है। ये क्षण न तो कामना से कलुषित हैं और न ही भक्ति से बोझिल है। ग्राम वधुओं का यह प्रेम धरती की सोधी गंध लिये है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रेम का इतना मार्मिक उज्जवल और मर्यादित चित्रण तुलसी जैसा महाकवि ही कर सकता है।

तुलसी का विरह प्रेम :– वस्तुतः तुलसी दास विरह के गायक नहीं है और न स्वंय विरही। विरह–पीड़ित होकर रोते–कलपते रहना तुलसी को पसन्द नहीं है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि तुलसी के रचनाओं में विरह का वर्णन नहीं है।

श्रृंगार वर्णन के प्रति सहज उदासीन होते हुये भी तुलसी की रचनाओं में विरह–निवेदन के चित्रण भी हुये है।

तुलसी का विरह–वर्णन केवल विरह की संवेदना को व्यक्त करने के लिये ही है। इसमें उहात्मकता को स्थान नहीं है। वैसे अधिकतर कवियों ने दाम्पत्य विरह को ही अधिक स्थान दिया है, लेकिन तुलसी ने दाम्पत्य विरह के आगे बढ़कर पुत्र विरह, बन्धु विरह और प्रजा–विरह को साहित्य में स्थान प्रदान किया है। सीता–हरण के प्रसंग में राम का विरह तुलसी के दाम्पत्य विरह वर्णन का सुन्दर उदाहरण दीख पड़ता है। मारीच वध से लक्ष्मण सहित वापस आने पर सीता को कुटिया में न पा कर राम विरहकुल हो, वे वन के पशु–पक्षी, लता–पत्रों से सीता का पता पूछते है–

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी, तुम देखी सीता मृगनयनी।

यह एक प्रकार सीता के सौन्दर्य और गुणों का स्मरण है जो राम को दुखी करता है विरह में गुणों का स्मरण आना स्वाभाविक है विरह की गंभीरता का आभास तुलसी के केवल एक पंक्ति से ही होता है। ––

एहि विधि खोजत बिलखत स्वामी। मनहु महा बिरही अति कामी"।[1]

सीता का हनुमान के द्वारा जो विरह–संदेश भेजा गया उसे सुनकर राम अत्यन्त माननीय हो आये हैं। निम्न पंक्तियों में प्रेम की मार्मिक एवं गहन संवेदना व्यक्त हुई है।

तत्व प्रेम कर मम अरू तोरा, जानत प्रिया एकु मनु मोरा।
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं, जानु प्रीति रस एतनेहि मांही।[2]

प्रिय और प्रियतमा के प्रेम का रहस्य एक राम ही जानता है और वह मन भी सदा सीता के निकट रहता है। फिर क्या कहकर और किस भाँति उस प्रेम का परिचय दिया जाय। यह पंक्तियाँ इसका प्रमाण है कि यदि तुलसी चाहते तो विप्रलम्ब का भी उन्तम वर्णन कर सकते हैं किन्तु मानस के तुलसी को कदाचित लोक–परलोक की चिंता में इतना अवकाश ही न था कि वे सहज मार्मिक मानवीय प्रसंगों का समुचित ध्यान देते।

---

1. किंष्किंधा काण्ड चौ. दो – 8
2- मानस–सुन्दरकाण्ड – दोहा 14/7 पृ० सं०–376

राम के विरह की भाँति सीता का विरह भी मानवीय स्तर पर दिखाई देता है।

पति अनुकूल सदा रह सीता। शोभा खानि सुशील विनीता
आनति कृपासिंधु प्रभुताई। सेवति चरन कमल भर लाई।।

वह उस कुलवधू गृहणी एवं पत्नी रूप का चित्र जो भारतीय नारी के आदर्श रूप की कल्पना को साकार करता है। किन्तु इस सीता के सन्मुख भी राम का पति परमेश्वर रूप ही वह प्रभु रूप भी है। जो उन्हें अलौकिक स्तर पर रखता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि मानस का दाम्पत्य–विरह एक पवित्र उदात्त तत्व से ओतप्रोत है जिसे तुलसी के भक्ति और साधना का अधिक योग मिला है।

श्रृंगार वर्णन के प्रति उदासीन होने पर भी तुलसीदास अपने 'रामचरित मानस मे राम और सीता के विरह –वर्णन को प्रस्तुत करने में अत्यन्त सफल हुये हैं। रामचरित मानस में प्रवास विरह के प्रधानतः पाँच प्रसंग दीख पड़ते है। (1) रावण द्वारा हरण किये जाने पर सीता का विरह–विलाप (2) आश्रम को शून्य देखकर राम का विरह कथन (3) राम के विरह के सम्बन्ध में सीता से हनुमान का कथन (4) अशोक वाटिका में सीता का विरह (5) राम से सीता–विरह के सम्बन्ध में हनुमान का वक्तव्य। संक्षेप में रामचरितमानस के विरह वर्णनों को राम–विरह और सीता–विरह के रूप में चित्रित किया जा सकता है। यह चित्रण पीछे किया जा चुका है इसके अतिरिक्त दशरथ विरह प्रजा विरह, भरत–विरह विलाप आदि के भी संक्षिप्त उद्‌गार देखने को मिलते हैं।

मीरा :– प्रेम श्रद्धा का और श्रद्धा भक्ति का आधार है भक्ति, भक्त और भगवान के भाव संबंध की अभिव्यक्ति है, जो मनुष्य की ब्रह्म जिज्ञासा तथा आत्मा–परमात्मा के पारस्परिक संबंधों की चिन्तना और कल्पना पर आधारित है। वह भक्त के मन में भगवान के प्रति पूज्य बुद्धि प्रेरित ऐसे भावों को जन्म देती है, जिनमें आत्मीय संबंध और आत्मोद्धार की कामना एक साथ काम करती है।

भक्ति ईश्वर के प्रति प्रेम रूप की अभिव्यक्ति है। नारद भक्ति सूत्र में भी कहा गया है कि "यह परम प्रेम रूप और अमृत स्वरूपा है"? उसे पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है। भक्ति को पाकर मनुष्य किसी वस्तु की इच्छा नही करता है। किसी वस्तु की तरफ न वह आसक्त होता है न ही उसे विषय भोगों की प्राप्ति में कोई उत्साह होता है। यह प्रेमा भक्ति कामनायुक्त नही है। क्योंकि यह निरोध स्वरूपा है।

मीरा का भक्ति का स्वरूप परम प्रेम रूप है। उन्होंने अपने अश्रु जल से सींच–सींचकर प्रेम–बेलि बोई थी दही मंथन कर घृत काढ़ लिया था और छाछ छोड़ दिया था महर्षि शाडिल्य ने भक्ति को ईश्वर के प्रति परम अनुराग कहा है। मीरा ने इसी प्रकार की भक्ति की है। उसमें कृष्णा के प्रति मीरा का दिव्य, भव्य, उदात्त अनुराग व्यंजित हुआ है–

माई सांवरे रंग रांची।
साज शिंगार बांध पग घुघर डोक ड़ाज तच णाची।[1]

मीरा की यह रसीली भक्ति प्रेम पथ गामिनी थी।

भक्ति को परम प्रेमा रूपा मानने के बाद नारद ने भक्ति की ग्यारह आसम्तियों के बारे में बताया है। मीरा के काव्य में वात्सल्य भक्ति को छोड़कर सभी आसम्तियों पायी जाती है। मीरा के प्रभु गिरधर नागर बड़े कृपा निधान, शरणागत रक्षक, दीनहित कारी परितोद्वारक है। उन्होंने कौरवों की सभा में संकटग्रस्त द्रौपती की लाज रखी थी।

---

1. मीरा की पदावली–डाकोर के प्रति (भगवान दास तिवारी), पद–83, पृष्ठ–28

कृष्ण की सांवली सूरत विश्व मोहिनी थी। वह मधुर छवि मीरा की आँखों में बस गयी थी–। वे सुध–बुध खोकर कृष्ण के प्रेंम में तल्लीन हो गयी थी। मीरा का यह विश्वास था कि भगवान के स्मरण से सांसारिक जीवों के कोटि–कोटि के पाप नष्ट हो जाते हैं। इसीलिये उनका मन सांवरे का नाम रटता रहता था। पूजा शक्ति में अर्चन पाद सेवन और बन्दन सम्मिलित है। मीरा की भक्ति में यह स्वरूप देखा जा सकता है। मीरा हरि मंदिर में जाकर दर्शन करती थी, चरणामृत लेती थी, भजन गाती थी और नृत्य करती थी। मीरा की भक्ति की दास्याशक्ति कांता शक्ति बन जाती थी। जिसमें एक आदर्श भारतीय नारी अपने पति की जन्म–जन्म की 'दासी' होती है। इसी अर्थ में मीरा ने अपनी दास्य शक्ति प्रकट की है–

मीरा दासी गिरधर नागर, चेरी चरण धरी री।"[1]

× × ×

मीरा हरि रे हाथ विकाणी, जणाम–जणम री दाशी।[2]

मीरा ने कृष्ण को अपना मित्र माना। मीरा ने कृष्ण का वरण किया। अतः वे मीरा के जन्म–जन्म के साथी थे। मीरा का जीवन–मरण सर्वस्व उन्हीं के हाथों में था। मीरा की भक्ति और काव्य की आत्मा का मूल भाव कान्तासक्ति है। मीरा की भक्ति का यह भाव ऋग्वेद के मंत्र से जुड़ा है। अर्थात–सुख का ज्ञान रखने वाली एक ही मार्ग में बढ़ने वाली प्रभु प्राप्ति की कामना से संयुक्त मेरी समस्त बुद्धि आज प्रभु की सेवा में लगी हुई है और जैसे स्त्रियाँ अपने पति का आलिंगन करती हैं, वैसे ही मेरी बुद्धि स्वरक्षा के लिए ऐश्वर्य शाली पवित्र प्रभु का आलिंगन कर रही है। वात्सल्य भक्ति मीरा में नहीं पायी गयी है। भव बंधन की मुक्ति के लिए आत्म निवेदन, प्रपत्ति या शरणागति आवश्यक है। इसके छः अंग भक्ति रसज्ञों ने माने हैं। ये हैं–अनुकूल का संकल्प, प्रतिकूल का त्याग, गोप्तृत्व वरण, रक्षा का विश्वास, आत्म–निक्षेप और कार्पण्य। मीरा के काव्य में ये सभी अंग विद्यमान हैं।

---

1. मीरा काव्य (भगवानदास तिवारी), काशी के प्रति–पद संख्या–73
2. वही – पद संख्या–80

प्रभु प्राप्ति में सहायक साधनों को दृढ़ता पूर्वक अपनाने का शुभ संकल्प अनुकूल का संकल्प है –

बरजी री म्हां श्याम बिणा न रह्यां
साधा संगत हरि सुख पाश्यूं जग शूं दूर रह्या।[1]

भगवद्प्राप्ति के बाधक तत्वों का परित्याग 'प्रतिकूल का त्याग' है। मीरा ने लोक–लाज, कुल–मर्यादा, राणा और उनकी नगरी इसलिए छोड़ दी कि ये सब उनके कृष्ण प्रेम में बाधक थे। तथा मन, प्राण, जीवन की समग्र वृत्तियों को 'सावँरियाँ' से जोड़ लेने के कारण वे औरों से दूर हो गयीं –

चाड़ा अगम वा देस काड़ देख्या डरां।
भरा प्रेम रां होज हंश केड़ा करा।।
सावंड़या शूं प्रीत ओर शू आखड़ाँ।"[2]

प्रभु को त्राता मान रक्षक के रूप में उनका वरण करना गोप्तृत्व वरण है। मीरा ने सुना था कि उनके हरि अधमों उद्धार करते हैं एवं भक्तों के कष्ट का निवारण करते हैं। अतः मीरा ने उन्हें अपना जीवन–सर्वश्व मान अपनी सुधि के लिए प्रार्थना की –

थे बिण म्हारे कोण खबर ड़े गोबरधण गिरधारी।
मीरा रे प्रभु गिरधर नागर चरण कंवड़ बड़हारी।[3]

प्रभु के शरण में जाते ही भक्त के मन में रक्षा का विश्वास उत्पन्न हो जाता है। इसी विश्वास पर मीरा हंसते–हंसते विष पी गयीं –

पग बांध घुघरयां णाच्या रीं।
विखरो प्याड़ों राणा भेज्यां पीवां मीरां हांशा री।[4]

अपने आपको भगवान के हाथो में सौप देना 'आत्म निक्षेप' है। "म्हांरा री गिरधर गोपाड़, दूसरा णा कूयां" में मीरा का आत्म निक्षेप प्रकट है।

---

1. मीरा का काव्य–भगवानदास तिवारी, डाकोर के प्रति, पद–60, पृ0–22
2. काशी के प्रति–पद संख्या–71, पृ0–26
3. मीरा का काव्य–भगवानदास तिवारी–पद संख्या–42, पृ0–18
4. मीरा का काव्य–भगवान दास तिवारी–पद संख्या–42, पृ0–19

कार्पण्य का अर्थ है–भक्त का दैन्य, जिसके सहारे वह भगवान की करूणा को उद्‌बुद्ध कर उसकी धारा अपने ओर मोड़ने का प्रयास करता है। मीरा की प्रेम–पुकार में उनका दैन्य साकार हो उठा है। तन्मया शक्ति भक्ति की प्रौढ़ावस्था है, जिसमें भक्त भगवान के रूप, गुण, विभव, लीलादि का ध्यान करते–करते तल्लीन हो जाता है। इस अवस्था में भक्त को स्वयं का ध्यान रहता है, न लोक–लाज मर्यादा की चिन्ता ही रहती है। यह आत्मानन्द या ब्रम्हानन्द की अवस्था है। मीरा भी अपने कृष्ण के प्रेम में इतना भाव–विभोर हो जाती थी कि हरि मंदिर में नाचती कीर्तन करती थी। न तो उन्हें स्वयं का ध्यान रहता था न ही लोक मर्यादा की परवाह।

विरहाशक्ति प्रेम साधना का श्रृंगार है। मीरा ने अश्रु जल से सींच–सींच कर प्रेम–बेल बोयी थी। प्रेम की नाव में बैठकर विरह समुद्र में अकेली तड़प रही थी। उनकी अन्तर्वेदना को कोई नहीं जानता था, पर वे चातक और मछली की तरह प्रिय विरह में तड़पती रहती थीं –

सखी म्हारी णीद णशाणी हो।
पिय रो पंथ निहारता शब रैण विहाणी हो।।
ज्यूं चातक घण कूं रतां मछरी ज्यूं पाणी हो।
मीरा व्याकुल बिरहणी सुध–बुध बिसराणी हो।।[1]

मीरा साधु–सन्तों के बीच बैठकर अधमोद्धारक भव–भय–भंजक भगवान के नाम, गुण, कथा प्रसंगादि का श्रवण करती थी –

म्हा सुव्या हरि अधम उधारण।
अधम उधारण, भव–भय तारण।।[2]

कीर्तन भक्ति का मुख्य अंग है। मीरा कृष्ण के प्रेम में भाव–विभोर कीर्तन गाया करती थी। उनका विचार था कि भजन के बिना मानव जीवन नीरस है –

मीरा रे प्रभु गिरधर नागर, भजण बिणा नर फीका।[3]

---

1. मीरा की प्रामाणिक पदावली–पद–39, पृ0–18
2. मीरा की प्रमाणिक पदावली (भगवानदास), पृ0–16
3. वही, पद संख्या–8, पृ0–11

मीरा के प्रभु ऐसे थे जिनके नाम स्मरण से अनेक पापियों का उद्धार हो गया था। मीरा अपने प्रिय पर आसक्त तो थी ही किन्तु उनके नाम पर लुभा गयी थी –

"पिया थारे णाम डुभाणी जी।"

भव सागर से पार उतरने के लिए मीरा भगवान के सुभग, शीतल, कमलवत कोमल इसी चरणों का स्पर्श करते हुए अपने मन से कहती थी कि –

मन थें परसि हरि रे चरण।
सुभग सीतड़ कवड़ कोमड़ जगत ज्वाड़ा हरण।।[1]

गिरधर के पूजन–अर्चन के समय मीरा मोतियों का चौक पूरती थी, उनकी बलिहारी जाती थी। भक्त को भवसागर से पार करने के लिए भगवान ही एक मात्र साधन है। इस कामना से प्रेरित हो मीरा कृष्ण की प्रार्थना करती थी। कृष्ण मीरा के जन्म–जन्म के साथी थे और **"मीरा हरि रे हाथ विकाणि, जणम–जणम री दासी"** थी। मीरा का सख्य भाव 'दोस्ती' नहीं सहजीवन बिताने वाले पति–पत्नि की सहचर्य भावना का द्योतक है –

म्हारो जणम–जणम री साथी।
थाणे ना विशर्‌या दिण–राती।।[2]

मीरा के लिए कृष्ण जीवन प्राण आधार थे। उनके लिए कृष्ण के बिना तीनों लोकों में और कोई सहारा न था। वह कृष्ण प्रेम में रंग गई थी। मीरा के आत्म निवेदन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे परलोक में नहीं, इस जीवन में, यह लोक में कृष्ण को आने के लिए और आकर मिलने के लिए आमंत्रित करती हैं तथा उनके बांह पकड़कर भवसागर से उबरने की प्रार्थना करती हैं।

मधुरा भक्ति :– जीव–ब्रह्म सम्बन्ध के आधार पर मीरा की कान्तासक्ति मधुरा भक्ति के रूप में प्रकट हुई है। मीरा द्वारा कृष्ण के लिए स्वामी, पिय–पिया, प्रीतम आदि सम्बोधन इसी दाम्पत्य भाव–मूला मधुरा भक्ति के प्रतीक हैं। उनका समर्पण, प्रेम, विरह, सेवाभाव और मिलनातुरता सभी मधुरा भक्ति से प्रेरित हैं।

---

1. मीरा की प्रमाणिक पदावली (भगवान दास), पद–14, पृ–12
2. वही, पद–43, पृ–18

मीरा की भक्ति साधना में पारमार्थिक अनुभूति और आत्मोद्धार की विराट चेतना कार्य करती है। उनमें चिन्तनशील आत्मा की भावुक प्रेमिका का एक निष्ठ प्रेम और कर्मठ दार्शनिक का पुरुषार्थ एक साथ परिलक्षित होता है। परम वैष्णवी कृष्णोपासिका के नाते उनकी भक्ति में आत्मा के सनातन नारीत्व की परम्ब्रह्म कृष्ण के प्रति परम प्रगाढ़ प्रीति प्रकट हुई है। इसीलिए मीरा का काव्य व्यक्तिनिष्ठ अनुभूतियों से ओत–प्रोत है। भावना की दृष्टि से देखा जाय तो मीरा की सम्पूर्ण भक्ति प्रेममूला भक्ति भाव पर आधारित है और यह भक्ति निर्गुण और सगुण भक्ति कवियों में सामान्य रूप से पायी जाती है। यद्यपि रति भाव प्राणी मात्र का प्रबल एवं स्वाभाविक मनोभाव है, किन्तु मानव जीवन में उसकी अत्यधिक आसक्ति सर्वनाश का मूल है। भगवान कृष्ण ने गीता में भी यही बात बतायी है।

लौकिक जीवन इंद्रियों के वशीभूत हो विषय चिन्तन करता है, विषय चिन्तन विषयासक्ति बहती है, आसक्ति से विषयों की कामना होती है, कामना पूर्ति में विघ्न पड़ने से क्रोध एवं क्रोध से अविवेक और इससे स्मृति भ्रम एवं स्मृति भ्रम से बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि का नाश होते ही व्यक्ति श्रेय साधना च्युत हो जाता है। लौकिक विषय वासनाओं को, प्रेम भावनाओं को ईश्वरोन्मुख करना मधुरोपासना है। वृहदारण्यक उपनिषद में इस प्रकार का कथन किया गया है कि–जिस प्रकार अपनी प्रिया द्वारा आलिंगित पुरुष को न कुछ बाहर का ज्ञान रहता है और न भीतर का, उसी प्रकार यह पुरुष भी प्रज्ञात्मा द्वारा आलिंगित हो जाने पर न कुछ भीतर का विषय जानता है और न बाहर का ही।

इसी भाव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जब भक्त एक बार भगवान से तादात्म्य स्थापित कर लेता है तो वह सांसारिक विषयों से प्रभावित नहीं होता और वह ईश्वर के आनन्द रस में सर्वथा मग्न रहता है। इसी भक्ति रस को 'ब्रह्मानंद सहोदर' कहा गया है। मीरा ने अपने आराध्य कृष्ण से ऐसी ही भक्ति की है। इस प्रकार मीरा की भक्ति दाम्पत्य भाव की ही भक्ति है। इस प्रकार की भक्ति कबीर आदि सन्तों में भी मिलती है किन्तु मीरा की भक्ति में बल्लभ दर्शन की निकटता दिखायी देती है। बल्लभाचार्य ने भी भक्ति के नौ सोपान माने। मीरा की

भक्ति में भी यह सोपान दिखायी देता है। वैष्णव कवियों ने ज्ञान और भक्ति को उच्च स्थान दिया है। भक्ति भी श्रद्धा का विषय है, एवं ईश्वर भी तर्क का नहीं आस्था का विषय है।

दाम्पत्य प्रेम :– प्रेम मानव जीवन की वह मूल वृत्ति है जो भिन्न स्थितियों में भिन्न रूप धारण कर समस्त क्रिया व्यापारों में व्याप्त रहती है। कहीं यह स्नेह रूप धारण कर मां शिशु के मध्य वात्सल्य का संचार करती है, कहीं स्त्री–पुरुष के मध्य प्रणय के रूप में प्रगाढ़ दाम्पत्य भावना का सृजन करती है और कहीं यही प्रेम वृत्ति श्रद्धा का मिश्रण होने से भक्ति की संज्ञा से विभूषित होती है एवं प्राणी को प्रभु के प्रति उन्मुख कर उसके जीवन को सार्थकता प्रदान करती है। काम परिधि में प्रविष्ट होने पर यहीं श्रृंगार का रूप धारण करती है। प्रेम का आलम्बन कोई प्राणी या पदार्थ हो सकता है जबकि भक्ति का आलम्बन कोई अलौकिक उपास्य ही सम्भव है। भक्ति में आत्म तत्व की गति प्रमुख है जबकि श्रृंगार में शरीरोपभोग की। किन्तु प्रेम हृदयानुभूति का विषय है जिसमें कोई सिद्धान्त, तर्क, दर्शन, औचित्य, अनौचित्य की सीमा मर्यादा नहीं। इस प्रकार भक्ति एक सम्प्रदाय है, श्रृंगार एक रसधारा है तो प्रेम एक साधना है। मीरा ने इसी अनिवार्य प्रेम पंथ को जीवन यात्रा का माध्यम बनाया।[1]

मीरा के प्रेम का प्रमुख रूप दाम्पत्य ही है। इनमें दास्य भाव का भी प्रेम दिखायी देता है लेकिन उसका स्वरूप गौण है। मीरा के दास्य भाव में भी दाम्पत्य भाव ही प्रमुख है। मीरा ने कृष्ण को अपना पति माना और उसी प्रेम में तल्लीन रहीं। एक स्थान पर मीरा ने अपने को 'गरीब–निवाज' राम की दासी कहा है।[2] दासी होने के नाते वह शरणागत् वत्सल राम की शरण में जाना चाहती हैं। राम की प्रेम साधना के लिए किसी भौतिक श्रृंगार की आवश्यकता नहीं होती। इस लिए मीरा सारे श्रृंगारों का त्याग कर राम की शरण में चली गयीं। श्रृंगार की जगह उन्होंने तिलक धारण किया है –

1. मीरा की प्रम साधना–भुवनेश्वरनाथ मिश्र, प0ृ–61
2. मीरा दासी राम की, राम गरीब निवाज–मीरा की पदावली, पृ0–42 मीरा की पदावली, प0ृ–42

छापा तिलक बनाइया, तजिया सब सिंगार।
म्हे तो शरणे राम के भल निन्दो संसार।।

मीरा भगवान राम से कहती हैं कि मैं अब तुम्हारी शरण में हूँ। जैसे भी हो, मेरा उद्धार करो। मीरा कहती हैं कि हे स्वामी मैं अबला हूँ, गुण हीन हूँ, तुम सर्व समर्थ हो, तुम्हारे अतिरिक्त मेरा कोई नहीं विराम। हे प्रभु मेरी लाज की रक्षा कीजिए।

होजी म्हाराज छोड़ मत जाज्यो।
मैं अबला बल नाहिं गोसाई, तुमहिं मेरे सिरताज।
मीरा के प्रभु और न कोई, राखौ अबके लाज।

मीरा के दास्य भाव में जो दाम्पत्य प्रभाव दिखायी देता है उसके कारण दास्य प्रेम में मुधरता आ गयी है। वात्सल्य भाव का एक अत्यन्त क्षीण रूप मीरा के पदो में दिखायी देता है। इस वात्सल्य की आश्रया यशोदा ही हैं और उनके बाल रूप के प्रति दर्शन रस से आकर्षित गोपियाँ उस वात्सल्य की धारा को माधुर्य की ओर मोड़ रही हैं। ऐसा ही कुछ वातावरण मीरा के वात्सल्य के पदों में दिखाई देता है। इस प्रकार दाम्पत्य प्रेम की प्रमुखता को आधार मानकर ही मीरा के प्रेम का चित्रण किया गया है। प्रेम में डूबा हुआ हृदय संसार में चारों ओर दृष्टि दौड़ाता है, परन्तु अपने प्रेम पात्र जैसा उसे कुछ भी दिखता नहीं। प्रेमी भगवान के हाथ बिख जाता है और वह सर्वथा उसी का होकर जीता है –

"मैं तो गिरधर के घर जाऊँ।"[1]

मीरा के दाम्पत्य प्रेम में विरह प्रेम और भी व्यापक बन पड़ा है। इसमें वैयक्ति जीवन का संस्पर्श दिखाई देता है। मुधरा भक्ति प्रेमाभक्ति का ही एक रूप है। भक्ति के क्षेत्र में माधुर्य भाव का अभिप्राय है–भक्त का भगवान के प्रति दाम्पत्य भाव जिसका मूल रति (प्रेम अथवा आसक्ति) रति है। वैष्णव काव्य शास्त्रकारों ने इस देव विषयक रति के पाँच भेद माने हैं–शान्ति, प्रीति, वात्सल्य और माधुर्य। जिसमें माधुर्य का स्थान सर्वोपरि है, क्योंकि इसी में भक्त और भगवान के अनन्यता की पराकाष्ठा सम्भव है। मीरा में अपने इष्ट के प्रति इसी अनन्य प्रेम का दर्शन

---

1. मीराबाई और उनकी पदावली (देसराज सिंह भाटी) पद–29, पृ–182

होता है। मीरा के आलम्बन (प्रियतम) वह नटवर नागर श्याम हैं जो भक्तों के परम पुरुष गोपों का स्वजन सखा, आर्तजनों का सहारा और गोपियों का कन्हैया नाम से प्रख्यात है। भक्त कवियों और गायकों की सुललित वाणी जब इस मन मोहनी मूर्ति की अभ्यर्थना से मुखातिब हुई तो उनके प्रेमाभिभूत हृदय से भावों की ऐसा निर्झरणी प्रवाहित हुई जिसमें कोटि–कोटि जन सिक्त होकर झूम उठे। ऐसे ही हृदयों में एक मीरा का नारी–हृदय भी था।"[1]

मीरा का कृष्ण के साथ प्रणय प्रेम उनके जीवन में इस कदर व्याप्त हो गया है कि उसका रूप विरह का हो गया है। वो प्रेम में दीवानी है, उनके इस दर्द को कृष्ण के अतिरिक्त और कौन समझ सकता है –

हेरी मै तो दरद दीवाणी, मेरो दरद न जाणै कोय।[2]

मीरा की इसी अनन्य भक्ति को देखकर कुछ भक्तों ने मीरा को 'राधा का अवतार' कहा है। मानों उसकी श्याम के प्रति युग–युग का प्रेम अतृप्त ही रहा इसलिये हर जन्म में वह उसी के गीत गाती उसी के लिये दीवानी बनी भटकती हैं।

तुम देख्या बिन कल न परत है, हियो फटक मोरी छाती।
मीरा कहे प्रभु कब रे मिलोगे, पूर्व जन्म के साथी।

जहाँ आलम्बन का स्वरूप मीरा के काव्य में अनूठा बन पड़ा है वहीं आश्रत्व का भी अद्‌भुत बन पड़ा है। मीरा का अपने प्रेम के प्रति सशक्त क्रांति, उनके आत्मबल एवं दृढ़ इच्छा शक्ति का ही परिणाम है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि लौकिक मान– अपमान का भय व्यक्ति को अनेक मानसिक कुंठाओं से जकड़ देती है। मीरा ने इन सभी स्तरों का अतिक्रमत करके अपने व्यक्तित्व को सर्वथा स्वाभाविक वातावरण प्रदान किया । और मीरा ने दाम्पत्य भाव से उनका वरण किया है। योग और ज्ञान मन को प्रियतम में एकाग्र करने के ही साधन है।

---

1. मीराबाई की काव्य साधना – डॉ0 राम प्रकाश, पृ–62
2. मीरा की पदावली – पद संख्या–96, पृ0–251

"जोगियो चतुर सुजण सजनी ध्यावै शंकर" सेस।[1] कबीर के सम्बन्ध में इस तरह कहा जा सकता है कबीर ने संसार को मिथ्या कहा जिसका परिणाम निराशा होता है। यह मोहमाया का संसार प्रेमी साधक को दिग्भ्रमित कर देता हैं सद्गुरू साधक को संसार से हटाकर परम साध्य की ओर उन्मुख करता है। इन्ही मिथ्या रूपों का परित्याग करके मीरा सच्ची योगिनी बनीं। इसी प्रकार मीरा का रूप भी लोकोत्तर हो जाता है राधा के रूप में मीरा का चित्रण आया है। मीरा का राधामय होते–होते राधा में पूर्ण तादात्म्य हो गया। इस प्रकार मीरा ने एक नवीन आर्कषण प्रदान किया। मीरा गिरधर की प्रेमिका बनकर उसके हाथों में बिक गयी हैं–

"मीरा गिरधर हाथ बिकानी, लोग कहें बिगड़ी"। मीरा अपने आपको कृष्ण के प्रति समर्पित कर देती हैं। अपने प्रियतम की सुखद अनुभूति का चित्रण कबीर आदि सन्तों ने किया है जबकि अरुप की साधना में रूप के आर्कषण का प्रश्न ही नहीं उठता लेकिन मीरा ने कृष्ण के रूप की कल्पना करके उनसे प्रेम किया। कृष्ण के चरण को छोड़कर जितने भी अंगों का वर्णन किया है वह रूप सौन्दर्य का ही दृष्टि से किया गया है । प्रियतम के कमर में छुद्रघंटिका सशोभित हो रही है। हलाँकि कृष्ण के ये बालरूप का आभास दे रही है। लेकिन मीरा अधिकतर कृष्ण के प्रत्येक रूप में अपनी माधुर्य आसक्ति का ही आरोप करती हैं –

छुद्र घंटिका कटि तट शोभित, नूपुर सबद रसाल।"[2]

मीरा जब कृष्ण को देखती हैं तो उनकी मुस्कान अलग ही जादू बिखेर रही है। मानव जीवन में 'राग' या प्रेम का विशेष महत्व होता है। क्योंकि यही जीवन और उसके आकर्षण के प्रति आसक्ति का मूल कारण है। राग के ही कारण मनुष्य अपने जीवन में कर्म की ओर उन्मुख होता है। इसी लिए प्रेम को जीवन की मूल प्रवृत्ति स्वीकार किया गया है। प्रेम भावना का उद्भव जिसमें होता है। वह हमारी आत्मा है। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से दूसरों को सुख पहुँचना ही प्रेम का मूल उद्देश्य रहा है। द्वैत में अद्वैत भाव उत्पन्न कर एकाकार होने की प्रबल इच्छा,

---

1. "भगवान के अर्थ में 'योगी शब्द का प्रयोग हुआ है। जो शेष और शिव का भी साध्य है।" मीराबाई और उनकी पदावली–पद संख्या–147, पृ0–301
2. मीरा की पदावली – पद संख्या–3

कबीर, जायसी, तुलसी, सूर एवं मीरा में देखी जा सकती है। प्रेम की सभी मनोदशाओं का वर्णन प्रेमा भक्ति में दिखायी देता है। जिसमें दैन्य वात्सल्य संख्य एवं माधुर्य भाव प्रमुख होता है। प्रेमा भक्ति में माधुर्य भाव की भक्ति को सबसे उत्तम माना गया है। क्योंकि इसमें सभी भावों का सम्मिलन हो जाता है। माधुर्य भाव की भक्ति, श्रृंगार रस का आध्यात्मिक रूप है। इसी श्रृंगार रस को जब ब्रह्म के सन्दर्भ में देखा जाता है तो वह उज्ज्वल रस कहलाता है। इसी रस को ब्रह्मनन्द सहोदर भी कहा जाता है। इसे प्राप्त कर लेने के बाद कुछ अप्राप्त नहीं रह जाता है। शंकराचार्य ने इसी आनन्द (मुक्ति) को 'अप्राप्तत्व की प्राप्ति' कहा है। लेकिन सभी भक्त कवि अपनी मुक्ति भक्ति में ही मानते हैं। वो शंकर तरह सर्वदा के लिए ब्रह्म में मिलना नहीं चाहते। वे ईश्वर से यही निवेदन करते हैं कि–वे बार–बार मनुष्य रूप में इस संसार में आये और ईश्वर की भक्ति करें। ईश्वर की भक्ति में लीन रहने में ही वे अपनी मुक्ति मानते हैं।

मीरा की भक्ति मूलतः कान्ता भाव की भक्ति है। उन्होंने कृष्ण को पति मानकर प्रेम किया। मीरा का प्रेम गोपियों जैसा था एवं उनके प्रेम के आलम्बन कृष्ण थे। मीरा के प्रेम की विशेषता थी कि प्रेम की उत्पत्ति उनके हृदय में उत्पन्न हो गयी थी। यह प्रेम भक्ति निरन्तर दृढ़ होती गयी। इस प्रकार मीरा के काव्य में एक ही भाव की प्रधानता है। और उसी लक्ष्य तक पहुँचने के लिए अन्य भावों का प्रादुर्भाव हुआ है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में–"मीरा के जीवन भर में केवल एक भाव है, एक ही रस है और एक ही रंग है,...... उसी से उनकी सारी अन्तरात्मा व्याप्त है और उसी को आत्म प्रदर्शन द्वारा प्रकट करने की चेष्टा में वे पद रचना की ओर स्वाभवतः प्रवृत्ति हो जाती हैं। मीराबाई के हृदय पर उनके जीवन भर एक ही भावना की लहरें हिलोरें मारती रहीं, वे सदा समझती रहीं कि मैं गिरधर लाल की अपनी हूँ और उनके द्वारा अवश्य अपनायी जाऊँगी।"[1]

इन्द्रियों के द्वारा प्रेम की अभिव्यक्ति होने के बाद भी उसका मूल स्रोत हमारी आत्मा है। प्रेम का अर्थ है–भाव–बन्धन। अतः प्रेम ईश्वर के प्रति एक अनन्य

1. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी – 'मीराबाई की पदावली' भूमिका पृ0–32 (हि0सा0स0 प्रयाग, सन्–1964)

आकर्षण है। इस आकर्षण का कारण ईश्वर का सौन्दर्यानुभूति है। मीरा भी अपने प्रेम को भाव–बन्धन से दृढ़ बनाना चाहती हैं।

"मैं तो गिरधर के घर जाऊ।"

इस प्रकार अपना सर्वस्व त्यागकर मीरा प्रियतम के अधीन हो जाना चाहती है। माधुर्य प्रेम के अन्दर आसक्ति का भाव रहता है लेकिन वह ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पित हो जाने के कारण मर्यादित हो जाता है। "जिस प्रकार की रस सामग्री (भाव, विभाव, अनुभाव) सामग्री श्रृंगार रस की होती है, उसी प्रकार की रस सामग्री मधुर रस की है, अन्तर केवल इतना है कि मधुर रस में जो प्रेम पति भाव से किया जाता है, उसका आलम्बन लोक नायक न हो कर ईश्वर का कोई अवतरित स्वरूप होता है।"[1] मीरा ने प्रारम्भ से ही कृष्ण से एक भाव के रूप में उपासना की। अन्य रूप उनके काव्य में गौण हो गये हैं। तभी कहती है –

"म्हारां री गिरधर गोपाल, दूसरा न कूंया।"[2]

मीरा का उद्देश्य अपने प्रियतम को रिझाना तथा उन्हें आनन्दित करना था। वे अपने प्रेम के पीछे सब कुछ त्यागने को तत्पर हैं –

"महल अटारी हम सब त्यागा, त्याग्यौ थारो बसनौ हार।"

मीरा की सम्पूर्ण जीवन इच्छा उनके प्रियतम के साथ अन्तर्भूत हो गयी। मीरा का पृथक अस्तित्व कुछ शेष न रहा। इस प्रकार मीरा की प्रेमासक्ति के लिये रूप ही आकर्षण का केन्द्र बन जाता है। आलम्बन का एक सुन्दर चित्र इस प्रकार है –

या मोहन के मैं रूप लुभानी।
सुन्दर बदन कमल दल लोचन बांकी चितवन मंद मुसकानी।
तन मन धन गिरधर पर वारूँ, चरण कमल मीरा लपटानी।"[3]

वे नयन मोर मुकुट पीताम्बर धारण करने वाले परम सुन्दर प्रियतम की ओर बरबस आकर्षित हो जाते हैं। ये आँखें दर्शन की इतनी प्यासी हैं कि अपने कृष्ण के

---

1. अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय, भाग–2, पृ0–622
2. मीरा की पदावली – पद संख्या–8
3. मीरा की पदावली – पद संख्या–8

दर्शन के लिये दिन रात बाट देखती रहती हैं और इस तरह वे अपनी दश्नन साधना में लगी हुई हैं –

"आँखयां तरशां दरसण प्याशी।"[1]

मीरा कहती हैं कि कृष्ण की परम मधुरमूर्ति आंखों के माध्यम से मेरे हृदय में आकर स्थिर हो गयी। इस प्रकार मीरा का आलम्बन सर्वांग सुन्दन है। इसलिए मीरा गिरधर गोपाल के अंग–अंग पर बलि जा रही हैं।

गिरधर के अंग–अंग मीरा, बलिजाई।[2]

इस प्रकार मीरा के परम आराध्य की कल्पना की पृष्ठिभूमि में कृष्ण का परम्परागत रूप है। कृष्ण का समग्र रूप मीरा की अनुभूति में अपने समस्त उल्लास और वैभव के साथ समाविष्ट हैं।

स्वकीया या परकीया भाव :– बंगाली वैष्णव साहित्य में राधा के प्रेम को परकीया प्रेम ही माना गया है लेकिन ब्रज भक्त कवियों ने ब्रह्म वैवर्तपुराण की पद्धति पर राधा और कृष्ण का प्रेम स्वकीया प्रेम ही माना है। सूर ने राधा और कृष्ण के विवाह का वर्णन कई पदों में किया है। इसी प्रकार मीरा के प्रेम में स्वीकीया भाव ही दिखता है। लौकिक दृष्टि से पतिव्रता स्त्री के आदर्शानुसार–मीरा को अपने सांसारिक पति को छोड़कर किसी अन्य से प्रेम करके सती के आदर्श से वंचित नहीं होना चाहिए था। इसीलिये कुछ विचारक मीरा की प्रेम पद्धति में परकीया तत्वों की खोज करते हैं। पर मीरा के अनेक पदों में इस अलौकिक परिचय की चर्चा मिलती है। मीरा के प्रेम–विवाह में लोकगीत की भूमिका बड़ी सन्दर बन पड़ा है। एक दिन मीरा स्वप्न में अपनी माँ से कहती हैं कि "स्वप्न में मैंने 'गिरधर गोपाल' से विवाह किया। विवाह से सम्बन्धित सभी रीतियाँ स्वप्न में ही पूरी हो गयी और मेरा सुहाग अचल हो गया है–

माई म्हांने सुपने में, वरण गया जगदीश।
सोती को सुपना आवियाजी, सुपना विस्वाबीस"[3]

---

1. मीरा ग्रंथ – पद संख्या–8, पृ0–85
2. मीरा की पदावली – पद संख्या–9
3. मीरा की पदावली – पद संख्या–26, पृ0–14

कई स्थान पर मीरा ने अपने आपको सुहागिन कहा है। लोक में विवाहिता स्त्री को ही सुहागिन माना जाता है। इस प्रकार मीरा के प्रेम को कबीर की तरह स्वकीया भाव की परम्परा में मानना ही अधिक संगत दिखाई देता है। जीवन के घटनाक्रम के अनुसार भी "गिरधर गोपाल की बाल–परिणीता मीरा को राधा के साथ लौकिक परिस्थितियों ने सम्बद्ध कर दिया था पर जब यह लौकिक बन्धन दैव इच्छा से टूट गया तब यथार्थ स्वकीया प्रेम का पुनर्जीवन हुआ। गोपियों के परकीया प्रेम के पीछे भी यही बात थी। लौकिक पतियों से विवाह भी एक सांसारिक कृत्य था जो शुद्ध पारलौकिक स्वकीयात्व को विचलित नहीं कर सकता–**"जणम जणम री क्वारी"** कहकर मीरा ने इसी लोकोत्तर स्वकीयात्व की ओर संकेत किया है।

स्वीकया प्रेम को अभेद का प्रतीक भी माना गया हें पति–पत्नी धार्मिक दृष्टि से एक ही हैं। इसी को आंगिक भाव से शास्त्रों में निरूपित किया है। अर्धनारीश्वर की अवधारणा इसी भाव का साकार रूप है। आध्यात्मिक दृष्टि से सीता और राम भिन्न प्रतीत होते हुये भी एक हैं। बालकाण्ड में तुलसीदास ने कहा है कि – "गिरा अरथ जलबीच सम, कहियत भिन्न न भिन्न।" इस प्रकार ध्यान से देखा जाय तो मीरा और गिरधर गोपाल में भी अभेद हो जाता है। मीरा स्वयं अपने को गिरधर गोपाल से सूर्य–धूप न्याय से अभिन्न बताया है –

तुम बिच हम बिच अन्तर नाहीं, जैसे सूरज धामा।[1]
मीरा के मन और न चाहे, चाहे सुन्दर श्यामा।।

माधुर्य भाव की अंतिम परिणति ही अभेद भाव की सूचक है। इसलिये माधुर्य भाव के आदर्श की रूप में राधा को प्रतिष्ठित किया गया है। मीरा की भक्ति माधुर्य भाव की भक्ति है। मीरा ने अपनी भक्ति को एक स्थान पर "भगति रसीली" कहा है। सूर और तुलसी की भाँति मीरा की भक्ति भी अनन्यता पर आधारित है। कृष्ण के प्रति अपने अनन्य भाव को मीरा ने अनेक स्थानों पर अभिव्यक्त किया है। एक स्थान पर वे कहती हैं कि–"तीनों लोकों में तुम्हारे बिना मेरा कोई आश्रय नहीं है। इस सम्बन्ध को अंश–अंशी सम्बन्ध कहा गया है। मीरा ने भी आध्यात्मिक तत्व को अपने अनन्य भाव के साथ सम्बद्ध किया है।

---

1. मीरा की पदावली – पद संख्या–115, पृ0 – 115

इस प्रकार मीरा के प्रेम का आदर्श गोपिकायें या राधा थीं। प्रेम पथ पर चलने मं वे निरंकुश और निडर थीं। रसिक शिरोमणि कृष्ण की लीलाओं का गान करना उनकी वाणी का धर्म था। समस्त बन्धनों को तोड़–ताड़कर गिरधर के प्रेम में पगी मीरा भक्ति की ध्वजा लिये हुये प्रेम–पथ पर चलती रहीं।[1]

विरह प्रेम :– प्रेम से प्रादुर्भूत भक्त प्रेम के लिये ब्याकुल रहता है, तथा प्रेमी में लीन हो जाने के लिये छटपटाता रहता है, जहाँ से वह आया है वहीं जाने का प्रयास करता है। प्रेम–तत्व का यह सहज गुण है कि यह प्रेमी और प्रेमास्पद को एक हो जाने की प्रेरणा प्रदान करता है। आराधक अपने आराध्य के साथ आत्मीयता स्थापित करना चाहता है तथा उनके सानिध्य की कल्पना में आत्मविभोर हो आनन्दित होता है और विरह में व्याकुल हो रुदन करता है।, जिससे उसके भावों की रागात्मक दृढ़ता बढ़ती जाती है। मीरा के प्रेम गीतों की मूल प्रेरणा पीड़ा में ही है। इस पीड़ा का साम्राज्य उन्हें अपने जीवन के उदय काल में ही प्राप्त हो गया था। चढ़ती अवस्था में विरह का हो जाना मीरा के विरह की ऊँचाई को ही सिद्ध करता है। मीरा ने माधुर्य प्रेम के संयोग और वियोग दोनों पक्षों को अपनाया है, किन्तु उनकी वृत्ति विरह निवेदन में ही अधिक रमी है। मीरा के विरह का क्या तात्पर्य है? जबकि वे मानसिक रूप से पति वरण कर चुकी, तब विरह क्यों उत्पन्न हुआ ? इन सबके समाधान के लिये विरह का मनोविाान जानना आवश्यक है।

जीवनेच्छा की संतुष्टि का विषय, वस्तु नहीं होती, व्यक्ति होता है। अपने आत्मा का साक्षात्कार ही हम दूसरे आत्मा में करना चाहते हैं। विषयी और विषय दोनों चेतन होने के कारण एक दूसरे के विषय और विषयी बन जाते हैं। दोनों का हित इस प्रक्रिया में अपेक्षित होता है। दोनों में किसी वाह्य व्यवधान के कारण हित का मार्ग कुंठित होने से जो स्थिति उत्पन्न होती है, उसमें जीवनेच्छा या तो अतृप्त रहती है या तो तृप्ति के लिये व्याकुल। व्याकुलता की यह पीड़ा जिन भाव स्थितियों को जन्म देती है, उसी को साहित्य में विरह कहते हैं।

---

1. भक्तमाल (मीरा की प्रेम साधना, पृ0 18 से)

मनोविाान में विरह जैसा कोई भाव नहीं है। वहाँ विरह भाव न होकर प्रेमियों के विलग होने से उत्पन्न वह परिस्थिति विशेष है, जिसमें जीवनेच्छा की संतुष्टि का मार्ग किसी कारण वश अवरुद्ध हो जाता है। संतृप्ति में सहायक सिद्ध होने वाली हृदय की उन भावनाओं के दमन से अनेक भाव स्थितियों का जन्म होता है। वह स्थितियाँ–नैराश्य उदासीनता, मान, ईर्ष्या परपीड़न और उन्नयन हैं। इस प्रकार विरह एक जिज्ञासा है जो भौतिक प्रेम की भूमि पर नायक और नायिका तथा आध्यात्मिक भूमि पर भवन के हृदय में उद्‌भूत होता है। और उसकी प्राप्ति हुये बिना साधक को शान्ति नहीं मिलती। विरह को प्रेम की जागृत अवस्था भी कहा गया है। प्रेमास्पद के अभाव में प्रेमी के लिये संसार के समस्त उपादान निस्सार हैं। मिलन की अवस्था में प्रेमी व भक्त अपनी स्थिति भूल जाता है और संसार का प्रत्येक पदार्थ उसके लिये सुन्दर और पवितत्र हो जाता है, क्योंकि यह संसार वस्तुतः उनके आराध्य देव का होता है। प्रेम–दर्शन के तत्वज्ञों ने विरह को प्रेम की शाश्वत गति कहा है। वस्तुतः विरह ही प्रेम का जीवन है।

मीरा का प्रेम आत्मप्रेम से प्रस्फुटित हुआ था। यही कारण है कि तात्विक दृष्टि से मीरा का अपने प्रियतम से कभी वियोग नहीं हुआ। उनमें मिलन–विरह से परे समरसता की स्थिति बनी रही। प्रेम को नित्य नूतन बनाये रखने के लिये सूक्ष्म विरह की उद्‌भावना की गई है। मीरा के जीवन मे आदि से अंत तक विरह ही विरह है। मीरा सच्ची विरहिणी थी। वे सांसारिक बन्धनों की अच्छाई व बुराई परख चुकी थी। युवावस्था में ही विपत्तियों ने उनके हृदय को कुंदन बना दिया था, परिवार का ममत्व भी शेष नहीं बचा था। वे तो सभी विपत्तियों को झेलते हुये भी अपने आराध्य प्रियतम कृष्ण में लीन रहना चाहती थीं। यद्यपि वे राजपरिवार की विवाहिता थीं पर उन्होंने उसे कभी मान्यता न दी और श्रीकृष्ण के प्रति ही दाम्पत्य भाव से समर्पित होती रहीं, जिसके कारण उनको मान–मर्यादा आदि को भी तोड़ना और छोड़ना पड़ा और वे अपने प्रिय कृष्ण में इतनी अनुरक्त हो गयी कि उन्हें कृष्ण का क्षणिक वियोग भी असह्य हो गया। उन्होंने अपने को उन श्रीकृष्ण की एक अंतरंग गोपी के स्थान पर समझ लिया था और इसी कारण पद में उक्त भाव की पुष्टि हो जाती है –

कहाँ–कहाँ जाऊँ तेरे साथ कन्हैया।
बिन्द्राबन की कुंज गलिन में गहै लीणों मेरो हाथ।।

मीरा के विरह के आलम्बन यद्यपि गिरधर गोपाल ही हैं फिर जोगी और गुरु का विरह भी मीरा के हृदय का मंथन किये डाल रहा है। यदि मीरा अपने को विरह के अतिरेक में योगिनी के रूप में कल्पित करती हैं तो गिरधर गोपाल को योगी के रूप में कल्पित करना स्वाभाविक हो जाता है। गुरू को स्वयं भगवान के रूप में मानने की भावना अनेक वैष्णव सम्प्रदायों में भी मिलती है। स्वयं सूर वल्लभाचार्य और कृष्ण में अभेद मानते थे। हो सकता है कि इसी विचारधारा के कारण योगी और गुरू को प्रियतम रूप में मानकर उनके संबन्ध की विरह–वेदना मीरा के गीतों में समा गयी हों।[1] एक स्थान पर जोगी के स्वभाव का उल्लेख करते हुये मीरा ने उसकी अन्यमनस्यता की चर्चा की है। उसी पद की अंतिम पंक्ति में श्याम मनोहर के नाम का उल्लेख भी है। यह निर्मम योगी मीरा के मधुर वचनों को सुनकर भी प्रेम का संबंध नही जोड़ता। योगी किसका मीत हुआ है–

जावादे–जावादे जोगी किसका मीत।
सदा उदासी रहै मोरि सजनी, निपट अटपटी रीत।[2]

जोगी को जब किसी से प्रेम ही नहीं तो वह यदि योगिनी को अधबिच छोड़ जाये तो कोई आश्चर्य नहीं ? वह अडिग आसन मानकर ऐसा बैठ गया है कि यागिनी को भुला ही दिया है।[3] अब योगी की बाट जोहना ही हाथ रह गया है, किन्तु जोगी के चले जाने का उत्तरादायित्व भोली–भाली मीरा पर ही है। यदि मीरा चाहती तो उसे रख सकती थी। कृष्ण का सदैव के लिये ब्रज को परित्याग करके चला जाना उनकी योगी की स्थिति और वैराग्य की भावना को ही स्पष्ट करता है। जब उद्धव उनको अन्तर्यामी बताते हैं तो गोपियाँ कहती हैं कि यदि वह अन्तर्यामी होते तो बिरहासुओं में वृज को क्यों डुबोने देते ? किन्तु वैष्णवी भावना के विपरीत योगी के वेश का वर्णन भी मीरा ने निर्गुनिया योगी की भाँति किया है।

---

1. हिन्दी काव्य में प्रेम भावना – डॉ0 रामकुमार खण्डेलवाल, पृ0–305
2. मीरा और उनकी पदावली – देशराज सिंह भाटी, पद सं0–83, पृ0–252
3. मीरा और उनकी पदावली – देशराज सिंह भाटी, पद सं0–60, पृ0–240

योगी के प्रति जो विरह निवेदन है उसमें मीरा की वेदना बहुत ही उत्कृष्ट है और उसमें लोक शैली के प्रयोग ने सजीवता उत्पन्न कर दी है, किन्तु योगी के साथ गुरु की विरह की भी बात कही गयी है। सद्गुरू से भी प्रेम के निर्वाह के लिए मीरा अनुनय करती हैं। सद्गुरु या योगी में दो सम्मोहन है। रूपगत सम्मोहन और ज्ञान से उत्पन्न सम्मोहन। किन्तु हरि या गिरधर गोपाल के साथ जो विरहानुभूति सम्बद्ध है। उसमें ज्ञान और वैरागय से उत्पन्न सम्मोहन का उल्लेख नहीं है। वहाँ मात्र रूप सम्मोहन ही मिलता है। मीरा के अधिकांश पद गिरधर गोपाल के नाम से विशेष रूप से आये हैं। दर्शन के पश्चात या गुरु–मुख से, प्रियतम का आभास पाकर, मीरा विरह का अनुभव करने लगती हैं। विरह की पैनी धार पर होकर मीरा को प्रियतम की ओर चलना पड़ा।[1] विरह का बाण हृदय के आर–पार विध गया है। अतः विरहिणी रात–दिन बेचैन रहती है। उसे एक छण प्रियतम विस्मृत नहीं होते।

प्रीतम के बिना अब प्रियतमा से रहा नहीं जाता, खान–पान भी अब भाता नहीं है। विरह ने एक ऐसा मीठा दर्द मीरा के हृदय में भर दिया है कि मीरा उस दर्द की मादकता से दीवानी हो गयी हैं किन्तु मीरा यह भी नहीं जानती है कि इस दर्द की दवा कहाँ है ? इस दर्द को पहचानने वाला वैद्य कौन है ?

हेरी मैं तो प्रेम दीवानी, मेरा दर्द न जाणै कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी, किस विधि मिलना होय।।

दर्द की मारी बन–बन डोलूं वैद मिला नहि कोय,
मीरा की प्रभु पीर–मिटैगी, जब वैद सावँलिया होय।[2]

मीरा विरह में जलकर अत्यन्त दुर्बल हो गयी। पियतम ऐसे निर्मम हैं कि विरह के अगाध अनन्त सागर में प्रेम की नाव चला गये और स्वयं छोड़कर चल दिये। और यह भी नहीं बताया कि कब मिलना हो सकेगा। जागरण की ये रातें प्रियतम का पथ देखते ही बीतती हैं। जिस प्रकार एक चातक निर्दय धन की रट

1. "कहॉ करूँ कित जाऊँ मोरी सजनी कठिन विरह की धार।" मीरा की पदावली–पद सं0–93
2. "मीरा और उनकी पदावली–देशराज सिंह भाटी, पद–96, पृ0–267

लगाये रहता है, मछली पानी से विमुक्त होकर जैसे तड़पती है, व्याकुल विरहिणी उसी तरह तड़प रही है। मीरा विष खाकर मर भी नहीं सकती क्योंकि प्रियतम से मिलने की आशा इतनी बलवती मोहक है कि वह मरना नहीं चाहती। यह सेज जो समस्त सुखों की खान भी थी वह विरह में भयंकर लगने लगी है। जिस मंदिर में जगमगाती थी वह मंदिर अब निबिड़ अंधकार से घिरा है। कभी मीरा को सूनी सेज अलोनी लगती है और कभी विष के समान प्राण घातक, क्योंकि विरहिणी जब इस पर सयन करना चाहती है, तब उसी प्रकार सिसकती रहती है, जिस प्रकार रहती है, जिस प्रकार विष खाया हुआ व्यक्ति –

सूनी सेज जहर ज्यों लागे, सुसक–सुसक जिय जावै।[1]

प्रत्येक उत्सव अनुष्ठान भी प्रीतम के बिना सूना लगता है। राग–रंग भरी होली आयी है। जब प्रीतम ही नहीं तो होली किसके साथ खेली जाय। इस प्रकार श्रावण भी सूना हो गया है। मतवाले बादल तो आते हैं। दादुर, पपीहा, कोयल सभी के शब्द कानों में पड़ते हैं। पर विरह में सभी निरर्थक है। सारी सृष्टि मिलन की उत्कंठा में साज सजा रही है। इस महामिलन के मंगल सूचक कोयल, मोर और पपीहा अपनी तान छेड़े हुये हैं। चारों ओर रिमझिम बूंदे बरस रही हैं, दामिनी भी अपनी लज्जा छोड़कर अपने प्राणेस धनश्याम से मिल रही है। अपने पति से मिलने के लिए पृथ्वी ने भी नयी साड़ी पहन ली है। ऐसे समय में जब सारा चराचर मिलन की मिलन रस में सरोबार हो रहा है, मीरा को प्राण बल्लभ का वियोग बहुत ही खल रहा है। मीरा में यह आशा दृढ़ हो जाती है कि अब कृष्ण के दर्शन होंगे। प्रेम की इसी वर्षा में कबीर भीग रहे हैं –

कबीर बादल प्रेम का, हम परि बरस्या आई।
अन्तर भीगी आत्मा, हरी–भरी बनराई।।

उस निष्ठुर के लिए सारी रात जगकर बिहान किया फिर भी वह नहीं लौटा।

सखी म्हारी नींद नसानी हो,
प्रिय रो पंथ निहारत सब, रैण बिहानी हो।"[2]

---

1. मीरा की पदावली, पद–79,
2. "मीरा और उनकी पदावली–देशराज सिंह भाटी, पद सं0–118, पृ0–292

प्रीतम ने कोई संदेश नहीं भेजा। विरहिणी स्वयं प्रीतम को पत्र लिखना चाहती हैं किन्तु पत्र कैसे लिखें ? हाथ काँपने लगता है, हृदय धडकने लगता है। पत्र में कोई बात ही नहीं बन पाती। यदि किसी प्रकार पत्र लिख दिया जाय तो पत्र ले कौन जायेगा ? तब विरहिणी को काला कौआ दिखा। वह कितना स्वाभाविक पत्र वाहक है। उसमें कौवे पत्र से ले जाने के लिए कहा और मौखिक रूप से जो संदेश देना है, वह भी समझा दिया –

प्रियतम कूं पतिया लिखू, कऊंवा तू ले जाई ।
×　　　×　　　×
मीरा दासी ब्याकुल रे, पिव–पिव करत विहाय।
वेग मिलो प्रभु अन्तरजामी, तुम बिन रहयो न जाई।।[1]

विरहिणी का हृदय एक संदेह से ब्याकुल रहता है। उसे रह–रहकर अपने प्रीतम की प्रेम की सच्चाई पर संदेह हो जाता है। दूसरों के साथ प्रेम जोड़ने के कारण ही अवधि समाप्त हो गयी है। विरहिन मीरा कहती है कि अब मेरा अपराध क्षमा कीजिये और कृपा कर मेरी गली में आकर दर्शन दीजिए।

कूण सखी सूं तुम रंगराते, हमसूं अधिक पियारी।
किरया कर मोहि दर्शन दीज्यों सब तकसीर बिसारी।[2]

सूर की गोपियों ने कुब्जा के प्रेम में फँसे हुये कृष्ण के प्रति ऐसी ही भावनायें व्यक्त की है। मीरा ने भी इसी भावना को व्यक्त किया है। मीरा को अब अपने गिरधर के प्रति विश्वास भी हो गया है। अपने को गिरधर के प्रति समर्पित कर देने की अभिलाषा भी उसमें उत्पन्न हो गयी है। कबीर अपने को राम का कुत्ता कहते हैं तो मीरा भी अपने गिरधर के हाथ बिक जाने को तैयार है –

"जहाँ बैठावे तित बैठूं बेचै तो बिक जाऊं"

अंत में मीरा विरह की दाह में तप्त होकर उज्जवल बनती हुई विविध आशा अभिलाषाओं से आन्दोलित होती हुई प्रेम की चरमावस्था पर पहुँचती है जिसे मिलन कहते हैं। अब तो समस्त जगत जैसे प्रसन्न, हर्ष और आनन्द से रंजित हो उठा है।

---

1. "मीरा की पदावली, पद सं0–84
2. "मीरा की पदावली, पद सं0–114

समस्त प्रकृति जो विरह में दुःखद थी अब भी सृष्टि कर रही है। अभी पियतम नहीं आये उनके आने की संभावना हुई है। जिस होली ने विरहिणी को कभी सताया था वहीं आज विविध रंगों के साथ आकर्षण रूप में आई है। अब प्रियतम से एकमेक होने का क्षण है। अब उसे अपने अस्तित्व में ही अपने प्रियतम का आभास होने लगा। मीरा का विरह दूर हुआ। अब उसे अपना प्रियतम हृदय में ही दिखाई दिया–

"जिनका पिया पददेश बसत है, लिख भेजैं लिखपाती।
मेरा पिया मेरे हिय बसत है, ना कुहँ आती जाती ।।

इस प्रकार मीरा का प्रेम माधुर्य भाव का प्रेम है जिसमें भगवान कृष्ण की प्रियतम के रूप में उपासना की गयी है। भक्ति प्रेम में परमात्मा को पति मानकर उसके चरणों में अपने को न्यौछावर कर देती हैं। पत्नी पति की इच्छा में अपनी इच्छा, पति के सुख में अपना सुख और पति के प्रेम में अपना सर्वस्व समर्पित कर देती हैं। भगवान के साथ भक्त के इस एकान्त प्रणय सम्बन्ध में कही किसी प्रकार का छिपाव नहीं रहता, कोई वस्तु अदेय नहीं रह जाती। भगवद्‌विषयक राग में किसी प्रकार की सीमा या बन्धन है ही नहीं। इस प्रकार मीरा एक मात्र प्रेम की पुजारिन थी। इसी प्रेम के द्वारा उन्होंने गिरधर गोपाल को पा लिया।

अध्याय–5

भक्ति काव्य में प्रेम वर्णन के विविध प्रतीक

सन्त एवं भक्त कवियों में प्रेम की अभिव्यक्ति, प्रतीकों के माध्यम से हुयी है। प्रेम वर्णन के विविध रूपों को कबीर, जायसी, तुलसी, सूर एवं मीरा में मुख्य रूप से विवेचित किया गया है। लेकिन इससे पहले प्रतीक के स्वरुप एवं परम्परा को समझना यहाँ आवश्यक समझा गया है।

प्रतीक का शाब्दिक अर्थ है चिन्ह। सभी प्रतीक एक प्रकार के संकेत या चिन्ह ही हैं, किन्तु अपने विशिष्ट अर्थ में प्रतीक केवल चिन्ह नहीं, चिन्ह से भी कुछ और अधिक हैं।[1] या दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि सभी प्रतीक चिन्ह तो होते हैं किन्तु सभी चिन्ह प्रतीक नहीं होते। किसी अन्य स्तर की समानुरूप वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तर के विषय का प्रतिनिधित्व करने वाली वस्तु प्रतीक है।[2] पाश्चातय विद्वानों ने प्रतीक की परिभाषा दी है–''प्रतीक किसी विचार, भाव या अनुभव का दृष्टिगत या श्रवणीय चिन्ह या संकेत है–जो उन तथ्यों को स्पष्ट करता है जो केवल मस्तिष्क, कल्पना या निरीक्षण के क्षेत्र में आने वाली ही वस्तुओं के रूप में ग्रहण किये जाते हैं।''

इन परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि–प्रतीक अप्रस्तुत का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा इनके प्रयोग से अभीष्ट अर्थ संकेतित किया जाता है। परशुराम चतुर्वेदी का कहना है कि–'प्रतीक से अभिप्राय किसी वस्तु की ओर इंगित करने वाला न तो संकेत मात्र है और न उसका स्मरण दिलाने वाला कोई चित्र या प्रतिरूप ही है। इन प्रतीकों की आवश्यकता आध्यात्मिक और दार्शनिक प्रसंग में विशेष रूप से होती है।

वेदों में साम्यमूलक एवं विरोधमूलक दोनों प्रकार के प्रतीक दृष्टि योजना के बीज विद्यमान हैं। आध्यात्मिक और रहस्यवादी विचारों की अभिव्यक्ति के लिये प्रतीकात्मक शैली को उनमें अपनाया गया है। इन्द्र, मित्र, वरूण, रूद्र, आश्विन आदि विभिन्न देवता जो शक्ति प्रेरणा, धर्म, दण्ड तथा दिव्य भेषज के प्रतीक माने गये हैं। वेदों में रहस्यात्मक और दार्शनिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति विपर्ययोक्तियों

---

1. कबीर के काव्य में प्रतीक योजना – महेन्द्र कुमार राधाकष्णन मूल्यांकन, पृ० – 201.
2. हिन्दी सा० कोश – पृ० – 471.

में भी हुई हैं। विरोध मूलक उक्तियों के उदाहरण इस प्रकार हैं—"वृषभ के चार श्रृंग, तीन पैर, दो सिर तथा सात हाथों का वर्णन है। उपषिदों में ब्रह्म के निर्गुण और सगुण रूप का वर्णन किया गया है। इनमें प्रतीकों का प्रयोग प्रचुरता के साथ किया गया है। तैतरीयोपनिषद के पहले ही श्लोक में आये मित्र, वरूण, इन्द्र, बृहस्पति, विष्णु आदि नाम क्रमशः दिन और प्राण, रात्रि और अपान, बल और भुजा वाणी और बुद्धि तथा पैरों के अधिष्ठाता रूप में प्रतीक ही हैं। 'ऊँ' शब्द भी ब्रह्म का प्रतीक माना गया है जो निर्गुण, निराकार परमात्मा की प्राप्ति के लिये सब प्रकार के आलम्बनों में सबसे श्रेष्ठ और चरम आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित है।

पुराणों में वर्णित आख्यान प्रतीकात्मक शैली में ही अभिव्यक्त है। ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव प्रमुख आराध्य देवता के रूप में वणित किये गये हैं। मूलतः ब्रह्मा ज्ञान और सृष्टि—निर्माणकर्ता के रूप में, विष्णु—सृष्टिपालक के रूप में तथा शिव, शिवत्व और सृष्टि—संहारक के रूप में प्रतीक हैं। विभिन्न शक्ति रूप देवियाँ लक्ष्मी, सरस्वती, पार्वती आदि क्रमशः—वैभव, ज्ञान, सुन्दरता की प्रतीक हैं।

बौद्ध साहित्य में साम्यमूलक एवं विरोधमूलक प्रतीक के उदाहरण में प्राप्त हो जाते हैं। साम्यमूलक प्रतीक योजना के अन्तर्गत व्यवहृत प्रतीकों में रूपात्मक, पारिभाषिक और संख्यामूलक प्रतीकों का वैशिष्ट्य है। विरोधमूलक के अन्तर्गत प्रयुक्त प्रतीक अपना विशिष्ट महत्व रखते हैं। जैसे—अमृतपद—दुख निवृत्ति का प्रतीक, अंधकार—अविद्या का प्रतीक, ब्राह्मण—ज्ञानी का प्रतीक है। यह साम्यमूलक प्रतीक है। विरोधमूलक प्रतीक इस प्रकार है—माता—पिता दो क्षत्रिय राजाओं आदि के साथ सारे राष्ट्र को तथा पाँच नींव रणों को मारकर ब्राहमण के निष्पाप हो जाने का कथन विरोध मूलक अभिव्यक्ति ही है। किन्तु विभिन्न शब्दों के प्रतीकार्थ ग्रहण करने पर विरोधात्मकता समाप्त हो जाती है। माता (तृष्णा), पिता (अहंकार), दो क्षत्रिय राजाओं (शाश्वत दृष्टि और उच्छेद दृष्टि), अनुचर के साथ सारे राष्ट्र (संसार की सारी आसक्तियों), को मारकर ब्राह्मण (ज्ञान) निष्पाप होता है।

सिद्ध साहित्य एक ओर बौद्ध धर्म से प्रभावित है तो दूसरी ओर योग—साधनात्मक तंत्र विद्या से है। यही कारण है कि बौद्धों के प्रतीक के

साथ–साथ तांत्रिकों के बहुत से प्रतीक भी इन्होंने ग्रहण किये। सिद्ध साहित्य के प्रतीक इस प्रकार हैं– वृक्ष–शरीर, चादर–तन, पीहर–संसार, कमल–महासुख चक्र, नौका–सहजयान, ननद–वासना आदि। नाथ साहित्य के प्रतीक – चूंकि नाथ साहित्य का प्रभाव कबीर दास पर पड़ा इसलिये इसका महत्व बढ़ जाता है। नाथ साहित्य में प्रयुक्त अधिकांश प्रतीक हठयोग के साधना सम्बन्धी पारिभाषिक प्रतीक ही हैं। जो इस प्रकार हैं–पिंगला–सूर्य, इड़ा–चन्द्र, गंगा, इन्द्रियाँ–पंचदेव, आत्मा–ब्रह्मचारी, ब्रह्म–पुष्प, ब्रह्मरंध–ब्रह्मांड, जीव–हंस । आदि।

इस प्रकार प्रतीकों का प्रयोग अधिकांशतः भाषा, धर्म, पौराणिक आख्यान, कला, दर्शन और दैनिक क्रिया व्यापार में मिलता है। अतः विचार विकास की प्रक्रिया अथवा अभिव्यक्ति में इनका योग स्पष्ट हैं। भाषा शास्त्रियों की धारणा है कि–भाषा का मौलिक एवं तात्विक आधार चिन्ह और प्रतीक थे जिनसे विचार उद्वेग इच्छा आदि की सदैव अभिव्यक्ति होती रही प्रतीकार्थ अलग–अलग कर देने पर शब्दों का मूल्य नहीं रह जाता। साहित्य में भाषा का जो कलात्मक एवं व्यंजक रूप हैं, प्रतीकों का प्रचुर प्रयोग होता है। उनमें भाव विचार प्रायः परोक्ष रूप से व्यंजित किये जाते हैं।

स्विनवर्न और रोजेटी अंग्रजी साहित्य में प्रतीकों के प्रयोग के लिये प्रसिद्ध है–अपनी नायिका के अक्षत कौमार्य एवं पवित्रता का सजीव चित्रण करने के लिये रोजेटी ने 'ब्लेसेड डेमोजिल' नामक कविता में उसकी कल्पना ऐसे रूपों में की है जो श्वेत वस्त्रों से अंलकृत है, कर में श्वेत कमल लिये है और जिसके ललाट पर साल नक्षत्र जगमगा रहे हैं। श्वेत कमल और सात नक्षत्र सदैव पवित्रता के प्रतीक रहे हैं।[1]

जिस प्रतिमा की पूजा की जाती है, वह ईश्वर नहीं, ईश्वर का प्रतीक है। पौराणिक आख्यानों में तथ्यों की अभिव्यक्ति को भी प्रतीकात्मक कथानकों द्वारा व्यंजित किया जाता है।

---

1 प्रतीकवाद – पद्मा अग्रवाल – पृ० 1

कला भी प्रतीकात्मक है। किसी चित्र में प्रकृति की शुष्कता से जीवन की ऐसी नीरसता का बोध होता है, जहाँ कुछ भी उल्लास नहीं रह गया है और आशा की किरण सदैव के लिये लुप्त हो गयी है। इसी प्रकार दर्शन की प्रतीकों में–निहित तथ्यों का अन्वेषण है। मनुष्य का साक्षात्कार वास्तविक सत्त से नहीं हो पाता, केवल प्रतीकों से होता है। जिसे सत्य समझा जाता है वह तो सत्य का प्रतीक मात्र है। इसी प्रकार मानवीय भाव–विचार की अभिव्यक्ति के सभी क्षेत्रों में प्रतीकों का प्रयोग प्रचुरता से हुआ है और विभिन्न दृष्टिकोणों से उन्हें समझने का प्रयास होता रहा है।[1]

इस प्रकार मनुष्य का समस्त जीवन प्रतीकों से परिपूर्ण है। वस्तुतः मनुष्य प्रतीकों के ही माध्यम से ही सोचता है। रहस्यवादियों ने भी प्रतीकों का विपुल प्रयोग किया है। उनके साध्य और उनकी अनुभूति का स्वरूप भाषा में अप्रेषणीय होने के कारण इन दोनों विषयों के सम्बन्ध में उन्होंने जो कहा है वह प्रतीकों के माध्यम से ही। इस कारण उनकी भाषा दुरूह या संधा भाषा हो गयी जिसके प्रतीकों का अर्थ जाने बिना कोई व्यक्ति उसे समझ नहीं सकता। प्रतीक कई कार्य कर सकते हैं–किसी विषय की व्याख्या करना, उसको स्वीकृत करना, पलायन का पथ प्रस्तुत करना, दमित या सुप्त अनुभूतियों को जागृत करना अलंकरण या प्रदर्शन का साधन होना।[2]

इस प्रकार 'प्रतीक' का उद्‌गम मानव मन का एक अभियान है। प्रतीक केवल कल्पना की ही उन्मुक्त उड़ान नहीं है उसके पीछे अनुभव के नित्य नूतन संयोग की प्रगति रेखा है। मध्यकालीन सन्तों की प्रतीक योजना सामान्यतः किसी न किसी दार्शनिक एवं धार्मिक मान्यताओं के प्रकाश में ही प्राप्त होती है। यही कारण है कि इनके सामान्य प्रतीक किसी विशिष्ट धार्मिक रहस्य भावना के कारण, एवं उनके साम्प्रादायिक संस्कारों के कारण, अपने समय की समस्त विचार धाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं।

---

1. प्रतीक और प्रतीकवादी काव्य मूल्य' डा०□ प्रभात
2. हिन्दी साहित्य कोश — प्रथम पृ० 471

फिर भी कबीर के बारे में कहा जा सकता है कि इन्होंने अपने काव्य में रूढ़ि अथवा परम्परा से प्राप्त प्रतीकों का सुन्दर प्रयोग किया है। इन रूढ़ि प्रतीकों का प्रयोग इन्होंने अपनी साधना पद्धति के प्रकाश में किया है। जहाँ तक इनके योग परक प्रतीकों का प्रश्न है उनकी पृष्ठिभूमि बौद्ध धर्म से विकसित हुई, कर्मकाण्डों के निषेध की प्रवृत्ति किये हुये बज्रयान की प्रतिक्रिया में उत्पन्न नाथ सम्प्रदाय की आत्मानुभव और योग की परम्परा का एक सबल रूप प्राप्ति होता है।[1] यहाँ ऐसे प्रतीकों को सम्मिलित किया गया है जिनका संबंध मानवीय होने के साथ–साथ मानवेत्तर प्राणियों तथा पदार्थों से भी संबन्धित है। तथा प्रणय भाव पर आश्रित दाम्पत्य संबंध भी प्राप्त होते हैं। कबीर की काव्य–साधना में इन प्रतीकों का महत्व प्रेम–परक ही अधिक है।

चातक, हंस, मीन आदि प्रतीकों का प्रयोग कबीर ने अपनी प्रेम भावना को व्यंजित करने के लिये किया है। न केवल संत काव्य में बल्कि आगे चलकर यह सगुण भक्त कवियों में भी प्रेम का प्रतीक बना। इन प्रतीकों को सगुण भक्त कवियों ने अपनी भावाभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम बनाया। कबीर आदि सन्तों में इस रूपान्तर का भव्य रूप 'चातक वृत्ति' में प्राप्त होता है जो मानों उनके मानस जगत का एक भावात्मक प्रतीक ही है। इस प्रतीको के द्वारा उन्होंने अपनी 'आत्मा' को उस परम प्रिय परमात्मा (मेघरूप) की सापेक्षता में उस प्रेमी के रूप में चित्रित किया है। जो अपने प्रिय के अनेक आघातों तथा संकटों की परवाह न कर केवल उसी में और केवल उसी की कामना करता है।

अंबर घन हरू छाइया, बरषि भरे सर ताल।
चातक ज्यों तरसत रहे, तिनकों कौन हवाल ।।[2]

इससे तो यही ज्ञात होता है कि एक साधक प्रेमी के लिये समस्त वैभव तथा सुख तिरोहित रहते हैं जब तक कि वह अपने परमाराध्य का एक 'घूँट' प्रेम सामीप्य न पा सके। इस सामीप्य को न प्राप्त होने से उनकी दशा दादू द्वारा वर्णित चातक के समान हो जाती है–**चात्रिक मरे पियासा, निसि दिन रहे उदासा जीवे किहि बेसासा।**[3]

1. हिन्दी साहित्य भाग –2 लेख – संत काव्य द्वारा डा. राम कुमार वर्मा – पृष्ठ –– 195
2. कबीर ग्रंथावली, सं0 श्याम सुन्दर दास । पृ० 249–3
3. दादू की बानी, संपा० – चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी, पृ० 408/126.

चातक की यह उदासी मानो कबीर के अन्तरतम में व्याप्त कर्मगति की एक विषम गति हो गयी जिसके कारण वे सर्वथा 'पियास—पियास' ही अनुभव करते है इस प्रकार संत काव्य में चातक—वृत्ति विरह—मिश्रित प्रेम भाव को व्यक्त करती है।

यह विरह भाव, एक रहस्य भावना के सन्निवेश में, पतंग के आत्मसमर्पण में साकार हो उठता है। उसका दीपक में पड़ना एक 'सारतत्व' को सामने रखता है। वह यह कि प्रेम की निष्फलता में भी उसका उज्ज्वल पक्ष आत्म समर्पण में ही सुरक्षित रहता है। प्रेमी साधक का यही आत्मसमर्पण उसे प्रेम भाव के उन्नत रूप की ओर ले जाता है। वह उसके अन्दर एक प्रकार के विश्वास को बल देता है जो साध्य की महत्ता को सापेक्षिक रूप होता है। कबीर ने भी इस दीप—पतंग की बात कही है। **दीपक पावक आंणियाँ तेल भी आंण्या संग, तीनों मिलकर करि जोइया (तब) उड़ि—उड़ि पड़ै पतंग ।।**[1]

हंस—मानसरोवर, कवि परिपाटी में हंस का मानसरोवर के प्रति एक अटूट प्रेम तथा उसके नीर—क्षीर विवेक की प्रसिद्धियाँ कवियों को प्रिय रही हैं। प्रेम भाव की परिधि में इन तत्वों का समाहार प्राप्ति होता है। यह जीवात्मा के विवेक ओर इच्छा शक्ति पर निर्भर है कि 'तत्व' रूप सरोवर के जल को किस सीमा तक अपने अंदर हृदयंगम कर सकती है। इस तत्व ग्रहण में 'जुगति' तथा श्रम की आवश्यकता है तभी तो हंसनी तट पर रहकर भी तत्व जल का पान नहीं कर पाती है। यही हाल उस पनिहारिन (इन्द्रियों) का होता है जो कुम्भ रूपी भौतिक शरीर के सहित सर से नीर नहीं भर सकती है, क्योंकि उसमें उस गुण की कमी है जो तत्व ग्रहण में क्रियात्मक रूप धारण करती है।

सरवर तट हंसणी तिसाई जुगति बिना हरि जल पिया न जाई।
पिया चहै तौ लै खगसारी, उड़ि सकै दो ऊपर भारी,
कुंभ लिये ठाढ़ी पनिहारी गुण बिन नीर भरै कैसे नारी।[2]

---

1. कबीर – ग्रंथावली, पृ० 11
2. कबीर – ग्रंथावली – पृ० 189/298

जब हंस का यह अज्ञान ज्ञान रूप में बदल जाता है तभी वह हरिजल पीने में समर्थ होता है। यही हाल तो जीव का भी है, बिना ज्ञान तथा विवेक के वह 'सत्य' के निकट नहीं पहुंच सकता है –

हंस सरोवर तहाँ रमै, सूमर हरिजल नीर।
पाणी आप पखा लिये, नम्मल (निर्मल) होय सरीर।।[1]

जब हंस इस स्थिति में पहुंच जाता है तब वह सूभर जल में केलि करता है और मुक्ता तत्व चुँगता है। **मानसरोवर सूभर जल, हंसा केलि कराहि। मुक्ताहल मुक्ता चुगै, अब उड़ि अनत न जाति।।**[2] इसी प्रकार जब जीव ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब वह जल रूपी 'तत्व' में निमग्न रहता है। और मुक्ता को चुँगता है।

प्रेम का एक पक्ष वियोग भी है जो प्रेम को एक प्रान्जल रूप में रखता हे। वियोगी अकसर मिल भी जाते है। जैसे–रात के विछुड़े हुये चकवा दम्पति सुबह को मिलने का आनन्द प्राप्ति करते है। परन्तु कबीर का कहना है कि माया के प्रभाववश राम से जो भी मनुष्य एक बार विलग हो गया तो फिर उस व्यक्ति को राम की अनुभूति न दिन में और न रात में होती है। इस प्रकार इस चकई को प्रसिद्धि के द्वारा कवि ने एकनिष्ठ प्रेम की व्यंजना करते हुये एक उपदेश भी दिया है। –

चाकई विछुरी रैणिकी, आइ मिली परभाति।
जो जन विछुरे राम सूँ, तो दिन मिले न राति ।।[3]

इसी प्रकार मछली भी एक ऐसी जीवात्मा की प्रतीक है जिसे परमात्मा की अनुभूति हो जानें पर केवल उसी की अनुभूति शेष रह जाती है। एक अन्य स्थान पर कबीर अपने को जल की मीन तथा परमात्मा को समुद्र कहते है, और इसी प्रकार अपने को सुआ तथा परमात्मा को पिंजरा की संज्ञा देते है।

कबीर ने आध्यात्मिक प्रेम वर्णन में, सांसारिक पदार्थो की अनित्यता के निरूपण में, माया वर्णन में तथा अन्य व्यक्तियों में प्रतीकों का प्रयोग किया गया। ये प्रतीक कबीर की गहरी जीवनानुभूति तथा चिन्तन मनन के प्रमाण हैं यहाँ एक तथ्य

---

1. स्वामी दादू दयाल की बानी, पृ० 461
2. कबीर ग्रंथावली, पृ० 15/39
3. कबीर ग्रंथावली पृ० 7/31

का संकेत कर देना आवश्यक है कि कबीर मूलतः प्रेम के गायक है– आध्यात्मिक प्रेम के। इनके प्रेम के तीन सोपान हैं–अनुराग, विरह और मिलन। सामान्यतः जीवन अज्ञान की अवस्था में रहता है। वह अपने को पूर्ण समझता है लेकिन जब उसे प्रतीत होता है कि उनसे परे एक असीम सत्ता है। आत्मा का वास्तविक संबंध उस परम सत्ता से है, जब वह उसे पाने के लिय व्याकुल हो उठता है। यही विरह की स्थिति है। कबीर ने इस व्यग्रता का वर्णन दाम्पत्य प्रेम के प्रतीक द्वारा किया है। क्योंकि संसार में जितने सम्बन्ध हैं, पति–पत्नी का प्रेम उन सब में प्रगाढ़ होता है।

दाम्पत्य प्रेम–प्रतीक द्वारा जीवात्मा की कातरता और प्रकार का जो चित्र खींचा गया है, उसका भाव आदित्य प्रत्येक सहृदय को बरबस अपनी ओर आकृष्ट करने की क्षमता रखता है। पद इस प्रकार है –

बालक आउ हमारे गेह रे तुम बिन दुखिया देह रे।

विश्वास और अर्न्तदृष्टि में आत्मा रूपी नारी अपने साध्य के प्रति सचेत होकर प्रयत्नशील होती है। वह अपने प्रिय के प्रति सहज आकृष्ट ही नहीं होती हो जाता है कि परम प्रिय की सापेक्षता में उसकी भी 'कोई' सत्त है। अपने व्यक्तित्व का भाव वह इस संबंध के द्वारा प्रकट करती हैं :–

हरि मोर पीव में राम की बहुरिया, राम बड़ो मैं तनुकि लहुरिया।

यहाँ पर प्रिय का व्यक्तित्व प्रधान है तो प्रेमिका का व्यक्तित्व तिरोहित नहीं माना जा सकता है काव्यात्मक रहस्यवाद में दोनों पक्षों का समान महत्व रहता है।, जैसा कि दार्शनिक प्रतीकवाद के अन्तर्गत–पूर्ण की धारणा में अपूर्व अंश का भी समाहार रहता है। पूर्वराग का यह सम्बन्ध अर्न्तदृष्टि का परमसूचक है या यों कहना चाहिये कि विश्वास की अंतिम परिणति अर्न्तदृष्टि को प्रश्रय देती है। प्रेम के लिये अर्न्दृष्टि की परमावश्यकता है। जो सन्तों की नारी रूपी आत्मा में व्याप्त है। इस अर्न्तदृष्टि का चरम विकास उस समय जब 'आत्मा' प्रिय के हेतु विरहावस्था में तल्लीन हो जाती है, जब वह 'आरति' कर अपने ह्रदयगत उद्‌गारों की अभिव्यंजना करती है–

रतिवती आरति करे, राम सनेही भाव ।
दादू औसर जब मिले, यहु बिरहिन का भाव ।।[1]

परन्तु क्या अभी प्रियतम का आना सम्भव है ? दिन भी चला गया, रात भी व्यतीत हो गयी, तब भी बिरहिणी आत्मा प्रिय का दर्शन करने में असमर्थ है–**कबीर देखत दिन गया, निसि भी देखत जाई। बिरहणि पीव पावै नहीं, जियरा तलफै माई।।**[2] यह विरह की अनुभूति अंतिम सत्य नहीं है, वह तो प्रिय के मिलन के लिये सोपान स्वरूप है। यहाँ पर विरहिणी का प्रतीकात्मक अर्थ उस दशा का परिचय देता है, जहाँ आत्मा अपने सहज स्वरूप को पहचान कर परमाराध्य की ओर अग्रसर होती है। यही प्रयत्न अनुभूति को जन्म देता है। इस अनुभूति के उदय का फल यह होता है कि बाह्य श्रृंगार के प्रति आत्मा की आसक्ति क्रमशः कम होने लगती है और वह एक प्रकार से अभ्यतंर प्रकाश का अनुभव करती है–

जग दिखलावई बाबरी, षोडस करइ सिंगार।
तह न सवारइ आपको, जॅह भीतर भरतार ।।[3]

प्रियतम का वास तो ह्रदय में है ओर 'तू' उसे बाहर खोज रही है। जो भीतर है वही तो बाहर है और जो बाहर है वही तो भीतर है। छान्दोग्यपनिषद में ब्रह्म के बारे में कहा गया है कि वह वही है जो कि यह पुरूष के भीतर आकाश (ह्रदय) है तथा जो भी यह पुरूष के भीतर आकाश है वह यही है जो कि ह्रदय के अन्तर्गत आकाश है। इस ह्रदयाकाश की अनुभूति के प्रथम कबीर ने शरीर रूपी चुनरी को प्रेमरस में परिप्लावित कर दिया है जिससे सुहागिन अपने प्रिय का अंतरतम में साक्षात्कार कर सके

भीजै चुनरिया प्रेम रस बूंदन आरती साज कै चली है।
सुहागिनी पिय अपने को ढूंढन ।।

अस्तु जीवात्मा की साधना का प्रथम रूप विश्वास के उदय के साथ परमात्मा या पति के पूर्वरागजनित अनुराग की भावना को जन्म देता है जो क्रमशः विरह

---

1. स्वामी दादू दयाल की बानी पृ० 7–42
2. कबीर ग्रंथावली – पृ० 10–34
3. सी दादू दयाल की बानी, सं0 सुधाकर द्विवेदी पृ० 128–130

आत्मोकर्ष की भावनाओं से होता हुआ अर्न्तदृष्टि में पर्यवसित होता है जहाँ हृदयाकाश स्थित ब्रह्म की परमानुभूति होती है।

इस प्रकार कबीर ने प्रतीक रूप में दाम्पत्य प्रेम का अच्छा वर्णन किया है। उनके इस दाम्पत्य प्रेम की सबसे प्रमुख विशेषता पवित्रता, सात्विकता एवं आध्यात्मिकता है। उसमें विरह–मिलन के मधुर चित्र भी चित्रित किये गये हैं किन्तु उसमें कहीं पर वासना की दुर्गन्ध नहीं आती। उनका दाम्पत्य संबंध सूफियों के दाम्पत्य संबंध से भिन्न है। कबीर का प्रेम पति–पत्नी का पवित्र प्रेम है जो कि शास्त्रीय विधि से विवाह हो जाने के पश्चात उत्पन्न हुआ है। यह लौकिक विवाह मात्र नहीं है। इस विवाह में साधक की आत्मा ही वधू है। स्वंय राम ही वर हैं शरीर वेदिका है। ब्रह्माजी पुरोहित हैं।

तैतीस करोड़ देवता और अट्ठासी हजार ऋषि इस संबंध के साक्षी बाराती हैं भला इस प्रेम से पवित्र विवाह कौन हो सकता है? इस प्रकार आत्मा और परमात्मा का आध्यात्मिक संबंध स्थिर हो जाने पर यदि आत्मा में किसी प्रकार का विकार शेष रह जाता है, तो मिलन नहीं होता। इस परिस्थिति में आत्मा–बधू किस प्रकार उद्विग्न और विह्वल हो उठती है। उसका एक चित्र इस प्रकार है–

कियो सिंगार मिलन के ताई, हरि न मिले जगजीवन गुसाँई।
धनि पिय एकै संग बसेरा, सेज एक पै मिलन दुहेरा।।
धन्न सुहागिन जो पिय भावै।
कहि कबीर फिर जनमि न आवै।[1]

जब आत्मारूपी वधू का परमात्मा रूपी प्रियतम से इस प्रकार सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर भी मिलन नहीं होता तभी वह तड़पकर पुकार उठती है–

वै दिन कब आवहिंगे माय।
जा कारन हम देह धरि है मिलवो अंग लगाय।।[2]

कबीर की रचनाओं में आध्यात्मिक प्रणय के अनेक मनोरम चित्र मिलते हैं

---

1. कबीर ग्रंथावली–पृ०–277
2. कबीर ग्रंथावली–पृ०–191

एकात्म भाव :– अपरोक्षानुभूति में, जिसे संतों ने 'परचा' की संज्ञा दी है। एकात्म भाव की परिणति होती है इसी दशा में प्रिय और प्रिय पात्र दोनों के मध्य दूरी का नितांत अभाव हो जाता है। इस स्थिति में आकर आत्मा (वधू) आकाश के समान निर्मल हो जाती है, समस्त भौतिक दुखों का तिरोभाव हो जाता है और साधक 'आत्मा' के रहस्य के प्रति सजग हो जाता है।

पूरे सूँ परचा भया, दुख मेल्या दूरि।
निर्मल कीन्हीं आत्मा, ताथैं सदा हजूरि।।

और जब तक वधू को 'परचा' नहीं होता है, तब तक उसे 'क्वारी' ही समझना चाहिये। परचा होते ही वधू एक सुहागिन के रूप में प्रिय–मिलन का सुख भी प्राप्ति करने लगती हैं। इस मिलन–सुख की पूर्व कल्पना से ही उसके अन्तर्मन में प्रेम, उत्साह, उल्लास एवं रति–सभी दाम्पत्यपरक भावों का आलोढ़न होने लगता है। वह प्रिय के दर्शन के लिये व्याकुल हो उठती है। वह राम के आगमन की कल्पना से आत्म–विभोर हो उठती है। अपने तन–मन को प्रेम से प्लावित कर लेती है। यहीं पर एकात्मभाव की परिणति होती है। 'अहं' का 'इदं' में एकाकार हो जाता है। यदि इसे सूफी प्रेम साधना की शब्दावली में कहें तो आशिक और माशूक में कोई अन्तर नहीं रहा जाता है।

ऐसा ही है–कबीर का आध्यात्मिक मिलन–'जहाँ मैं और तुम की प्रचारें मानोपरम प्रेम के पारावार में बह जाती है। केवल मात्र मिलन आनन्द ही रह जाता हैं। मिलन की आकांक्षा का पर्यावसान सेज–सुख, प्रेम–रस क्रीड़ा और हिंडोलना के रस में हो जाता है। ये सब वस्तुयें उस परम दशा की भूमिकायें मात्र है जो आध्यात्मिक आनन्द अथवा विवाह की अवस्था को मुखर करती है। इस भूमिका का वर्णन रूपी कवि ने इस प्रकार किया है–

"वह क्षण कितना आनन्द प्रद होगा जब 'मैं' और 'तुम' प्रसाद में बैठे हो, हमारे अथवा तुम्हारे दो आकार हों और दो रूप भी हों, परन्तु आत्मा तो एक ही है, हम और तुम किसी भी रूप में व्यक्ति नहीं है। हमारा समाहार आनन्द में ही

अपेक्षित है[1] यही मिलन का रहस्य है, जहाँ 'मैं' 'तुम' का पर्यावसान एकात्मभाव के आनन्द में हो जाता है। तभी आध्यात्मिक मिलन आध्यात्मिक विवाह का रूप धारण करता है।

यह एकात्म भाव की चरम परिणति है जहाँ आनन्द ही आनन्द है। दाम्पत्य रति की यह अवस्था साधना के क्षेत्र में 'लय' की सूचिका है। यहाँ भौतिक सुखों का अंत हो जाता है और रह जाता है–आत्मानन्द। यही अतीन्द्रिय आनन्द का मनोराज्य है जहाँ पर सदा वसन्त है, तेजपुंज का तेजपुंज में लय है।

तेजपुंज की सुंदरी, तेजपुंज का कंद।
तेजपुंज की सेज पर दादू बनेउ वसंत।।

यहाँ पर सुंदरी, तेजपुंज कंत, सेज और वसंत–ये सब प्रतीक आनन्द के ही वाहक हैं जिनका प्रतीकार्थ क्रमशः आत्मा, परमात्मा, शरीर और सुख का द्योतक है। यही नहीं यहाँ पर किसी प्रकार का पर्दा नहीं रहता, क्योंकि सेज सुख (शरीर के अन्दर) में इसका अभाव है–

पिय से खेलउ प्रेम रस, तउ जिय रेचक होइ।
दादू पावउ सेज सूख, परदा नाहीं कोई ।।

माया मोह का, मैं–तुम का, अन्तर तथा बाह्य का सबका (परदा) मानो लुप्त हो गया। केवल मात्र आनन्द ही रह गया। इस आनन्द का रूप उस समय और भी मुखर हो उठता है जब सुलक्षणी नारी अपने प्रिय के साथ नितप्रति 'हिंडोलना झूलने' का उपक्रम करती है। कबीर ने कहा–

दरिया पारि हिंडोलना, मेल्या कंत मचाइ।
सोई नारी सुलक्षणी, नित प्रति झूलन जाई ।।[2]

इन आध्यात्मिक आनन्द के प्रतीकों के बारे में यह स्पष्ट होता हैं कि अपने ध्येय से कभी विलग नहीं हुये हैं। दाम्पत्य प्रतीकों का ध्येय है – पूर्ण सामंजस्य जनित आनन्द की अनुभूति कराना। संतों के दाम्पत्य संबंध के द्वारा ऐसी ही

---

1. इस्लाम का रहस्य' आर.ए. निकोल्सन पृ० सं० 167
2. कबीर ग्रांथावली पृ० 81–151।

अनुभूति का स्वरूप मुखर होता है। यहीं पर आकर अन्तःकरण चतुष्टय नितान्त निर्मल हो जाते हैं। रस, फाग, सेजसुख और हिंडोलना ये सब आनन्द भाव के पूरक हैं जिनका प्रयोग संतों ने प्रतीक रूप में किया है। कबीर के काव्य में कुछ ऐसी आध्यात्मिक भी प्रतीत होते हैं, कबीर कहते हैं कि–

जब आत्मा रूपी नारी अपने ब्रह्म रूप उसे आध्यात्मिक आनन्द से परिप्लावित कर देती है परन्तु विवाह के समय और उसके पश्चात अनेक ऐसे सम्बन्धों की और अनेक ऐसे क्रियाओं की लौकिक मान्यतायें साथ आती है जिनका पालन करना लौकिक 'वधू' के लिये एक धर्म है। ननद, देवर, जेठ, सास–ससुर आदि ऐसे ही सम्बन्ध हैं और विवाह के समय होने वाली अनेक क्रियायें ही वैवाहिक रीतियाँ हैं कबीर ने इन संबंधों एवं रीतियों का सम्यक् वर्णन आध्यात्मिक विवाह के पूरक अंगों के रूप में ग्रहण किया है। अतः आध्यात्मिक विवाह में वधू और वर क्रमशः जीव और ब्रह्म के प्रतीक ही माने गये है। इन प्रतीकों का महत्व साधनात्मक भी है। वैसे तो इन प्रतीकों का प्रयोग सिद्धों तथा नाथों में प्राप्त होता है, परन्तु जहाँ तक उनके भावानात्मक संदर्भ का प्रश्न है, सन्तों में इनका रूप कहीं अधिक हृदयग्राही है।[1]

जब वधू को अपने पति (ब्रह्म) से प्रेमानुभूति हो जाती है तब उसे यह भौतिक संसार (नैहर) आकर्षित नहीं करता है। उसे तो केवल मात्र 'साई' की नगरी' (ब्रह्म पद) की ही लालसा रहती है। नैहरवा हमा नहिं भावै। साही की नगरी परम अति सुन्दर जहँ कोई जाय न आवै चाँद सूरज जहँ पवन न पनी को संदेश पहुँचावै।[2] वधू के साथ अनेक सांसारिक बंधनों की भी सृष्टि होती है–कबीर का एक पद इसी और संकेत करता है–

'सेजै रहूँ नैन नहीं देखौं, यहि दुख का सो कहूँ हो दयाल'

ईश्वर शरीर के अन्दर ही वर्तमान है (सेज) पर उसके दर्शन नहीं हो पाते हैं, यह कैसी विडम्बना है। लौकिक धरातल में यह प्रसिद्ध भी है कि ननद सास आदि वधू को पति से मिलने में अनेक व्यवधान प्रस्तुत करते हैं। इसी तरह तात्विक अर्थ

---

1. सिद्ध–साहित्य द्वारा–डा० धर्मवीर भारती पृ०–434–35
2. उद्धत–सूफी मत और हिन्दी साहित्य से, पृ०–220

में आत्मा को भी परमात्मा से मिलने के लिये अनेक अड़चनों को पार करना पड़ता है इतने पास रहकर भी उसका दर्शन न प्राप्त कर सकने के भी अनके कारण हैं। जीवात्मा माया (सास) से आवृत है पर गुरू (ससुर) जो कि उसे मार्ग दिखलाता है वह उस गुरू की अत्यन्त प्यारी है। दूसरी ओर असाधु पुरूषों से (जेठ) आत्मा को अत्यन्त भय है, क्योंकि वे उसके मार्ग में अड़चने डालते है। कर्म–इन्द्रियाँ (सखी) और ज्ञान–इन्द्रियाँ (ननद) दोनों के मार्ग में आ जाने से प्रियतम के सत्य साक्षात्कार में बाधा पड़ती है। केवल मात्र जीवन को देवर या साधु पुरूषों की ही अंतिम आशा रह जाती है जिसके द्वारा उसका परम मिलन संभव होता है। इसी से जीवात्मा उसके विरह में जलती है।

दूसरे प्रकार के विवाह–प्रतीक हमें उन स्थलों पर प्राप्त होते हैं जहाँ पर वैवाहिक क्रियाओं एवं वस्तुओं का वर्णन एक संशलिष्ट रूप में प्राप्त होता है। इन प्रतीकों की व्यंजना के आधार पर तात्विक अर्थ का स्पष्टीकरण होता है। विवाह की अनेक क्रियाओं (प्रथाओं) यथा– माड़ों का छाना, सखी सहेलियों का गाना, हाथों पर हल्दी लगाना और भाँवरों का पड़ना–आदि को प्रतीक रूप में प्रयुक्त किया गया है। जीव और ब्रह्म के बीच में माया का आवरण है जो जीवन के ब्रह्म साक्षात्कार में व्यवधान उपस्थित करती है। अतः जीव के साथ 'माया' का आना उस समय और भी स्पष्ट हो उठता है जब साई रूप ब्रह्म से उसका साक्षात्कार होने को होता है। अतः माया ब्रह्म की सृजनात्मक शक्ति होने से जीव के साथ लगी रहती है–

साई के संग सासुर आई।
जना चाारि मिलि लगन सोधाये, जना पाँच मिलि माड़ो छाये
सखी सहेलरि मंगल गावै, दुख–सुख माथे हलदि चढ़ावै।
नाना रूप परी मन भांवर, गांठ जोरि भाई पतियाई
भयो विवाह चली बिन दुलह, बात जात समधी समुदाई।
कहै कबीर हम गौने जइबे, जब रे कंथ लै तूर बजइबे।[1]

जिस प्रकार पाणिग्रहण पर बधू को पति और ससुर दोनों मिलते है। उसी प्रकार जीवात्मा को ब्रह्म और माया दोनों का वरदान प्राप्त होता है। उस समय

---

1. बीजक, शब्द 54, पृ० 145

उसके अन्तःकरण चतुष्टय (जना चारि) विषयों की ओर उन्मुख होने लगते हैं और पंचेन्द्रियाँ या तत्व (जना पंचि) मिलकर शरीर का (माड़ो) का रूप धारण करते हैं। पाँच कर्मोन्द्रिय (सखी आदि) इस शुभ अवसर पर प्रकार-प्रकार विषयों की ओर अग्रसर होने लगती है (मंगल गाती हैं) जिसके फलस्वरूप जीवात्मा माया के पाश में बँधने लगती है और अनेक विषय (हल्दी) और सुख-दुखादि उसके पर मँडराने लगते हैं। जब मन विषय, वासना से लिप्त हो गया तब वह अनेक योगियों-साधुओं के कर्मकाण्डों को देखकर भ्रमित होने लगा (नाना रूप पड़ी मन भांवर) और इस प्रकार निदान जीव अंहकार (गांठि) से बुरी तरह आबद्ध हो गया। इस माया के चक्र में फँस जाने के कारण जीवात्मा ने जो ब्रह्म की कुछ अनुभूति प्राप्त की थी, वह भी व्यर्थ हो गयी और वह बिना परमात्मा की अनुभूति प्राप्ति किये ही इस संसार चक्र में फिर फँस गयी (चली बिन दुलहा) और इस अज्ञान के फलस्वरूप गुरू आदि (समधी समुदाई) भी उसका पथ प्रदर्शन न कर सके। तब जीव के लिये केवल मात्र परमधाम (ब्रह्म का) आश्रय रह जाता है। (गौना) और उस दशा में ही पहुंचकर आनन्दानुभूति (तूर) का सत्य स्वरूप मुखर होता है। इस प्रकार यह पूरा संदर्भ ही प्रतीकात्मक हैं जो हमारे सामने तात्विक क्षेत्र की व्यंजना प्रस्तुत करता है।

भावात्मक रहस्यवादी प्रतीकों में जितना दाम्पत्य प्रतीकों का स्थान है उतना ही अन्य संबंध प्रतीकों का है। वेदान्त के अद्वैतवाद का सबसे प्रमुख अंग, प्रतीक दर्शन की दृष्टि से, विषय और विषयी ब्रह्म, जीव और जगत की एकता का प्रतिपादन है। अतः वेदान्त दर्शन में 'सत्य' को समझाने के लिये प्रतीकात्मक शैली का ही आशय लिया गया है। इस दृष्टि से सन्तों ने अपने काव्य में अद्वैत भाव प्रदर्शित करने के लिये प्रतीकात्मक शैली का ही आशय लिया गया हैं

कबीर के अपने काव्य में अद्वैत भाव प्रदर्शित करने के लिये अनेक उपनिषदों के प्रतीकों को ग्रहण किया है जिनमें प्रमुख संबंध निम्न हैं- जल कुम्भ का उदाहरण, पिंड ब्रह्मांड का उदाहरण, बूंद-समुद्र का उदाहरण। पिंड में ही ब्रह्मांड समाहित है। इसी तथ्य को कबीर ने सूफी प्रभाव के कारण, खलक और खालिक को एक निरपेक्ष तत्व में समाहित दिखाया है-

खालिक खलक खलक मँह खालिक सब घटि रह्यो समाई।[1]

---

1. कबीर-ग्रंथावली, पृ०-83

पिंड वह दृश्यमान जगत हैं जिसमें काल और समय की सीमायें हैं और ब्रह्मांड वह तात्विक जगत है जो काल–समय से परें है–यही अनंत है। अतः असीम और ससीम का पर्यावसान, जहाँ पर और जिस धारणा में होता है, वही परम तत्व है, वही कबीर का हरि है।

इसी ससीम–असीम की सापेक्षता का व्यंजनात्मक रूप एक अन्य संबंध के द्वारा भी व्यक्त किया गया है, वह है जल और कुम्भ का उदाहरण। इस उदाहरणों के प्रतीक के बारे में जहाँ एक ओर आत्मा और परमात्मा का अभेदत्व लक्षित होता है, वही यह विस्तृत अर्थ भी व्यांजित होता है कि ससीम का असीम में तिरोभाव होता है, पर साथ ही ससीम का अस्तित्व भी मान्य है, अधिक से अधिक उसे हम भ्रम या विर्वत ही कह सकते हैं। जहाँ पर कबीर आदि सन्तों ने वेदान्त का अनुसरण करते हुये घड़े के फूट जाने पर उसके भीतर के पानी को बाहर के पानी से मिल जाने का संकेत किया है, वह इन अस्तित्वों का अनादि तत्व (जल) में विलय ही है अथवा आत्मा का परमात्मा में एकात्म भाव का सूचक भी है —

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है, बाहरि–भीतरि पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना, यह तत कहौ गियानी।[1]

जल और कुम्भ की इस प्रतीक योजना के समकक्ष एक अन्य प्रतीक संबंध है– बूंद तथा समुद्र का। बूंद की सीमित सत्ता का समुद्र की विशाल सत्ता में बिलीन हो जाना जीव, जगत, प्रकृति आदि का महत् तत्व 'ब्रह्म' की सत्ता में एकीभूत हो जाने का प्रतीक है–**'बूंद समानी समुद्र में सो कत हेरी जाय'** परन्तु यही नहीं बूंद का समुद्र में समाजाना ही सब कुछ नहीं है पर तथ्य तो यह है कि समुद्र भी बूंद से (ब्रह्मांड पिंडसे) इस प्रकार अभिन्न है कि दोनों का अस्तित्व एक महा अस्तित्व में समाया है–**'समुद समाना बूंद में सो कत हेरया जाय।'**

तर्क और अनूभूति सीमा की परिधि हो अंधकार असीम का साक्षात्कार करती है। कबीर की बानियों में हमें स्थान–स्थान पर इसी 'बेहद के मैदान' की व्यंजना प्राप्त होती है। हद का बेहद में लय हो जाना ही तो कबीर का ध्येय है।

---

1. कबीर–ग्रंथावली, पृ०–130–144

कबीर के काव्य में राम ही ब्रह्म का पर्याय है, वही 'निरंजन ' है और कहीं–कहीं पर वह खसम रूप भी है। तरूवर–वृक्ष प्रतीक के आदि मानवीय इतिहास का रूप रेखा तय करती है कि आदि मानव ने वृक्ष को सृष्टि का प्रजनन का अथवा जीवन का प्रतीक माना है। पुराण एवं धार्मिक साहित्य में वृक्ष तात्विक अर्थ का बोधक प्रतीक बन गया। कबीर ने ब्रह्म को सृष्टि को आदि कारण मानते हुये भी विकास की परम्परा को उस धारण में घुला–मिला दिया है। वृक्ष को कार्य ब्रह्म का प्रतीक मानने में इन दोनों रूपों–आदि कारण एव विकास परम्परा–का जितना सुन्दर कबीर ने इस प्रतीक के द्वारा किया है, वह अद्वितीय है

या विरवा चीन्हे जो कोय, जरा–मरण रहित तन होय
बिरवा एक सकल संसारा, पेड़ एक फूटल तीनि डारा।।

ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर जन्म–मरण का चक्र ही समाप्त हो जाता है। इस वृक्ष की तीन डालें कही गयी हैं जो ब्रह्मा (सृष्टिकर्ता), विष्णु (पालनकर्ता) और शिव (संहारकर्ता) के प्रतीक हैं।

जायसी में प्रेम वर्णन के प्रतीक :– सूफी काव्य में साकी का रूप प्रियतमा का ही प्रतिरूप है। यह सूफी साधक के प्रेम एवं विरह का केन्द्र है। इन प्रेम प्रतीकों के अलावा, सूफी काव्य में मानवेतर जड़ एवं चेतन प्रकृति–दोनों से ऐसी वस्तुयें ग्रहण की गयी हैं, जिन्हें प्रतीक का रूप दिया गया है। इस प्रकार की प्रतीक योजना सूफी काव्य में बहुलता से प्राप्त नहीं होती है। दूसरी ओर वहाँ पर उपमानों का ही प्रयोग अधिक हुआ है। (रूपक, उत्प्रेक्षा आदि)। जो भी थोड़े बहुत प्रतीक प्राप्त होते हैं वे या तो प्रेम भावना के सरल संबंध को व्यंजित करते हैं या किसी भाव विशेष के आधार पर लाक्षणिक अर्थ को प्रकट करते हैं। एक स्थान पर जायसी ने ऐसी ही प्रतीक–योजना प्रस्तुत की है–

चाँद सुरूज दुऔ निरमल, दुऔ संयोग अनुज।
सुरूज चांद सो भूला, चाँद सुरूज के रूप।।[1]

---

1. जायसी ग्रंथावली, रत्नेसन पद्मावती विवाह खण्ड, पृ०–143

यह रत्नसेन और पद्मावती के मिलन का दृश्य है जिसकी व्यंजना के हेतु कवि ने सूर्य तथा चन्द्रमा–दो विपरीत वस्तुओं का एक स्थान पर वर्णन किया है। इस प्रेमी तथा प्रेमिका के अन्योन्य प्रेम–भाव की सुन्दर व्यंजना की है। प्रेम–भाव पर आश्रित इन प्रकृतिक वस्तुओं को प्रतीक का रूप देना और फिर उसे लोकोत्तर अनुभूति का माध्यम बनाना–ये दोनों बात इस उदाहरण से ध्वनित होती है। इसी प्रकार अन्य प्रेम प्रतीकों में सरोवर और हंस, कमल और सूर्य, भंवरा तथा कमल, चक्रवात मिथुन आदि ऐसे कवि रूढ़ियाँ है जो परम्परा से काव्य में चली आ रही हैं। सूफी कवियों ने इन प्रतीकों का भी प्रयोग अपने काव्य में कही–कही किया है जो सुन्दर दीख पड़ा है। अरविन्द जल में रहता है, उसे वहाँ सब प्रकार का सुख भी प्राप्त है, लेकिन क्या वह बिना सूर्य की किरणों के प्रभुल्लित हो पाता है।[1]

इसी प्रकार प्रेमी व्यक्ति संसार के सभी सुखों के रहते हुये भी बिना प्रेम पात्र के उसका सब सुख अधूरा है। चकई के प्रेम की व्यंजना पद्मावती के विरहावस्था को ही अभिव्यक्त करती है

चकई बिछुर पुकारै, कहाँ मिलौ हो नांह।
एक चांद निसि सरग में, दिन दूसर जल मांह ।।[2]

इसी प्रकार अन्य प्रेम प्रतीकों में सरोवर और हंस, कमल और सूर्य, भंवरा तथा कमल, चक्रवाक मिथुन आदि ऐसे कवि रूढ़ियाँ है जो परम्परा से काव्य में चली आ रही हैं। सूफी कवियों ने इन प्रतीकों का भी प्रयोग अपने काव्य में कहीं–कहीं किया है जो सुन्दर दीख पड़ा है। अरविन्द जल में रहता है, उसे वहाँ सब प्रकार का सुख भी प्राप्ति है, लेकिन क्या वह बिना सूर्य की किरणों के प्रफुल्लित हो पता है।[3]

इसी प्रकार प्रेमी व्यक्ति संसार के सभी सुखों के रहते हुये भी बिना प्रेम पात्र के उसका सब सुख अधूरा है। चकई के प्रेम की व्यंजना पद्मावती के विरहावस्था को ही अभिव्यक्त करती है।

---

1. जायसी ग्रंथावली–पद्मावती रत्नसेन विवाह खण्ड, पृ०–143
2. जायसी ग्रंथावली, पृ०–29
3. जायसी ग्रंथावली–पद्मावती रत्नसेन विवाह खण्ड, पृ०–143

चकई बिछुर पुकारै, कहाँ मिलौ हो नांह।
एक चांद निसि सरग में, दिन दूसर जल मांह ।।[1]

इस प्रेम व्यंजना के अन्तराल में चकई और चाँद की एकान्त प्रेम–निरूपण की सुंदर अभिव्यक्ति हुई। दीपक ओर पतंग के प्रेम संबंध का उदाहरण परम्परा से चला रहा है। यहाँ पर पतंग मागमती तथा पद्मावती का समष्टि प्रतीक है। जब वह अपने को चिता की ज्वाला में आहूति बनाने के लिये प्रस्तुत होती है। यहाँ पर प्रेम का बलिदान परक रूप मानो मुखर हो गया है।

दीपक प्रीति–पतंग जेंउ, जनम निबाह करेउ।
नेवछावरि चहुं पास होइ, कंठ लागि जिउं देउ।।[2]

इस प्रकार सूफी कवियों ने भारतीय प्रतीक भाव धारा को भारतीय ढंग से ही ग्रहण कर अपने काव्य में प्रयुक्त किया है।

चूंकि प्रेम की चरम परिणति दाम्पत्य प्रेम में ही स्वीकार की गयी है इसलिये प्रेम–प्रतीक के अन्तर्गत प्रणय पर आधारित भाव भूमि का विशेष महत्व रहा है। जिस प्रकार सन्त काव्य में इन प्रणय प्रतीकों का एक क्रमिक आध्यात्मिक विकास लक्षित होता है। लेकिन इस क्रमिक विकास में सूफी प्रभाव होने के साथ–साथ योग परक क्रियाओं का ही प्रभाव दृष्टिगत होता है। सूफी दाम्पत्य प्रतीकों में पूर्वराग का महत्वपूर्ण स्थान है। यह विरह तत्व उस एकात्मभाव की अर्न्तदृष्टि का आधार प्रस्तुत करता है जिस पर साधक की भावी प्रयत्न अवलम्बित रहता है। विरह को उद्दीप्त करने वाले दो माध्यम सूफी काव्य में बताये गये हैं। वे हैं–स्वप्न दर्शन एवं किसी मानवेतर प्राणी अर्थात शुक इत्यादि के द्वारा प्रिय का रूप वर्णन कर साधक के प्रेम को और अधिक बढ़ा देना। इस विरह का रूप इस प्रकार है जब सुआ (गुरू) रत्नसेन का समाचार पद्मावती को आकार सुनाता है–

'विरह की आगि सूर जरि कांपा।
रातहुँ दिवस जरे ओहि कापा।।'[3]

---

1. जा०ग्र०–पृ०–29
2. जा०ग्र०–पद्मावती–नागमती सती खंड, पृ०–339
3. जा०ग्र०–'पद्मावती सुआ भेंट खंड पृ०–88

जायसी में विरह वर्णन की भावगर्भित व्यजना हुई है इस वृत्ति का सुन्दर रूप उस समय प्राप्त होता है जब विरह को व्याधि और यौवन को पदवी अथवा विरह को चन्द्रकलंक एवं यौवन को उगा हुआ चाँद कहा गया है।[1] रहस्यात्मक प्रतीकवाद की अवस्था में केवल उस परम प्रिय का आभास ही पाता है परन्तु वह इस आभास प्राप्त करने की भूमिका में वह अपने और अपने से परे चराचर प्रकृति के साथ एक सरस तादात्म्य का अनुभव प्राप्त करता है।

इस प्रकार साधक साध्य से मिलने हेतु एक 'प्रयत्न की ओर अग्रसर होता है और इंद का अंह में तदाकार हो जाना ही साधक के प्रयत्नों की भूमिका प्रस्तुत करता है। प्रयत्न के बारे में यह भी बात कही जा सकती है कि यह दोनों अर्थात नायक एवं नायिका दोनों तरफ से होता है। लेकिन सूफी प्रभाव के कारण यह प्रयास सर्वप्रथम पुरूष की ओर से ही होता है। यहाँ जीवात्मा 'परमात्मा' भी जीवात्मा को अंगीकृत करने के लिये प्रयत्नशील रहता है। असीम की धारणा बिना ससीम के संभव नहीं है या इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है–इश्क मिजाजी के बिना 'इश्क–हकीकी' का कोई अर्थ ही नहीं है। इस 'इश्कामिजाजी' (भौतिक) की परिधि को जब तक लाँघा नही जाता है तब तक इश्क हकीकी की परमावस्था असम्भव है। इसी भाव की परिणति, नैहर (संसार) में सखियों आदि में साथ अनेक प्रकार की केलि–क्रिड़ाओं के द्वारा सूफियों ने प्रकट की है।

यहाँ पर एक दूसरे ही स्वरूप का दर्शन होता है। नैहर सखी, सासुर आदि का वर्णन जीवात्मा (पुरूष) के साथ होना चाहिये या परन्तु सूफी कवियों ने उसका वर्णन नारी रूप (परमात्मा) के साथ किया है। यह देखा जाता है कि भारतीय और सूफी नारी के प्रतीक के अर्थ में अन्तर हो जाता है। भारतीय रूप में तो वह जीवात्मा का प्रतिनिधत्व करती है लेकिन सूफी पद्धति में वह परमात्मा का प्रतिनिधित्व करती हैं। सूफी काव्य में ये सब संबंध नारी से संबंधित होने के बाद भी संसार एवं इंन्द्रियों के प्रतीक के रूप में ग्रहण किये गये हैं। माया के बन्धन से जब तक जीवात्मा को मुक्ति नहीं मिलती, तब तक वह अपने परमतत्व (साध्य) का

---

1. जा0 ग्र0 पद्मावती वियोग खण्ड – पृ० – 84

साक्षात्कार नहीं कर सकती सभी सखी–सहेलियाँ (इन्द्रियाँ) यही पर रह जायेगी और अंत में आत्मा अकेले ही सासुर–गृह (परमात्मा) की ओर गमन करेगी। इसी भाव का रूप जायसी के इस कथन में देखा जा सकता है–

ए रानी मन देखु विचारी।
एहि नैहर रहना दिन चारी।।
अंतहि सासुर गबनब काली।
कित हम कित यह सरवर पाली।।[1]

सुप्तावस्था एक ऐसी अवस्था है जो जीवात्मा को परमात्मा से अलग कर देती है। इस दशा का सुन्दर वर्णन जायसी ने उस समय किया है जब राजा रत्नसेन सुआसे पद्मावती के रूप–वर्णन को सुनकर अचेत हो जाता है। यह दशा क्रियात्मक रूप में सामने आती है। इसके लिये रत्नसेन जोगी का वेष धारण कर वनों को पार करता हुआ समुद्र को लांघता हुआ अपने गंतव्य स्थल तक पहुंच पाता है। दैवी शक्त्यिँ साधक के संकल्प और एंकनिष्ठता को देखते हुये प्रसन्न होकर उनका सहायक बन जाती है।

प्रेम की अंतिम अवस्था मिलन की अवस्था है जिसमें साध्य में मिल जाता है जायसी में प्रणय भावना एक अभियान का रूप ले लेती है जब रत्नसेन पद्मावती से मिलने के लिये जाता है। यह प्रसंग प्रतीकार्थ की दृष्टि से आत्मा का अपनी समस्त शक्तियों सहित 'परमात्मा से मिलने की इच्छा का सार्वभौमिक रूप है। जायसी ने पद्मावती–रत्नसेन भेंटखण्ड में इस मिलनावस्था का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। इसमें अनेक तरह के भावों का, रति–क्रीड़ा का चित्र प्राप्ति होता है जो आध्यात्मिक प्रेम–उल्लास के प्रतीक माने जा सकते है। प्रेम–मिलन का अंतिम पर्यावसान आनन्द की अनुभूति में ही होता हैं जिसमें साधक परमतत्व से एकात्मभाव स्थापित कर लेता है। यही दशा 'फना' की दशा भी कहलाती है।

प्रेमासक्ति या रूपासक्ति प्रायः एक ही चीज है। जायसी के काव्य में रूप को लोकोत्तर रूप प्रदान किया गया है।

---

1. जा०ग्र०–मानसरोदक खण्ड पृ०–27

जायसी के काव्य में सौन्दर्य के प्रतीकों में पारस रूप सबसे प्रमुख हैं। कवि कहता है कि पारस की चमक समस्त प्रकृति में व्याप्त है।

पारस जोति लिलाटहिं ओटी
दिस्टि जो करें होय तेहि जोती।।[1]

इस सृष्टि व्यापी व्यंजना का रूप उस समय और भी मुखर हो जाता है जब कवि पारस की दीप्ति से सूर्य को भी फीका पड़ जाना कहता है। इसी तरह की व्यंजना उस समय भी दिखाई देती है जब अलाउद्दीन पद्मिनी का दर्शन दर्पण में करता है।

होतहिं दरस परस भा लोना।
धरती सरग भयउ सब सोना ।।[2]

मानो माया और शैतान की सभी कामुक प्रवृत्तियाँ उन्नयन होकर पारस रूप के संस्पर्श से दीप्ति मान हो उठीं। यही नहीं, उसका प्रभाव तो धरती और स्वर्ग दोनों को अपने अन्दर समेटने लगा। इस प्रकार कवि ने 'पारस' रूप के द्वारा एक ऐसी प्रतीक की उद्भावना की है जो उसकी निजी धरोहर है।[3] धनुष एवं वाण–प्रतीकात्मक अर्थ में घनुष और वाण को कामदेव का प्रतीक माना जाता हैं जायसी ने अपने काव्य में भौहों के लिये 'धनुक' रूप ग्रहण करते हुये भी तत्व की ओर इंगित किया है–

उहै धनुक किसिन पहं अहा। उहै धनुक राधे कर गहा।।
ओहि धनुक रावन संहारा। वहै धनुक कंस कह मारा।।[4]

इसी प्रकार वाण (वरूनी) का प्रतीक वर्णन कवि इस प्रकार करता है।

उन वानन्ह अस को जो न मारा।
बैधि रहा सगरौ संसारा।।
गगन नखत जो जाहिं न गने।
वे सब बान ओहि के हने।।[5]

---

1. जा0ग्र0, पद्मावती रूप चर्चा खण्ड, पृ०–242
2. मानसरोदक खण्ड, पृ०–29
3. 'हिन्दी काव्य में प्रतीक योजना' (वीरेन्द्र सिंह), पृ०–241
4. नख–शिख खण्ड पृ०–49
5. जा0ग्र0 नख–शिख खण्ड, पृ०–48

ईरान के सूफी कवि इस संसार के अस्तित्व को बुलबुले का रूपान्तर मानते है।

चंद, चकोर, खंजन प्रतीकों का प्रयोग प्रेम व्यंजना के लिये ही किया गया है। चंद और चकोर का प्रेम जगत प्रसिद्ध है, पर कवि ने इस प्रेम 'भाव के साथ रूप–व्यंजन भी अत्यन्त पटुता से की है। यथा :–

जस–जस हेर फेर चख भोरी।
लरै सरद महँ खंजन जोरी ।।[1]

एक अन्य जगह पर जायसी ने सौन्दर्य प्रतीक का चित्रण इस प्रकार किया है–कि भौंरा काले केशों का प्रतीक है और हंस सफेद बालों का जैसे–जैसे यौवन ढलता जाता है आदमी वृद्ध होता जाता है वैसे–वैसे काले बालों का स्थान पर श्वेत केसों का अधिपत्य होता जाता है। प्रतीक की दृष्टि से यौवनावस्था एवं वृद्धावस्था का सुन्दर उदाहरण है। यहाँ रूढ़िगत प्रयोग के साथ–साथ नवीन प्रयोग भी लक्षित होता हैं। जो हंस के रूप में प्रयुक्त है।

इसके अतिरिक्त जायसी के काव्य में एक ऐसी परम्परा प्राप्त होती हैं जो अन्य अर्थ की व्यंजना करने में सफल है। जिसे समासोक्ति कहते हैं। इस प्रकार के प्रतीकात्मक संदर्भो की योजना में लौकिकता का लोप हो जाता है और व्यंजना तथा लक्षणा से प्राप्त किसी तात्विक अर्थ की निष्पत्ति होती है। जिससे इसमें रहस्य भावना का रूप दृष्टिगत होने लगता है।

सूफी काव्य में सामान्य रूप से स्वप्न तथा दर्पण दर्शन के प्रसंग पूरे प्रतीकात्मक है। प्रतिबिम्ब का दूसरा रूप सौन्दर्य वर्णन में मिलता है जैसा कि संकेत से विदित है कि हृदय रूपी दर्पण पर जब 'प्रिया रूप परमात्मा' का बिम्ब पड़ता है तो उसमें चारों तरफ प्रकाश हो जाता हैं और यही बात विश्व के प्रति भी सत्य है जो उस प्रिय का प्रतिरूप है, उसका प्रतिबिम्ब है, उसकी छाया है।

---

1. जा0ग्र0 पृ० 149

दूसरा रूप उस समय प्राप्ति होता है जब प्रेमिका का 'रूप' दृष्टिगत हो जाता है, उसकी अनुभूति हो जाती है तब यह सम्पूर्ण संसार "उसी" का दर्पण हो जाता है। जायसी ने पद्मावती के रूप की जिसे देखकर जीव का संभ्रमित हो जाना भी दिखाया गया है।

तात्विक समासोक्तियाँ मूलतः भारतीय चिंतन पर आश्रित हैं। सूफी कवियों के सम्मुख 'परमतत्व' की कल्पना एक ज्योति के समान ही दृष्टिगत होती है विकास की दृष्टि से यह 'ज्योति अनुभूति' चेतना के उर्ध्व रूप की परिचायिका है जिसकी व्याप्ति साधक सर्वत्र देखता है।

परमतत्व की अनुभूति सूफियों के अनुसार–प्रेमग्रंथ के द्वारा हो सकती है जहाँ रहस्यभावना किसी स्पष्ट आधार को पा जाती है ओर उसके द्वारा ईश्वर की अनुभूति प्राप्त करती है। इस तथ्य का भाव नागमती के इस कथन में दिखाई देता है–

मै जानेउ तुम्ह मोहीं माही। देखौ तकि तौ हौं सब पाहीं

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्रह्म की अनुभूति किस प्रकार से ज्ञान, अनुभूति एवं भक्ति–भावना (प्रेम) से प्राप्ति हो सकती है। कहा जाता है कि निराशा का नाश ज्ञान के आने से ही हो सकता है जब तक साधक अचेतन की दशा या सुखावस्था की दशा में होता है तब तक वह सत्य ज्ञान के निकट नहीं आ सकता तभी तो जायसी ने जागृतावस्था में ही ईश्वर से (पद्मावती) से मिलन की बात कही है। प्रेम का रंग ही ऐसा है कि उसमें एक बार रंगने वाला निरन्तर उसी में तल्लीन हो जाता है। यहाँ तक कि वह अन्त में समस्त सृष्टि को उसी तल्लीनता में लीन देखता है। रूप सौन्दर्य परक ऐसी समासोक्तियाँ परम तत्व एवं रूप वर्णन के अन्तर्गत ही आती हैं जब परमरूप का प्रकाश विकीर्ण होता है तो उसके सामने अन्य रूप गौण हो जाते हैं या पृष्ठिभूमि मे चले जाते है। यही बात अर्न्तजगत के लिये भी सत्य है। अंतर का अंधकार सत्य प्रकाश से तिरोहित हो जाता है और साधक का 'कविलास मानो प्रकाशित हो जाता है।

जायसी ने पद्मावत के अंत में लिखा है–

तन चितउर मन राजा कीन्हा।
हिय सिंहल बुध पद्मिनी चीन्हा।।
गुरू सुआ जेहि पंथ दिखावा।
बिनु गुरू जगत को निरगुन पावा।।
नागमती यह दुनिया धंधा।
बाँधा सोई न एहि चित बँधा।।
राघव दूत सोइ सेतानू।
माया अलाउद्दीन सुलतानू।।
प्रेमकथा एहि भाँति विचारेहु।
बूझि लेहु जो बूझे पारहु।।[1]

अर्थात तन रूपी चित्तौड़ का मन रूपी रत्नसेन राजा है। हृदय सिंहल है और पद्मिनी प्रज्ञा अथवा ब्रह्म हैं जिसे प्राप्त करने के लिये सुआ रूपी गुरू की आवश्यकता पड़ती है। बिना गुरू के ज्ञान के निराकार ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता। नागमती रूपी दुनिया धंधा मनुष्य को विविध प्रकार से अपने में बांधे रहती है, जो उसे समझ लेता है उसे मुक्ति मिलती है। साधना के मार्ग में अलाउद्दीन रूपी माया और राघव चेतन रूपी शैतान सबसे बड़े अवरोध है। उन्हें हटाकर ही चरम सिद्धि की प्राप्ति की जा सकती है। इस प्रकार यह देखा गया कि सम्पूर्ण कवि एक प्रकार का रूपक या अन्योक्ति बन जाती है। 'पद्मावत की मूल कथा–साधना की कथा हैं। सामान्य कथा नहीं। जिस निराकार भक्ति का मसनवी शैली में जायसी ने प्रतिपादन किया उसकी महानता में किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता।[2]

डा0 सुधीन्द्र ने पद्मावत के बारे मे इस प्रकार कहा है "पद्मावत एक विराट आध्यात्मिक रूपक संकेत अथवा अन्योक्ति है जिसमें लौकिक शारीरिक अथवा बोधगम्य प्रतीक द्वारा अलौकिक अशरीरी और ज्ञानातीत ब्रह्म, जीव और उसके चिरन्तन संबंध अद्वैत की व्यंजना की है।"

---

1. जा0ग्र0–सपा0 शुक्ल, पृ०–309
2. जायसी और उनका पद्मावत–दान वहादुर पाठक, पृ०–180

यहाँ समासोक्ति एवं अन्योक्ति को संक्षिप्त रूप में जान लेना भी आवश्यक समझा गया है जब अप्रस्तुत वर्णन द्वारा किसी प्रस्तुत अर्थ की व्यंजना की जाय। "कवि ने भौतिक भावनाओं पर आध्यात्मिकता का आवरण चढ़ाने के लिये अपनी कथा के अन्त में एक विस्तष्त अन्योक्ति का क्रम देने की चेष्टा की है।"[1] समासोक्ति वहाँ होती है जहाँ प्रस्तुत विषय को उठाकर अप्रस्तुत की झलक दिखाई जाय अर्थात जहाँ प्रस्तुत के द्वारा अप्रस्तुत का बोध कराया जाय। 'पद्मावत' में प्रयुक्त प्रतीक इस प्रकार है–

पद्मावती–बुद्धि, सिंहल–हृदय, चित्तौड़–तन, रत्नसेन–मन, नागमती–दुनिया धंधा, अलाउद्दीन–माया, राघव चेतन–शैतान, सुआ–गुरू का प्रतीक है। चूंकि पद्मावत की प्रेम–कथा अपने मूल रूप में आध्यात्मिक प्रेम–कथा मानी गयी है इसलिये यहाँ पर प्रेम एवं सौन्दर्य प्रतीक वर्णन के साथ–साथ आध्यात्मिक प्रतीक का संक्षिप्त चित्रण भी आवश्यक माना गया है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि प्रतीक योजनाओं का मुख्य उद्देश्य–प्रतीकात्मक समन्वय ही दिखाई देता है। जायसी ने भारतीय पद्वति पर आधारित प्रतीको को ग्रहण किया है तथा सूफी प्रतीकों को भी भारतीय वातावरण के अनुकूल रूपान्तरित करने का प्रयत्न किया। उनके योग परक प्रतीकों में भी भारतीय तत्व दर्शन का रूप दिखाई देता है। जायसी के प्रेम–प्रतिकों में भारतीय प्रणय भावना का स्वरूप व्यंजित होता है। उन्होंने समाज तथा धर्म के लिये भी यह आवश्यक समझा होगा कि प्रतीक का समान्वयात्मक दृष्टिकोण तत्कालीन परिस्थितियों में उत्पन्न संघर्ष, द्वन्द्व को शांत करने में सहयोग दे सकता है।

राम कव्य में प्रतीक वर्णन :– निर्गुण भक्ति काव्य के प्रेम वर्णन के प्रतीकों में देखा गया कि कबीर एवं जायसी आदि कवियों ने निर्गुण रूप पर ही अधिक बल दिया है जबकि राम काव्य धारा एवं कृष्ण काव्य में सगुण रूप की चरम अभिव्यक्ति दिखाई देती है।

---

1. जायसी का पद्मावत ' गोविन्द त्रिगुणायत पृ० 61

सन्तों एवं सूफियों में अपनी प्रेम भावना को साकार रूप देते हुये भी उसे मूलतः निर्गुण ही रख। और जब सगुण काव्य पर दृष्टि डाली जाती है तो उसमें प्रेमा–भक्ति की प्रधानता दिखाई देती है। प्रतीकों का वैसा स्वतंत्र रूप राम काव्य में दिखाई नहीं देता जैसा कि कृष्ण काव्य में। ब्रह्म के अवतारवाद का रूप सगुण काव्य में रहस्यवादी प्रतीक की भावना का विकास करता है। 'लीलातत्व' का प्रतीकात्मक अर्थ तात्विक दृष्टि से ही देखा जाता है । लीला का अर्थ–रस, आनन्द एवं लीला के समन्वित रूप का द्योतक है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो धर्मशास्त्र का उद्देश्य परमात्मा नहीं है, पर उसका उद्देश्य परमात्मा के विविध रूपों के अभिव्यक्तिकरण में है। इसी प्रकार राम काव्य में अवतार भावना में भी राम कथा का प्रतीकार्थ दिखाई देता है।

सगुण भक्ति में लीला का महत्व दो दृष्टियों से दिखाई देता है–एक प्रकट तथा दूसरी अप्रकट लीलाओं से। अप्रकट लीला धरती से परे 'गोलोक' (परमपद) की लीला है जिसक प्रकट प्रसार धरती पर होता है। लीला में आकर ही अक्षर रूप ब्रह्म क्षर रूप में बहुमुखी विकास प्राप्त करता है। फिर वह मानवीय चेतना के विविध अभियानों की ओर अग्रसर होता है। अपने लौकिक एवं दिव्य कार्यो के द्वारा वह एक प्रकार से मानवीय शक्ति की ओर ही संकेत करता है। इस प्रकार ब्रह्म अपने ही विस्तार की लीला से मोहित होता है। इस मत का स्पष्ट रूप मांडुक्योपनिषद में इस प्रकार प्राप्त होता है जो यह इन प्रणादि अनन्त भावों से विकल्पित हो रहा है जिससे कि वह स्वयं ही मोहत हो रहा है।

माया, जीव, संसार आदि का प्रतीक, राम के ब्रह्म रूप का प्रतीक माना गया है। जैसे–संसार को 'भ्रम की टट्टी' कहा गया है। मृगमीरीचिका भी इसी अर्थ में ग्रहण किया गया है। माया को तुलसी ने 'मृगवारि' जेवरी का साँप आदि नामों से पुकारा है। माला में सर्प की अवतारणा की व्यक्ति का भ्रम ही है। इससे पार पाने के लिये केवल आत्मज्ञान एवं प्रभु की कृपा आवश्यक मानी गयी है। तुलसी ने संसार की निस्सारता को 'कदलीतरू' से भी अभिव्यक्त किया है। ऊपर से देखने में कदली अत्यन्त मोहक लगती है लेकिन उसके सार तत्व (गूदा) को प्राप्त करना

अत्यन्त कठिन कार्य है। इसी प्रकार संसार के विषय भोगादि जीव अत्यन्त मोहक दिखाई देते हैं परन्तु वह उस रूप–राशि से अरूप या सारतत्व की अनुभूति नहीं कर पाता है। वही हाल तुलसी ने चातक का भी बताया है जो धूम्र समूल (संसार के विषयादि) को मेघ समझकर हर्षित होता है वहाँ पर न तो उसे शीतलता मिलती है और न ही जल की बूंदे और ऊपर से उसके नेत्रों की हानि भी होती है। इस प्रकार तुलसी ने संसार को भ्रम, मोह, विषय–वासना का ही प्रतीक माना है।

सगुण काव्य में प्रेम–भक्ति का स्वरूप अनेक रूपों में प्राप्त होता हैं। जैसे–दैन्य, बात्सल्य, संख्य एवं माधुर्य। कहीं पर उसमें दास्य भाव की प्रधानता होती है जैसे–राम काव्य में एवं कही पर वह सख्य एवं माधुर्य भाव के द्वारा जैसे कृष्ण काव्य में, तो कही पर दैन्य, वात्सल्य एवं माधुर्य भाव या कान्ता भाव के रूप में जैसे–मीरा में।

राम काव्य में भक्ति का भाव मूलतः सेवक–सेव्य भाव का है। इसी कारण यहाँ पर मर्यादा का अधिक आग्रह हो जाता है। इस तरह की भक्ति में जो भी प्रतीक प्रयुक्त होंगे वे मर्यादित एवं संयत्रित अधिक होंगे। कबीर ने भी अपने दास्य भक्ति में दास्य भाव के प्रतीक की व्यंजना की है। और तुलसी ने भी अपने काव्य में 'राम' का गुलाम माना है और राम को 'साहिब'। 'विनय–पत्रिका' में यह भाव पाया जाता है।

तुलसी के 'रामचरितमानस' में भरत, हनुमान, विभीषण आदि दास्य भाव के प्रतीक माने जा सकते हैं। तुलसी ने इन पात्रों के आदर्शीकरण के द्वारा उन्हें एक प्रकार से आदर्श–प्रतीकों की कोटि में ही रखा है आदर्शीकरण के द्वारा कोई भी 'पात्र' प्रतीक का रूप धारण कर सकता है। इस दृष्टि से राम का चरित्र भी एक प्रतीक है जो आदर्शीकरण की चरम परिणति है।

चातक का प्रतीक :– राम कव्य में प्रेम–भक्ति का स्वरूप दास्य भाव का होने पर भी कवियों में शुद्ध प्रेम की झलक मिलती है। इन परम्परागत प्रतीकों में केवल चातक वृत्तिको छोड़कर किसी अन्य प्रतीकात्मक प्रवृत्ति की स्पष्ट व्यंजना नहीं

मिलती जो चातक वृत्ति के समकक्ष रखी जा सके। अन्य प्रेम प्रसंग का उदाहरण दृष्टव्य है–उदाहरण स्वरूप प्रेम संबंध को व्यक्त करने में मृग रूप का सहारा लिया गया है–जो व्याध की सापेक्षता में इस प्रकार चित्रित किया गया है–

आपु व्याध को रूप धरि, कुहो कुरंगहि राग।
तुलसी जो मृग मन मुरै, परै प्रेम–पट दाग ।।[1]

प्रतीकार्थ की दृष्टि से यह मृग का प्रेम परक आदर्श भक्ति के स्वरूप पर भी प्रकाश डालता है। साधक को अपने साध्य के प्रति मृग जैसी दास्य भावना को रखना चाहिये। तभी वह अपने स्वामी का साक्षातकार कर सकता है। उसके हृदय पर–प्रेम–चिन्ह अंकित कर सकता है। प्रेम–भक्ति भाव को व्यंजित करने वाला सबसे प्रमुख प्रतीक जिसे तुलसी ने अपनी भक्ति को मानो प्रतीक ही बना डाला है–वह है 'चातक'। यह प्रतीक रूढ़ि परम्परा से प्राप्त है। इस प्रतीक के माध्यम से तुलसी ने अपने हृदयगत भावों, संवेदनाओं की एवं अपनी अनन्य भक्ति तथा निरीहता की जितनी सुन्दर व्यंजना प्रस्तुत की है–वह प्रेम एवं भक्ति के क्षेत्र में एक अलग ही महत्व रखती हैं। चातक प्रतीक के द्वारा तुलसी दास में भक्ति भावना का क्रमिक विकास देखा जा सकता है–

प्रथम स्थिति का उदय उस समय होता है जब साधक अपने को चातक का प्रतिनिधिरूप मानने को अग्रसर होता है। यह उद्‌भव इस बात पर आधारित होता है कि प्रेमी भक्त अपने को आराध्य के प्रति परम जिज्ञासा और उसकी महानता को किस सीमा तक अपने हृदय में साकार कर सका है तभी तो कवि ने साधना पथ का अवलोकन करते हुये प्रार्थना की है–

'एक राम घनश्याम हित, चातक तुलसी दास'।[2]

यहाँ धन और चातक के अन्योन्य संबंध से प्रेम भक्ति का उदय होता है। इस अवस्था में साधक (चातक) साध्यतत्व की प्राप्ति करने के लिये प्रस्तुत होता है। इस प्रस्तुतीकरण की आधारशिला का नाम जय है जो साधक की चंचल मनोवृत्तियों

---

1. तुलसी ग्रंथावली,–दोहावली, पृ०–7 108–314
2. तुलसी ग्रंथावली, पृ0–105

को एक बिन्दु की ओर केन्द्रित करती है। अतः नाम– स्मरण का महत्व राम काव्य में जगह–जगह पर दिखाई देता है। इसी 'नाम–जय' को चातक वृत्ति का अपरोक्ष रूप देते हुये तुलसी ने चातक वृत्ति में नाम–तत्व का सुन्दर समाहार इस प्रकार किया है –

राम जपु राम जपु राम जपु बावरे।
घोर भव नीर निधि नाम निज नांवरे।।[1]

आगे भी चातक की दशा की प्रतीकात्मक व्यंजना देखिये –

रटत–रटत रसना लटी, तृषा सूखि गये अंग।
तुलसी चातक प्रेम के, नित नूतन रूचि रंग।।[2]

इस पंक्ति में चातक मठ की उद्‌भावना प्रकट की गयी है जो आराध्य तक पहुंचने का सोपान है। इसे तीन रूपों में देखा जा सकता है। पहला तो यह कि–स्वयं चातक का अपना 'गान' बनाये रखना यानि अपने निजत्व का अनुभव करते रहना जो भक्ति की एक आवष्यक दशा है। दूसरी बात यह है कि अपने आराध्य से माँगने की प्रबल कामना। और यह कामना सांसारिक विषयों से अलग हटकर निष्काम भक्ति प्राप्त करने की याचना मात्र है। अंत में, ईष्वर से प्रेम की एक मात्र अभिलाषा ही साधक का उद्‌देश्य बन जाता है। इन भक्ति के तीनों तत्वों का सुन्दर रूप इन दोहों में देखा जा सकता है–

मान राखिबो, मांगिबो, पिय सो नित नव नेह ।
तुलसी तीनहुँ तब फबै, जो चातक मतु लेहु।।[3]

भक्ति का सबसे आवश्यक अंग चातक वृत्ति की याचना का स्वार्थरहित रूप है। जो केवल एक स्वाति–बूंद के अतिरिक्त कुछ नहीं चाहता–

तुलसी चातक मांगनों एक सबै घन दानि ।
देत जो भूभाजन भरत, लेत जो घूंटक पानि।।[4]

---

1. विनय पत्रिका, पृ0–105 तथा 133
2. तुलसी ग्रंथावली–संपा–शुक्ल, दोहावली, पृ0–105–280
3. तु0 ग्र0, संपा0 शुक्ल, दोहावली, पृ0–106–285
4. वही दोहावली, पृ0–10–287

यही एक घूंट की प्रबल आकांक्षा भक्ति मनोविज्ञान का केन्द्र है। इस भक्ति के द्वारा ही मन आनन्द की अनुभूति प्राप्त करता है एवं सांसारिक बंधनों से मुक्त हो जाता है। कृष्ण भगवान ने गीता में इसे भक्ति–योग कहा है। इस एक घूंट के मधुरपान के लिये चातक क्या नहीं सहता है? इसी एकनिष्ठ प्रेम को 'अलख–प्रीति' कहा गया है। इसी तरह की प्रेम–भक्ति करने से चातक का स्थान, मोर, कोकिल एवं चकोर से भी ऊँचा माना गया है। इसीलिये चातक को तुलसी ने प्रेम–तृष्णा से परिपूर्ण माना है–

तुलसी के मत चातकहि, केवल प्रेम पियास।
पियत स्वाति जल जानि जग, जाचक बारहमास।।[1]

चातक वृत्ति ऐसी ही होती है जो स्वाति–जल बारहो महीने समान रूप चाहती है। यही प्रेमी साधक की निरन्तर नित्य इच्छा है जो चिरन्तन है एवं सदैव नवीन है। इस प्रकार तुलसी ने 'चातक' प्रतीक के द्वारा राम के प्रति अनन्य प्रेम परक भक्ति का निरूपण किया है। भक्ति एवं लीला के लिये सगुण रूप की आवश्यकता होती है तुलसी ने राम के रूप सौन्दर्य और शील से प्रभावित होकर उनकी भक्ति की है। राम के रूप–सौन्दर्य की व्यंजना के लिये अनेक उपमानों का प्रयोग किया है। उपमानों का प्रतीकत्व राम काव्य में उतना नहीं है जितना कि केशव के रामचन्द्रिका में यहाँ पर केशव पर रीतिकालीन प्रभाव दृष्टिगत होता हैं। लेकिन तुलसी ने जिन प्रतीकों का प्रयोग किया वे स्वाभाविक और हृदयग्राही बन पड़े हैं। उदाहरण के रूप में – विवाह के प्रसंग में सीता की माँग में सिंदूर भरते समय तुलसी ने इसे प्रतीकात्मक रूप में इस प्रकार वर्णित किया है–

अरून पराग जलज भरि नीके।
ससिहि भूष अहि लोभ अमी कें।।[2]

यहाँ प्रतीक का सुन्दर भाव देखने लायक है–कमल–राम के करों का प्रतीक है अरून–पराग सिंदूर का प्रतीक है। अहि या सर्प राम की श्याम भुजा का प्रतीक है और चन्द्रमा जिसको अहि (भुजा) लोभवश अमृत की इच्छा से भूषित कर रहा है,

---

1. तुलसी ग्रेथावली, दोहावली, पृ0–203–296
2. मानस–बालकाण्ड, पृ0–162, दो0–324/9

यही एक घूंट की प्रबल आकांक्षा भक्ति मनोविज्ञान का केन्द्र है। इस भक्ति के द्वारा ही मन आनन्द की अनुभूति प्राप्त करता है एवं सांसारिक बंघनों से मुक्त हो जाता है। कृष्ण भगवान ने गीता में इसे भक्ति–योग कहा है। इस एक घूंट के मधुरपान के लिये चातक क्या नहीं सहता है? इसी एकनिष्ठ प्रेम को 'अलख–प्रीति' कहा गया है। इसी तरह की प्रेम–भक्ति करने से चातक का स्थान, मोर, कोकिल एवं चकोर से भी ऊँचा माना गया है। इसीलिये चातक को तुलसी ने प्रेम–तृष्णा से परिपूर्ण माना है–

तुलसी के मत चातकहि, केवल प्रेम पियास।
पियत स्वाति जल जानि जग, जाचक बारहमास।।[1]

चातक वृत्ति ऐसी ही होती है जो स्वाति–जल बारहो महीने समान रूप चाहती है। यही प्रेमी साधक की निरन्तर नित्य इच्छा है जो चिरन्तन है एवं सदैव नवीन है। इस प्रकार तुलसी ने 'चातक' प्रतीक के द्वारा राम के प्रति अनन्य प्रेम परक भक्ति का निरूपण किया है। भक्ति एवं लीला के लिये सगुण रूप की आवश्यकता होती है तुलसी ने राम के रूप सौन्दर्य और शील से प्रभावित होकर उनकी भक्ति की है। राम के रूप–सौन्दर्य की व्यंजना के लिये अनेक उपमानों का प्रयोग किया है। उपमानों का प्रतीकत्व राम काव्य में उतना नहीं है जितना कि केशव के रामचन्द्रिका में यहाँ पर केशव पर रीतिकालीन प्रभाव दृष्टिगत होता हैं। लेकिन तुलसी ने जिन प्रतीकों का प्रयोग किया वे स्वाभाविक और हृदयग्राही बन पड़े हैं। उदाहरण के रूप में – विवाह के प्रसंग में सीता की माँग में सिंदूर भरते समय तुलसी ने इसे प्रतीकात्मक रूप में इस प्रकार वर्णित किया है–

अरून पराग जलज भरि नीके।
ससिहि भूष अहि लोभ अमी कें।।[2]

यहाँ प्रतीक का सुन्दर भाव देखने लायक है–कमल–राम के करों का प्रतीक है अरून–पराग सिंदूर का प्रतीक है। अहि या सर्प राम की श्याम भुजा का प्रतीक है और चन्द्रमा जिसको अहि (भुजा) लोभवश अमृत की इच्छा से भूषित कर रहा है,

---

1. तुलसी ग्रेथावली, दोहावली, पृ0–203–296
2. मानस–बालकाण्ड, पृ0–162, दो0–324/9

सीता के मुख का प्रतीक है। इस प्रकार यहाँ कहा जा सकता है कि राम कथ काव्य में प्रतीकों काव्यात्मक रूप कम एवं तात्विक दृष्टिकोण का प्रभाव अधिक दिखाई देता है चूंकि तुलसी के राम अवतार ग्रहण कर लीला करते हैं। एक पक्ष तो उनका मानवीय रूप है लेकिन दूसरा पक्ष आध्यात्मिक सत्य का उद्घाटन करता हुआ दिखाई देता है। जैसे:–राम–रावण का युद्ध रूप में सात्विक एवं तामसिक वृत्तियों का ही संघर्ष माना जाता है। दूसरी तरफ राम सत्य के प्रतीक एवं रावण असत्य का प्रतीक हैं और जीत सदैव सत्य की होती है। यदि मनुष्य तामासिक वृत्ति को छोड़कर सात्विक वृत्ति की तरफ धीरे–धीरे बढ़े तो एक दिन सात्विक एवं तामासिक का संघर्ष स्वंय ही समाप्त हो जायेगा। यदि ऐसा हो तो उस विश्व का स्वरूप ही कुछ और होगा। जब तक यह संसार है तब तक उनमें सभी प्रवृत्तियाँ कम या अधिक मात्रा में विद्यमान रहेगी। मानव की इन्हीं कुप्रवृत्तियों का परिणाम है कि आज हत्या, आतंकवाद जघन्य अपराध जैसी चीजें हमें दिखाई पड़ती है। तुलसी के काव्य का यही संदेश है कि हम पूर्ण रूप आदर्श को भले ही न प्राप्ति कर सकें लेकिन आदर्श का अनुकरण कर अवश्य ही मानवता की रक्षा कर सकते है।

सूर एवं मीरा में प्रेम वर्णन के प्रतीक :– अपने काव्य में सूर ने प्रेम भाव की चरमपरिणति गोपी भाव तथा राधा भाव में की है। सूर का प्रेम माधुर्य भाव से परिपूर्ण होने के कारण कृष्ण के प्रति उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता हैं और उनकी स्थिति 'कीट–भृंग' के समान परिलक्षित होती है। मीरा में व्यक्तिगत प्रेम साधना के कारण गोपी भाव की चरम अनुभूति प्राप्ति होती है मीरा का सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही मानो इसी गोपी भाव में पूर्ण रूप से लीन हो गया है। अतः मीरा की साधना का प्रतीक यह गोपी भाव ही है। यह गोपी भाव प्रेम–भक्ति की वह परमावस्था है जहाँ नित्य आनन्द का स्त्रोत प्रवाहित होता रहता है। यह आनन्द पर ब्रह्म के प्रति दिव्य प्रेम से अनुप्राणित होने से प्रेम–भक्ति के द्वारा जाना जाता है इसी से मीरा का गोपी भाव और गोपियों का प्रेम भाव–दोनों ही मधुर प्रेम–साधना के रूप है जहाँ रतिपूर्ण प्रेम का उन्नयन मधुर भाव में क्रमशः होता है।

सूर के गोपी–भाव का आलम्बन प्रत्यक्ष है, जबकि मीरा का आलम्बन अप्रत्यक्ष भाव जन्य और अनुभूति परक विरह से कहीं अधिक ओत–प्रोत है। यही कारण है कि मीरा के गोपी भाव में एक विरह विदग्ध साधिका की टीस एवं तड़पन है। मीरा का मुरारी तो उनके ह्रदय में बसा हुआ जिसका वे पल–पल दर्शन करती है। वे कहती है **"श्याम रूप हिरदां बसां, म्हारे ओर न भावां"**[1] उन्होंने श्याम का रूप अपने ह्रदय में बसा लिया है अब कोई दूसरा नहीं भा सकता मीरा कहती है कि–कृष्ण से उनकी प्रीति पुरानी है जनम–जनम की है, पूरब जनम की है–तभी तो मीरा का अपने साँवरिया पर जन्म सिद्ध अधिकार है। मीरा का यह प्रेम भाव गोपी भाव ही है। यह ईश्वर के प्रति तन्मयता एवं एकनिष्ठ प्रेम का ही माधुर्य परक रूप है।

इन संबंध प्रतीकों के द्वारा प्रेम–भक्ति भावना को और तीव्र करने के लिये सूर मीरा आदि सगुण भक्त कवियों ने अपने आत्माभिव्यक्ति की तीव्र व्यंजना को ही व्यंजित किया है। इन प्रतीक संबंधों में अन्योन्याश्रित संबंध दिखाई देता है। फिर भी भक्त और भगवान के बीच भेद संबंध होते हुये भी अभेदत्व की स्थिति दिखाई देती है। सूर ने 'कमल' और 'भौरे' के संबंध के द्वारा भक्ति की इसी भाव भूमि का प्रतीकात्मक निर्देश किया है–

भौंरा भोगी वन भ्रमैं (रे)
भेद न मानै ताप।
सब कुसुमनि मिलि रस करै (पै)
कमल बँधावै आप।।[2]

इस पद का भाव यह है कि जीव सांसारिक विषय वासनाओं में कितना ही लिप्त रहे उसकी मनोवृत्तियाँ अपने साध्य तत्व 'कमल' के आकर्षण से उसकी ओर अवश्य उन्मुख होंगी। अर्थात व्यक्ति की मूल प्रवृत्ति ईश्वर की ओर उन्मुख होने में है। क्योंकि वह ईश्वर का अंश है। सांसारिक मोह में पड़कर वह अपने वास्तविक रूप को भुला देता है। जैसे ही ईश्वर से अपने को अलग नही समझता।

---

1. मीराबाई और उनकी पदावली–देशराज सिंह भाटी पद–54, पृ0–221
2. 'सूरसागर' प्रथम भाग, पृ0–106/325

अतः यहाँ भक्त और भगवान की द्वैत भावना के साथ ही अद्वैत की भी झलक दिखाई देती है। जो भक्ति – भाव के लिये परमावश्यक है। इसी जीव को संबोधित करते हुये (भृंगी) सूरदास ने उसे अद्वय तत्व में ध्यान लगाने की बात कही है–

भृंगी री भजि, श्याम कमल पद
जहाँ नलिनि को बास।[1]

सत्य तो यह है कि भौंरा कमल का प्रेमी है उसके सामने चंपक बन (संसार) की क्या महत्ता है? जैसा कि जाना जाता है कि उच्च लक्ष्य के सामने गौण लक्ष्यों का तिरोभाव एक सामान्य प्रवृत्ति है। जब जीव साध्य के साथ एकाकार होना चाहता है तो उसके सामने संसार के विषय भोग (चंपक) इत्यादि अपने आप ही तुच्छ हो जाते हैं। वे केवल एक घटना मात्र रह जाते हैं। गोपियों की भी यही स्थिति है। जब वे कहती हैं –

सूर भृंग जो कमल के विरही
चंपक वन लागत चित भोरे।[2]

इसी प्रकार सूर ने एक अन्य स्थान पर चकई को संबोधित करते हुये कहा है–

चकई री चलि चरन–सरोवर जहाँ न प्रेम–वियोग ।[3]

इन प्रतीकों का स्वरूप मुख्यतः परम्परागत ही है फिर भी इन प्रतीकों में जो अनुभूतिजन्य एकनिष्ठ भाव की व्यंजना है, वह प्रतीको को एक उच्च भाव भूमि पर प्रतिष्ठित करती है। इन प्रतीकों के द्वारा भक्त कवियों ने जिस प्रेम–मयी भाव भूमि का प्रस्तुतीकरण किया है, उसमें इन प्रतीकों का स्थान मनोवैज्ञानिक अध्यात्मवाद की ओर ही संकेत करता है। सगुण भक्त कवियों ने ऐसी ही प्रेम भक्ति के द्वारा ब्रह्म रूप 'कृष्ण का ज्ञान प्राप्त किया था।

---

1. सूरसागर, पृ०–102/339
2. सूरसागर, पृ०–201/339
3. सूरसागर, पृ०–111/337

सगुण भक्ति कृष्ण काव्य में प्रेम का दूसरा आदर्श चातक–वृत्ति है। तुलसी ने चातक के प्रतीक के माध्यम से राम की लीला का आध्यात्मिक रहस्य उद्घाटित किया था। कृष्णकाव्य में भी चातक वृत्ति का प्रतीक प्राप्त होता है लेकिन उस स्तर का नहीं जिस स्तर का तुलसी में प्राप्त होता है। तुलसी ने अपने काव्य में चातक वृत्ति का प्रयोग एक स्वतंत्र संदर्भ में प्रयुक्त किया था। फिर भी, सूर ने भी चातक वृत्ति की एकनिष्ठ प्रेम–भावना की व्यंजना इस प्रकार की है–

सुनि परिमित पिय प्रेम की (रे) चातक चितव न बारि
धन आक्षा सब दुख सहै, पै अनत न जांचै बारि।[1]

सूर की यह व्यंजना तुलसी की ही तरह है। अपने परमसाध्य (मेघ) की आशा में चातक रूपी प्रेमी–भक्त को चाहे जितने कष्ट सहने पड़े, उसे चाहिये ईश्वर प्रेम रूपी स्वाति बूँद। इसी ईश्वर को पाने के लिये भक्त को चाहे जितने संकट आये, सारे विघ्नों को सहते हुये वह ईश्वर को पा लेना चाहता है। इसी चातक–वृत्ति की एकनिष्ठ प्रेमाधार की व्यंजना गोपियों ने स्वयं पर आरोपित की है–

सखी री चातक मोहि जियावत।
जैसहि रैनि रटति हौं पिय पिय तैसहिं वह पुनि गावत
अतिहि सुकंठ दाह प्रीतम के, तारू जीभ न लावत"।।[2]

'तारू जीभ न लावत' में मानो चातक की वृत्ति भक्ति के भाव से एकाकार हो गयी है। इसी प्रकार मीरा ने भी अपने विरह की व्यंजना पपिहा के स्वतंत्र प्रयोग के द्वारा अभिव्यक्त किया है। मीरा की यह अभिव्यक्ति प्रतीकात्मक रूप में अधिक हुई है जो उनके मनाभावों को साकार रूप प्रदान करती है।–

पपइया म्हारा कब री बैर चितार्‌या । टेक।।
म्हा सोबूं छी अपणे भवण मां पियु पियु करतापुकारया
दाध्या ऊपर लूण लगायाँ हि बड़ो करवत सार्‌या।।[3]

कृष्ण काव्य में प्रेम भावना को कुछ अन्य प्रतीकों के द्वारा भी व्यक्त किया गया है। **जैसेः– चकई, जल–मीन, दीपक–पतंग और सरिता–तड़ाग।**

---

1. सूरसागर, पृ0–1540 ।3839।
2. सूरसागर, पृ0–1390 ।3334।
3. मीराबाई की पदावली, पृ0–126–83

मीरा ने इन प्रतीक योजनाओं में दीपक और मीन के द्वारा जो प्रेम – भावाभिव्यंजना प्रस्तुत की है, वह भक्त मीरा के आनन्दपूर्ण प्रेम विरह की भावना से लबालब है। उदाहरण इस प्रकार है–

नागर नंद कुमार लाग्यो थारो नेह ।। टेक
पाणी पीर णा जाणई, मीन तलफि तज्यो देह।
दीपक जाण्या पीर णा, पतंग जल्या जल खेह।
मीरा रे प्रभु सांवरे रे, थे बिण देह अदेह।।[1]

मीन और पतंग की एकनिष्ठ प्रेम साधना में मानो मीरा की समस्त प्रणय भावना केन्द्रीभूत हो गई है। इसी अनन्य एवं एकनिष्ठ प्रेम भावना को सूरदास ने 'सूरसागर' में दीपक–पतंग और जल–मीन के संबंध द्वारा अभिव्यक्त किया है। गोपियों ने अपने प्रेम और विरह का विस्तार केवल अपने तक ही नही सीमित रखा बल्कि वे प्रेम को सम्पूर्ण चराचर प्रकृति में भी विस्तार देती है। अर्थात वे अपने मनोभावों का प्रभाव प्रकृति पर भी डालना चाहती है और वे कृष्ण के बिना जैसा अनुभव करती हैं वैसा ही प्रकृति में भी देखती है। तभी वे प्राकृतिक घटनाओं को मानवीय क्रियाओं के संदर्भ में देखती है। गोपी–विरह के प्रसंग में सूरदास ने समस्त भ्रमर–गीत को ही मानवीकरण के रूप में चित्रित किया है। वहाँ पर गोपियों के मनोभावों को प्रकृति पर एक प्रतिक्रियात्मक रूप प्राप्त होता है–

मधुवन तुम कत रहत हरे।
विरह–बियोग नंदनंदन के ठाढ़े क्यों न जरे।।[2]

इसी प्रकार गोपियों ने यमुना पर किस तरह अपनी विरहावस्था का आरोप किया है–पर आरोप कर उसे मानवीय क्रियाओं से युक्त दिखाया है।[3] गोपियाँ रात्रि को 'नागिन' के रूप में चित्रित करते हुये कहती हैं–

पियु बिनु नागिन कारी रात।
जौं कहुँ जामिनि उदित जुनैया डसि उलटी है जात।[4]

---

1. मीराबाई की पदावली, पृ0–133 |105 |
2. सूरसागर सार, पृ0–128
3. सूरसागर सार, पृ0–131
4. सूरसागर सार, पृ0–135

गोपियों के प्रेम–विवाह का प्रतीक कालिंदी, यामिनी उनकी मानसिक भावनाओं का ही एक रूप है–

यहाँ प्रेम–प्रतीक का वर्णन करने के बाद साधनागत प्रतीक पर विचार करना आवष्यक है। ऐसे प्रतीकात्मक प्रसंग पर विचार करना आवश्यक है। ऐसे प्रतीकात्मक प्रसंग साधक की उस मनोदशा से संबंधित है जहाँ पर वह भक्ति साधना के मार्ग की कठिनाइयों एवं व्यवधानों से क्रमशः गुजरता है और अन्त में अपने आराध्य से मिलन के आनन्द की अनुभूति प्राप्त करता है। कृष्ण काव्य में साधना के अन्तर्गत कठिनाइयों का एक माधुर्य परक प्रातीकात्मक रूप ही अधिक प्राप्ति होता है। इस दृष्टि से सूरसागर में द्वारका–चरित्र के अन्तर्गत विरह विदग्ध गोपियों के दयनीय वचन एक साधनापरक प्रसंग को प्रतीक रूप में रखते हैं–

हौं कैसे के दरसन पाऊँ।
बाहर भीर बहुत भूपनि की, बूझत बदन दुराऊँ।
भीतर भीर भोग भामिनि की, तिहि हौं काहि पठाऊँ।।[1]

अपने प्रिय का दर्शन प्राप्त करने में अनेक प्रकार के विघ्न आते हैं। इन कठिनाइयों के कारण आराध्य का दर्शन नहीं हो पाता। एक ओर संसार के विषय, भोग आकर्षित करते हैं तो दूसरी ओर हृदय में अनेक भोग–वृत्तियों की अधिकता है जो प्रिय के साक्षात्कार में बाधा उत्पन्न करती है। इस माधुर्य पूर्ण उक्ति में जहाँ एक और प्रेम–साधना के पथ की दुर्बलताओं का संकेत है, वही उस वर्णन में गोपियों की रागानुगा भक्ति भी व्यंजित होती है। इसी प्रेम–मार्ग की साधना का मधुर रूप मीरा की इन पंक्तियों अभिव्यंजित हो उठा है–

जोगिया जी निसि दिन जोऊँ बाट।
पाँव न चालै पंथ दूहेलो, आड़ा औघट घाट।
नगर आय जोगी रम गया रे, मो मन प्रति न पाइ।।[2]

साधना मार्ग अनेक समस्याओं से भरा हुआ है जिसमें अनेक 'औघट घाट हैं। इस 'औघअ घाट' के द्वारा मीरा ने उन समस्त बाधाओं का केन्दीकरण कर दिया है

---

1. सूरसागर सार, पृ0–195
2. मीराबाई की पदावली, पृ0–115 |44 |

जो भक्तिमार्ग की कठिनाइयों का प्रतीक है। इन बाधाओं के द्वारा अज्ञान का उदय हो जाने से जोगी संसार में (नगर) आकर भी मीरा के ह्रदय में स्थान न पा सका। इसका कारण था मीरा के ह्रदय में 'प्रेम' का वह सबल रूप मुखर न हो सका जो उसके जोगी को कहीं और जाने से रोक पाता। कितना कठिन है उस जोगी को ह्रदय की सीमा में बाँधना जबकि अन्तःकरण 'औघट घाट' और दुहेंलापंथ के कठिनाइयों से ही नहीं छूट सका है।[1]

बाधाओं को प्रतीक रूप देने की चेष्टा मीरा ने कई स्थानों पर की है। सत्य में, राणा का सांप की पिटारी भेजना और मीरा के सामने उन सबका अमृतमय रूप में परिवर्तित हो जाना एक प्रतीकात्मक अर्थ की ओर संकेत करता है। मीरा के सम्मुख जो वस्तुयें आती हैं, वे भक्ति मार्ग की बाधाओं को ही स्पष्ट करती है। लेकिन इन वस्तुओं पर मीरा विजय प्राप्त करती है। यहाँ पर सर्प 'काल' का प्रतीक है और विष सांसारिक विषय वासनाओं कां ये प्रसंग ऐतिहासिक प्रामाणिकता पर कुठाराघात नहीं है, पर उनका अर्थ बिस्तार ही है।[2]

साधना पथ की इस यात्रा का अंत तब होता है जब परम आराध्य से एकात्म अनुभूति प्राप्त करता है। यही एकात्म अनुभूति मिलन के आनन्द की अनुभूति है। इसी आनन्द को व्यक्त करने के लिये कवियों ने प्रतीकों को अपनाया। इस प्रकार के प्रतीकात्मक अर्थ मीरा के काव्य में सुन्दरता से आयोजित हुये हैं। मीरा ने अपने साँवरे को प्राप्त करने का उपक्रम इस प्रकार किया है–

म्हाँ गिरधर रंग राती, सेया म्हां।
पचरंग चोला पहर्‌या सखी म्हां, झिरमिट खेलण जाती।
वां झिरमिट मां मिल्यो सांवरो, देख्या, तण मण रातीं।[3]

यहाँ 'पचरंग चोला ही पंचतत्व से निर्मित शरीर का प्रतीक है। जिसके द्वारा साधिका 'झिरमिट' खेलने जाती हैं यह खेल साधक एवं साध्य का वह स्थल है जहाँ नित्य मिलन की अनुभूति प्राप्त होती है। एकांत 'झिरमिट' में ही सांवरे के दर्शन

---

1. हिन्दी काव्य में प्रतीक वाद का विकास, पृ0–392
2. हिन्दी काव्य में प्रतीक वाद का विकास, पृ0–392
3. मीरा की पदावली, पृ0–107–108 |23|

होते है। 'झिरमिट' मीरा के प्रेम संबंध का एक आध्यात्मिक प्रतीक है। इस मिलन की लालसा में विरहिणी मीरा का 'विरह' क्रमशः आशा और सुख की मिश्रित अभिव्यक्ति के रूप में अनेक प्रतीकों के द्वारा व्यक्त होता है। मीरा का घर ही मानो शरीरगत हृदय है जिसमें उनका 'ओलगिया' आने वाला है जिससे कि उनका विरह ताप, सुख एवं आनन्द में परिणत हो सके। उनके प्राण (मोर) ही मानो आनन्द–वर्षा (मेघ) के अनुभव मात्र से पुलकित हो गये है। प्रेम की चेतना–किरणों (चन्द्र–ज्योत्सना) के हृदय से उनका मन प्रफुल्लित (कमल के समान) हो गया हैं। उनका रोम–रोम प्रेमभाव से परिपूर्ण हो गया है, क्योंकि अब तो उनका 'मोहन' उनके हृदय रूपी 'आँगन' में प्रवेश कर चुका है –

म्हारे ओलगिया घर आज्यो जी।
तणरी ताप मिट्यो सुख पार्या, हिलमिल मंगल गाज्यो जी।
घणरी घुण सुण मोर मगण भया, म्हारे आगण आज्यो जी।
चंदा देख कमोदण फूला, हरख भया म्हारे छाज्यो जी।
रूम रूम म्हारो सीतल सतणी, मोहन आंगण आज्यो जी
मीरा विरहण गिरधर नागर, मिल दुख दन्दा छाज्यो जी।[1]

प्राकृतिक व्यापारों एवं मानवेतर प्राणियों के प्रतीकवत' प्रयोग द्वारा मीरा ने अपने प्रिय से मिलन के चित्र व्यंजित किये है। यहाँ आतंरिक जगत का बाहय जगत से एकाकार हो गया है। दादुर, मोर पपीहा आदि का बोलना, उनके हृदयगत भावों एवं प्रवृत्तियों के प्रतिरूप से ज्ञात होते हैं। मिलन का माधुर्य से भरा चित्र जितनी सजीवता से इन प्राकृतिक वस्तुओं के द्वारा अभिव्यंजित हुआ है, वह परोक्ष रूप से, मीरा के हृदय की, उसकी भावनाओं एवं वृत्तियों की एक प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है–

सुण्या जी म्हारे हरि आवांगा आज।
म्हैला चढ़–चढ़ जोवां सजनी अब आवां महाराजा।
दादूर मोर पपीहा बोल्या, कोइल मधुरा साज।
× × ×
मीरा रे प्रभु गिरधर नागर, बेग मिल्यो महाराज।[2]

---

1. मीरा की पदावली, पृ0–138/119
2. मीरा बाई की पदावली, पृ0–144

अपने मिलनानंद की अनुभूति को व्यंजित करने के लिये मीरा ने उपर्युक्त व्यापारों को सबल प्रतीकात्मक रूप दिया है। इनके द्वारा मीरा ने अपने प्रिय साध्य का आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त किया है। मीरा ने 'सावन' की बदरिया' का जो संकेत किया है वह आनन्द की एक आध्यात्मिक वर्षा ही है।

"बरसा रो बदरिया सावण री, सावण री मन भावन री"[1]

इसी प्रकार 'होली' का वर्णन भी आध्यात्मिक प्रतीक है। इसमें लाल रंग अनुराग का प्रतीक है।[2] इस प्रकार देखा गया कि मीरा का मिलन गोपियों के मिलन से भिन्न है। मीरा का मिलन व्यक्तिगत एवं निजी अनुभूति का विषय है परन्तु गोपियों का मिलन एक विरह की अवतारणा ही करता है जो अंत में कृष्ण से द्वारका में मिलती तो हैं पर वे वहाँ पर मिलकर भी पूर्ण रूप से मिल नहीं पाती। गोपियों का यह 'दुखांत' मिलन न तो दुखांत है और न ही सुखांत। वह तो दोनों से ऊपर एक चिरन्तन आध्यात्मिक मिलन है।

निष्कर्ष :– भक्ति काव्य में प्रेमाभिव्यक्ति के विविध रूपों का अध्ययन करने से ज्ञात हुआ कि भक्ति कालीन सभी सन्तों एवं भक्तों का साध्य एक ही है–वह है ईश्वर के प्रति एकनिष्ठ प्रेम। भक्ति कालीन इन सभी कवियों ने परमब्रह्म को अपनी–अपनी दृष्टि से देखा और अनुभव किया। कबीर ने सगुण–निर्गुण से परे प्रभु राम की कल्पना की और उन्हें अपना इष्ट माना। उन्होंने कहा कि ऐसे निर्गुण राम को 'प्रेमभगति' से ही प्राप्त किया जा सकता है। कबीर ने अपनी आत्मा को पत्नी एवं परमतत्व को प्रियतम मानकर प्रेम किया, वहीं जायसी ने परमतत्व को पत्नी एवं आत्मा को पुरुष मानकर प्रेम किया।

सूर ने कृष्ण के साकार रूप को अपना आराध्य माना। सूर की भक्ति में सख्य, वात्सल्य एवं मार्धुय तीनों भावों की अभिव्यंजना हुई है फिर भी इनमें मार्धुय प्रेम की ही प्रधानता है।

---

1. मीराबाई की पदावली, पृ0–144–146
2. मीराबाई की पदावली, पृ0–145

तुलसी के प्रेम के आलम्बन, मर्यादा पुरुषोत्तम राम हैं। राम के प्रति उन्होंने दास्य भाव की भक्ति की है। वहीं मीरा ने कृष्ण के सगुण रुप से प्रेम किया। उनके इस भाव में दाम्पत्य प्रेम की प्रधानता है।

इस प्रकार संत एवं भक्त कवियों ने प्रभु को भिन्न–भिन्न रूपों में चित्रित करके उनसे भिन्न–भिन्न सम्बन्ध स्थापित किये। सूर ने मार्धुय भाव को अपनाया तो तुलसी ने दास्य भाव को। कबीर, जायसी एवं मीरा में दाम्पत्य प्रेम की ही प्रधानता है।

अतः भक्ति काव्य के प्रमुख कवियों की प्रेमाभिव्यक्ति उत्कट रूप में अपनी भावानुभूतियों द्वारा प्रस्फुटित हुई है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. मुरलीधर श्रीवास्तव – मीराबाई का काव्य, प्रकाशन – साहित्य भवन प्रकाशन, इलाहाबाद।

2. परशुराम चतुर्वेदी – मीरा की पदावली, प्रकाशन– हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, इलाहाबाद सं० 1964।

3. डा० राम कुमार वर्मा – कबीर का रहस्यवाद, साहित्य भवन इलाहाबाद, 1957।

4. हजारी प्रसाद द्विवेदी – कबीर, प्रकाशन – राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पटना पहला संस्करण–1990।

5. गोविन्द त्रिगुणायत – कबीर की विचारधारा, साहित्य निकेतन कानपुर, 2009 विक्रम।

6. पुरूषोत्तम लाल श्रीवास्तव – कबीर साहित्य का अध्ययन, साहित्य रत्नमाल कार्यालय बनारस, सं० 2008।

7. डा० वी०एन० फिलिप – मध्ययुगीन हिन्दी भक्ति साहित्य में विरह भावना, संगम प्रकाशन इलाहाबाद।

8. डा० राम कुमार खण्डेलवाल – हिन्दी काव्य में प्रेम भावना, प्रकाशन – कुंज बिहारी लाल पचौरी जवाहर पुस्तकालय मथुरा संस्करण – 1976।

9. डा० देवीशंकर अवस्थी – 18वीं शताब्दी के ब्रजभाषा काव्य में प्रेमाभक्ति, प्रकाशन– अक्षर प्रकाशन प्रा०

लिमिटेड, अंसारी रोड दरियागंज दिल्ली, संस्करण – प्रथम।

10. हजारी प्रसाद द्विवेदी – हिन्दी साहित्य कोश (प्रथम भाग) प्रकाशन– हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग इलाहाबाद, संग्रहालय।

11. डा० नरेन्द्र सिंह फौजहार – सूर की भाव साधना, प्रकाशन–गिरनार प्रकाशन संस्करण – प्रथम।

12. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी – मध्यकालीन धर्म साधना, प्रकाशन–साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड, इलाहाबाद। संस्करण–1992, 1956।

13. डा० डी०के० रामनाथन – मधुर भक्ति साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन, प्रकाशन – ए०टू० जेड, संस्करण – प्रथम।

14. मैनेजर पाण्डेय – भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य, प्रकाशन – वाणी प्रकाशन दरियागंज नई दिल्ली, संस्करण–1993।

15. डा० केसनी प्रसाद चौरसिया – मध्यकालीन हिन्दी सन्त विचार और साधना, प्रकाशन – हिन्दुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद, संस्करण – प्रथम 1965।

16. श्याम मनोहर पाण्डेय – मध्ययुगीन प्रेमाख्यान, प्रकाशन – लोकभारती प्रकाशन महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद, संस्करण–द्वितीय, 1982।

17. डा० भगवान दास तिवारी – मीरा का काव्य, प्रकाशन– साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड जीरो रोड, इलाहाबाद, संस्करण – 1881 –प्रथम, 1990–द्वितीय।

18. डा० रामनारायण शुक्ल – भक्ति काव्य स्वरूप और संवेदना, प्रकाशन–संजय बुक सेन्टर गोलघर, वाराणसी, संस्करण – प्रथम 1986।

19. उदयभानु सिंह – तुलसी, संस्करण–छंठा, 1993 प्रकाशन–राधाकृष्णन प्रकाशन–प्रा० लिमिटेड अंसारी रोड दरियागंज, नई दिल्ली।

20. डा० रघुवंश – जायसी एक दृष्टि, प्रकाशन–लोकभारती प्रकाशन महात्मागांधी मार्ग इलाहाबाद, संस्करण–प्रथम।

21. रामपूजन तिवारी – जायसी, प्रकाशन – राधाकृष्ण प्रकाशन, रूपनगर, नई दिल्ली, संस्करण–1965।

22. दानबहादुर पाठक – जायसी और उनका पद्मावत, प्रकाशन–हिन्दी साहित्य संसार नई दिल्ली, संस्करण – 1959।

23. डा० गोविन्द त्रिगुणायत – जायसी का पद्मावत, प्रकाशन–अशोक प्रकाशन नई सड़क दिल्ली, संस्करण–प्रथम 1963।

24. देशराज सिंह भाटी – जायसी एक विवेचन, प्रकाशन–हिन्दी साहित्य संसार, नई दिल्ली, संस्करण–प्रथम 1962।

25. डा० जयनाथ नलिन — भक्ति काव्य में माधुर्य भाव का स्वरूप, प्रकाशन—बंसल एंड कम्पनी नवीन शाहदरा, दिल्ली।

26. रामनरेश त्रिपाठी — तुलसी और उनका काव्य, प्रकाशन — राजपाल एंड संज कश्मीरी गेट नई दिल्ली, संस्करण — 1953।

27. परशुराम चतुर्वेदी — हिन्दी काव्य धारा में प्रेम—प्रवाह, प्रकाशन— किताब महल इलाहाबाद, संस्करण — 1952।

28. डा० हरिकान्त श्रीवास्तव — भारतीय प्रेमाख्यान काव्य, प्रकाशन—हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय ज्ञानदीप, बनारस सिटी, संस्करण — प्रथम 1955।

29. परशुराम चतुर्वेदी — मध्यकालीन प्रेम साधना, प्रकाशन— राजेन्द्र दत्त वाजपेयी हिन्दी साहित्य प्रेस, इलाहाबाद, संस्करण — प्रथम — 1952।

30. परशुराम चतुर्वेदी — हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास—4 भक्तिकाल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

31. राजनाथ शर्मा — जायसी और उनका पद्मावत, प्रकाशन—राजकिशोर अग्रवाल, विनोद पुस्तक मंदिर हास्पीटल रोड आगरा। संस्करण — प्रथम 1962।

32. डा० धीरेन्द्र वर्मा — हिन्दी साहित्य कोश भाग—1 ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी। संस्करण—संवत् 2015

33. उदयभानु सिंह – तुलसी काव्य मीमांसा, प्रकाशन–राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण – 1966।

34. डा० युगेश्वर – तुलसीदास आज के संदर्भ में, प्रकाशन–अभिव्यक्ति प्रकाशन, संस्करण–प्रथम दिसम्बर, 1968।

35. रतिभानु सिंह नाहर – भक्ति आन्दोलन का अध्ययन, प्रकाशन–किताब महल जीरो रोड, इलाहाबाद, संस्करण–प्रथम।

36. विनय कुमार एम०ए० – तुलसीदास का प्रगीत काव्य, प्रकाशन–ओरियन्टल बुक डिपो नई सड़क, दिल्ली। संस्करण–प्रथम, 1962।

37. इन्द्र नाथ मदान – तुलसीदास–चिन्तन और कला, प्रकाशन–राजपाल एंड संज दिल्ली। सस्करण–प्रथम, 1959।

38. डा० आशा गुप्त – मध्ययुगीन सगुण एवं निर्गुण भक्ति साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन, प्रकाशन–हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग इलाहाबाद संस्करण–प्रथम।

39. चन्द्रबलि पाण्डेय – तुलसीदास, प्रकाशन–नागरी प्रचारिणी सभा काशी संस्करण–2014 वि०।

40. बी०एन० फिलिप – मध्ययुगीन हिन्दी भक्ति साहित्य में विरह भावना, प्रकाशन–संगम प्रकाशन शहराबाद इलाहाबाद, संस्करण–प्रथम, 1976।

41. सत्य नारायण सिंह – तुलसी और उनका काव्य, प्रकाशन – रामलाल पुरी, आत्माराम एंड संन्स कश्मीरी गेट, दिल्ली। संस्करण–1954।

42. डा० सभापति मिश्र – तुलसी का काव्य वैभव, प्रकाशन–नीरज प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण–1989 ई०।

43. ज्ञानचंद जैन – मीरा और उनकी प्रेमावाणी, प्रकाशन–अयोध्या सिंह, हरिसन रोड कलकत्ता, संस्करण–प्रथम 2000।

44. राम प्रकाश – मीरा की काव्य साधना, प्रकाशन–हिन्दी साहित्य संसार दिल्ली, संस्करण–प्रथम 1972।

45. भुवेनश्वर नाथ मिश्र 'माधव' – मीरा की प्रेम साधना, प्रकाशन–राज कमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–चतुर्थ।

46. भगवान दास तिवारी – मीरा की भक्ति और उनकी काव्य साधना का अनुशीलन, प्रकाशन–साहित्य भवन, इलाहाबाद।

47. देशराज सिंह भाटी – मीरा बाई और उनकी पदावली, प्रकाशन–अशोक प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण–प्रथम 1962।

48. डा० वेद प्रकाश शास्त्री – सूर की भक्ति भावना, प्रकाशन–सन्यमार्ग प्रकाशन 16 यू०पी० बग्लो रोड दिल्ली, संस्करण–1984।

49. हरवंश लाल शर्मा – सूर और उनका साहित्य, प्रकाशन–भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़। संस्करण–प्रथम।

50. डा० रमाशंकर तिवारी – सूर का शृंगार वर्णन, प्रकाशन– अनुसंधान प्रकाशन कानपुर, संस्करण–1966।

51. डा० पद्मा अग्रवाल – प्रतीकवाद, प्रकाशन–मनोविज्ञान प्रकाशन वाराणसी, संस्करण–प्रथम 1963।

52. डा० प्रभात – प्रतीक और प्रतीकवादी काव्य मूल्य, प्रकाशन–आर्य बुक डिपो करोल बाग नई दिल्ली, संस्करण प्रथम, फरवरी, 1984।

53. राजनाथ शर्मा – मध्यकालीन कवि और उनका काव्य, प्रकाशन–राजकिशोर अग्रवाल, विनोद पुस्तक मन्दिर हास्टपीटल रोड, आगरा। संस्करण–प्रथम (हिन्दी संग्रहालय प्रयाग)

54. श्री रमाशंकर जेटली – मध्यकाल के पाँच श्रेष्ठ कवि (जायसी, सूर, तुलसी, बिहारी घनानन्द आदि) प्रकाशन–भारत प्रकाशन मंदिर अलीगढ़, हिन्दी संग्रालय प्रयाग।

55. रामचन्द्र बिल्लौरे – जायसी की प्रेम साधना, प्रकाशन–जगदीश भारद्वाज सामयिक प्रकाशन जटवाडा दरियागंज दिल्ली।

56. डा० बच्चन सिंह – रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना, प्रकाशन–वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण–द्वितीय।

57. परशुराम चतुर्वेदी – मीराबाई की पदावली, प्रकाशन – हिन्दी साहित्य सम्मेलन इलाहाबाद, संस्करण – प्रथम।

58. डा० राजेन्द्र मोहन भटनागर — मीराबाई, प्रकाशन—भारतीय ग्रंथ निकेतन दिल्ली संस्करण—प्रथम 1984।

59. आचार्य शुक्ल — जायसी ग्रंथावली, प्रकाशन—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी वाराणसी। संस्करण—2008 वि०

60. दीन दयाल गुप्त — अष्टध्याय और वल्लभ सम्प्रदाय, प्रकाशन—हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग। संस्करण—2004 वि०।

61. डा० विजयेन्द्र स्नातक — राधा वल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य, प्रकाशन—नेशनल पब्लिंशग हाउस, दिल्ली।

62. नाभादास — भक्तमाल, लखनऊ 1913।

63. मुंशीराम शर्मा — भक्ति का विकास, प्रकाशन—चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, संस्करण—प्रथम।

64. उसमान — चित्रावली, प्रकाशन—नगारी प्रचारिणी सभा काशी, संस्करण—1906 ई०।

65. परशुराम चतुर्वेदी — उत्तर भारत की सन्त परम्परा, प्रकाशन—भारती भण्डार प्रयाग, संस्करण—2008 वि०।

66. श्याम सुन्दर दास — कबीर ग्रंथावली, प्रकाशन—ना० प्रचारिणी सभा, काशी संस्करण—2008 वि०।

67. पं० रामचन्द्र शुक्ल — जायसी ग्रंथावली, प्रकाशन—नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संस्करण—प्रथम।

68. प्रो० मुरली धर श्रीवास्तव – मीरा दर्शन, प्रकाशन–हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद संस्करण–प्रथम 1956।

69. मीरास्मृति ग्रंथ – मीरा ग्रंथावली, प्रकाशन–वंगीय हिन्दी परिषद् कलकत्ता। संस्करण–2006 वि०।

70. गोस्वामी तुलसीदास – रामचरित मानस, प्रकाशन – गीता प्रेस गोरखपुर।

71. डा० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव – हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रकाशन – एच०पी० सिन्हा पुस्तक मंदिर इलाहाबाद संस्करण–1965 ई०।

72. डा० मलिक मोहम्मद – वैष्णव भक्ति आन्दोलन, प्रकाशन–राजपाल एंड सन्स, कश्मीरी गेट दिल्ली, संस्करण–प्रथम 1977।

73. बलदेव उपाध्याय – भागवत सम्प्रदाय, प्रकाशन–नागरी प्रचारिणी सभा, काशी संस्करण–प्रथम।

74. डा० पीताम्बर बड़थ्य्वाल – हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, प्रकाशन–पब्लिशिंग हाउस लखनऊ। संस्करण – प्रथम।

75. परशुराम चतुर्वेदी – हिन्दी काव्य में प्रेम प्रवाह, प्रकाशन–किताब महल इलाहाबाद संस्करण – 1952 ई०।

76. श्याम नारायण पाण्डेय – हिन्दी कृष्ण काव्य में माधुर्योपासना, राम प्रकाशन नजीराबाद लखनऊ। संस्करण–प्रथम।

77. परशुराम चतुर्वेदी – प्रकाशन – भारती भण्डार लीडर प्रेस प्रयाग। संस्करण – संवत् 2018 वि०।

78. डा० स्नेहलता श्रीवास्तव – हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा – प्रकाशन – भारत प्रकाशन अलीगढ़, संस्करण – प्रथम।

79. रामचन्द्र वर्मा – मानक हिन्दी कोश खण्ड–1, प्रकाशन – हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, संस्करण–प्रथम।

80. भुवनेश्वर नाथ मिश्र – रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, प्रकाशन–बिहार राष्ट्र भाषा परिषद पटना, संस्करण – प्रथम।

81. विश्वम्भर नाथ उपाध्याय – हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठिभूमि, प्रकाशन– साहित्य रतन भण्डार आगरा, संवत् 2012।

82. डा० मिथिलेश कान्ति – हिन्दी भक्ति श्रृंगार का स्वरूप, प्रकाशन–चैतन्य प्रकाशन मन्दिर। संस्करण–प्रथम।

83. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी – सूर साहित्य, प्रकाशन – नाथूराम प्रेमी, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर लि० चिरगांव बम्बई।

84. बज्रेश्वर वर्मा – सूरदास, प्रकाशन–हिन्दी परिषद् प्रयाग विश्वविद्यालय प्रयाग संस्करण – प्रथम।

85. लेखक – सूरदास – सूरसागर, प्रकाशन – नागरी प्रचारिणी सभा काशी।

86. डा० धीरेन्द्र वर्मा – सूरसागर सार, प्रकाशन –साहित्य भवन लि० इलाहाबाद संस्करण 1966 ई०।

87. राजपति दीक्षित – तुलसी और उनका युग, प्रकाशन – ज्ञानमण्डल लि० – बनारस संस्करण, संवत् 2009।

88. पं० सीताराम चतुर्वेदी – गोस्वामी तुलसीदास, प्रकाशन – चौखम्भा विद्या भवन चौक बनारस, संवत् 2013।

89. रजनीकान्त शास्त्री – मानस मीमांसा, प्रकाशन – साहित्य सरस्वती किताब महल जीरोर रोड, इलाहाबाद।

90. वियोगी हरि – विनय पत्रिका, प्रकाशन – पुस्तक सदन ज्ञानवाणी वाराणसी 1965 ई०।

91. महाबीर सिंह गहलौत – मीरा, भक्ति कार्यालय दारागंज प्रयाग संस्करण – तृतीय।

92. पद्मावती शबनम – मीरा एक अध्ययन, लोकसेवक प्रकाशन – बनारस संस्करण – 2007 वि०।

93. डा० वी०एन० फीलिप – मध्ययुगीन हिन्दी भक्ति साहित्य में विरह भावना, संगम प्रकाशन विवेकानन्द मार्ग इलाहाबाद संस्करण – 1987 ई०।

94. विजयेन्द्र स्नातक – कबीर, प्रकाशन – राधाकृष्ण प्रकाशन अंसारी रोड दरियागंज नई दिल्ली, संस्करण–1985।

95. डा० नगेन्द्र – हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रकाशन – नेशनल पब्लिशिंग हाउस दरियागंज नई दिल्ली – संस्करण – 1985।

96. रामचन्द तिवारी – कबीर मीमांसा, प्रकाशन – लोक भारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग इलाहाबाद। संस्करण – 2000।

97. प्रो० हरेन्द्र प्रताप सिंह – भारतीय दर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसी दास बंग्लोरोड, जवाहर नगर दिल्ली संस्करण – 1993।

98. कल्याण सिंह शेखावत – मीरा ग्रंथावली, प्रकाशन – वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण – प्रथम 2001।

99. बलदेव उपाध्याय – भारतीय दर्शन, शारदा मंदिर, वाराणसी 1935 ई०।

100. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – जायसी ग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी सभा काशी।

101. पीताम्बर बड़थ्थवाल – गोरखबानी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग संस्करण 2003 वि०।

102. परशुराम चतुर्वेदी – कबीर साहित्य की परख, भारती भण्डार प्रयाग संस्करण – 2011 वि०।

103. रामस्वरूप चतुर्वेदी – मीरा की पदावली, संस्करण 2006 वि०

104. अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध – कबीर वचनावली, नागरी प्रचारिणी सभा काशी 2015 वि०।

105. श्याम सुन्दर दास – कबीर ग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी सभा काशी।

106. रामचन्द्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा काशी वि० 2007।

107. रामचन्द्र शुक्ल – सूर भ्रमर गीत सार

108. डा० निर्मला जैन – रस सिद्धान्त और सौन्दर्य शास्त्र

109. डा० रेनाल्ड ए० निकोल्सन – इस्लाम के सूफी साधक

110. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – रस मीमांसा

111. डा० विमल कुमार जैन – सूफी मत और हिन्दी साहित्य

112. जयशंकर प्रसाद – कामायनी, भारती भण्डार प्रयाग, 2000 वि०।

113. वासुदेव शरण अग्रवाल – पद्‌मावत, साहित्य सदन झांसी वि० 2011।

114. डा० दशरथ राज – दक्खिनी हिन्दी का प्रेम गाथा काव्य

115. श्री राम बहोरी शुक्ल – हिन्दी साहित्य का उद्‌भव और विकास
भगीरथ मिश्र

116. गोस्वामी तुलसीदास – रामचरित मानस, गीता प्रेस गोरखपुर छिहत्तरवां संस्करण।

117. प्रो० कृष्णपाल सिंह – कबीर ग्रंथावली, प्रकाशन – अशोक प्रकाशन संस्करण – 1981।

118. डा० योगेन्द्र प्रताप सिंह – श्री रामचरित मानस, सप्तम सोपान उत्तरकाण्ड, लोकभारती प्रकाशन महात्मागांधी मार्ग, इलाहाबाद। द्वितीय संस्करण – 2001

119. इन्द्र पाल सिंह 'इन्द्र' – तुलसी साहित्य और साधना, प्रकाशन – विनोद पुस्तक मंदिर। संस्करण – द्वितीय।

120. हरवंश लाल शर्मा – सूरदास, राधाकृष्ण प्रकाशन अन्सारी रोड दरियागंज नई दिल्ली।

121. महेन्द्र कुमार – हिन्दी काव्य में प्रतीक योजना राधाकृष्णन मूल्यांकन माला।

122. वीरेन्द्र सिंह – हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद का विकास संस्करण – प्रथम

123. चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी (संपा०) – दादू की बानी

124. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (संपा०) – तुलसी ग्रंथावली